Bachelor of Arts (Sanskrit)

बैचलर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत)

प्रथम सेमेस्टर - बी0ए0एस0एल (N)-120

संस्कृत परम्परा एवं संस्कृति

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **बी0ए0एस0एल (N) A -120**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर गिरीश चन्द्र पन्त,
संस्कृत विभागाध्यक्ष, जामिया मिल्लिया
इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर जया तिवारी,
संस्कृत विभागाध्यक्षा, कुमाऊँ विश्वविद्यालय,
नैनीताल

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 देवेश कुमार मिश्र,
एसो0 प्रोफे0, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

श्रीमती प्रज्ञा दुबे,
असि0प्रोफे0-ए.सी. उ0मु0वि0वि0,हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड इकाई संख्या
डॉ0 नीरज कुमार जोशी असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 1** (इकाई 1 से 5) **खण्ड 3** (इकाई 1 से 5) **खण्ड 2** (इकाई 3 एवं 4)
प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	**खण्ड 2** (इकाई 1 एवं 2)

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139
कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
पुस्तक का शीर्षक- संस्कृत परम्परा एवं संस्कृति (बी0ए0एस0एल (N) -120)
प्रकाशन वर्ष : 2023
ISBN No.
मुद्रक:

नोट:- यह पुस्तक छात्र हित में शीघ्रता के कारण, प्रकाशित की गयी है। संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण का प्रकाशन पाठ्यक्रम के पूर्ण लेखन व सम्पादन के पश्चात् किया जायेगा। इसका उपयोग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना अन्यत्र किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) वैदिक साहित्य का परिचय	**पृष्ठ संख्या 01-04**
इकाई-1 वेद-वेदाङ्ग परिचय	05-16
इकाई-2 ऋग्वेद - परिचय एवं समय	17-29
इकाई-3 यजुर्वेद - परिचय एवं समय	30-38
इकाई-4 सामवेद - परिचय एवं समय	39-50
इकाई-5 अथर्ववेद - परिचय एवं समय	51-64
खण्ड- दो (Section-B) संस्कृत साहित्य का परिचय	**पृष्ठ संख्या 65**
इकाई-1 महर्षि वाल्मीकि एवं रामायण का परिचय	66-79
इकाई-2 महर्षि व्यास एवं महाभारत का परिचय	80-93
इकाई-3 प्रमुख कवि परिचय भाग-1 कालिदास, माघ, भारवि, श्रीहर्ष, जयदेव,भवभूति आदि	94-132
इकाई-4 प्रमुख कवि परिचय भाग-2	133-180
शूद्रक, विशाखदत्त, भर्तृहरि, बाण, सुबन्धु, दण्डी, प. राज जगन्नाथ,	
खण्ड- तीन (Section-C) संस्कार एवं पुरुषार्थ चतुष्टय	**पृष्ठ संख्या 181**
इकाई-1 संस्कार अर्थ एवं स्वरूप	182-187
इकाई-2 संस्कृति महत्त्व एवं विशेषताएं	188-206
इकाई-3 संस्कार विधि एवं महत्त्व (सोलह संस्कारों का निरूपण)	207-221
इकाई-4 मानव जीवन का उद्देश्य : पुरुषार्थ चतुष्टय	222-234
इकाई-5 वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था	235-253

वैदिक साहित्य का परिचय
खण्ड- एक (Section-A)

इकाई-1 वेद-वेदाङ्ग परिचय

इकाई की रुपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 वेद का अर्थ एवं परिचय
    1.3.1 वेद का अर्थ
    1.3.2 वेद का महत्त्व
    1.3.3 वेद का वाचक शब्द
    1.3.4 वेदकाल निर्णय
    1.3.5 वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय
    1.3.6 वैदिक संहिता का परिचय
1.4 वेदाङ्गों का परिचय
    1.4.1 शिक्षा
    1.4.2 कल्प
    1.4.3 व्याकरण
    1.4.4 निरुक्त
    1.4.5 ज्योतिष
    1.4.6 छन्द
1.5 वेदाङ्गों की मौलिकता एवं प्रवचनकर्ता
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 अन्य उपयोगी पुस्तकें
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना:-

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति ही उस समाज का प्रतिनिधित्व करती है। हमारे राष्ट्र की अपनी संस्कृति है जिसे भारतीय-संस्कृति नाम से अभिहित किया जाता है। हमारी संस्कृति जिस भाषा में निबद्ध है वह भाषा संस्कृत भाषा है। विश्व की समस्त भाषाओं में प्राचीनतम तथा अन्य भाषाओं की जननी होने का श्रेय इसी संस्कृत भाषा को है। देववाणी, गीर्वाणवाणी, भारती, सरस्वतीवाणी आदि इसी के पर्यायवाची है। भारतीयसंस्कृति का निखरा रुप संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बद्ध सभी विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इसी भाषा में निबद्ध है। लौकिक सुख और आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अपेक्षित सभी विषयों का सूक्ष्म एवं व्यापक विवेचन संस्कृत-वाङ्मय में ही समाहित है। इन विषयों के व्यापक वर्णन एवं चिन्तन ने विश्वमनीषा को अपनी ओर विशेषरुप से आकृष्ट किया है। संस्कृत-वाङ्मय (साहित्य) का व्यापक विषय जनसाधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो, इस उद्देश्य से विभिन्न भागों में संस्कृत-वाङ्मय के विषय को वर्गीकृत किया गया है यथा- वेद एवं वैदिक संहिताएं, ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग स्मृतियॉ, पुराण, दर्शन, आर्षकाव्य, काव्य, गद्य, रुपक, आधुनिक-संस्कृत-साहित्य, काव्यशास्त्र, तन्त्रागम, नास्तिक दर्शन, धर्मशास्त्र व्याकरण, कोश-खण्ड, ज्योतिष-खण्ड, आयुर्वेद-खण्ड, राजनीतिशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र आदि।

प्रस्तुत खण्ड में 'वेद' से परिचय प्राप्त हो उसके साहित्य की सामान्य जानकारी हो, इस उद्देश्य से वेद के स्वरुप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1.2 उद्देश्य:-

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- वेद के सामान्य अर्थ की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।
- वैदिक संहिता एवं वैदिक साहित्य से परिचित हो जायेंगे।
- वेदाध्ययन के लिए वेदाङ्गाध्ययन की आवश्यकता की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।
- वेदाङ्गों की संख्या एवं परिचय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- वेदाङ्गों के महत्त्व से परिचित हो जायेंगे।
- वैदिक साहित्य में प्रयुक्त शब्दावली की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- वेदांग में निबद्ध विचारों से अवगत हो जायेगें।

1.3 वेद का अर्थ एवं परिचय

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। आर्यों के आचार-विचार, रहन-सहन तथा धर्म कर्म को भली-भॉति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। जिसके अन्तर्गत वेद का अर्थ, वेद के वाचक शब्द, वैदिक संहिता का एवं वैदिक साहित्य का वर्गीकरण है।

1.3.1 वेद का अर्थ

विद् (ज्ञानार्थक) धातु से भाव, कर्म और करण अर्थ में घ´ प्रत्यय के योग से 'वेद' शब्द की निष्पत्ति हुई है। जिसका अर्थ है ज्ञान, ज्ञान का विषय और ज्ञान का साधन। विश्व का प्राचीनतम एवं सर्वप्रथम वाङ्मय जो भारत में प्रणीत हुआ "वेद'' नाम से ही जाना जाता है। वेदभाष्यकार सायणाचार्य के अनुसार **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद:,** अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक उपायों को बताने वाला ग्रन्थ वह वेद है। आचार्य विष्णुमित्र ने 'वेद' शब्द

की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है **'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादि पुरुषार्थाः इति वेदाः'** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ जिसके द्वारा जाने जाय या प्राप्त किये जाय ऐसा ग्रन्थ वेद है अलौकिक विषयों यथा स्वर्ग, ब्रह्म, धर्म आदि के ज्ञान में वेद ही प्रमाण है। तैत्तिरीय संहिता भाष्य-भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है कि- **'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता'।** अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से जिस विषय का ज्ञान नही होता है परोक्ष वह विषय वेद द्वारा ही बोधगम्य होता है।

1.3.2 वेद का महत्त्व

सम्पूर्ण वेद वाङ्मय महत्त्वपूर्ण है प्राचीनकाल से लेकर आज तक वेद वाङ्मय सम्पूर्ण-विश्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रुप से विविध उपदेश देता रहा हैं। वेद आगम प्रमाण हैं समस्त ज्ञान के स्रोत हैं। वेद त्रयी विद्या है जो धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरुपण करती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि धन से परिपूर्ण भूमि दान से जितना फल मिलता है उतना ही फल तीनो वेदों के अध्ययन से मिलता है, वह तो उससे भी बढ़कर अक्षय्य लोक की प्राप्ति कराता है, इसलिए प्रतिदिन स्वाध्याय (वेद का अध्ययन) करना चाहिए- **यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति। भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।(शतपथब्राह्मण ११/५/६/१)** वेद भारतीय-साहित्य के आधार हैं। आर्यों के आचार- व्यवहार का साक्षात्कार वेदोंमेंही प्राप्त होता है। आर्यजाति की प्राचीनतम संस्कृति वेदों में मिलती है। विश्व इतिहास की दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व है। वेदों का भाषा शास्त्रीय महत्त्व भी है। प्राचीन इतिहास अपने सभी रुपों में वेदों में उपलब्ध है।निष्कर्षतः धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आर्थिक, भाषाशास्त्रीय, इतिहास, संस्कृति कला आदि सभी तत्त्वों का समावेश वेदों में निहित है। इसलिए वेद का महत्त्व शाश्वत है।

शिक्षा साहित्य- वैदिक-मन्त्रों के उच्चारण विधि के निर्देशक ग्रन्थ ' शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः शिक्षायें प्राचीन ऋषियों के नाम से सम्बद्ध हैं यथा १-व्यासशिक्षा, २. भरद्वाज शिक्षा, ३ पाणिनीय शिक्षा ये प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ हैं । इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, लोमशी शिक्षा, गौतमी शिक्षा माध्यन्दिनी शिक्षा, केशवी शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा, गलदृकशिक्षा, मनःस्वार शिक्षा का उल्लेख 'शिक्षा संग्रह' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

महत्त्व- वैदिक मन्त्रों के सही उच्चारण के लिए स्वरज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। स्वर तीन प्रकार के हैं- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वेद में स्वरों की प्रमुखता का प्रधान कारण है अर्थनियामकता, अर्थात् शब्द के एक होने पर भी स्वर भेद से उसमें अर्थ भेद हो जाता है। स्वरों के उच्चारण में एक छोटी सी त्रुटि हो जाने से अर्थ का अनर्थ हो जाया करता है। यज्ञ का विधिवत् सम्पादन स्वरों के यथार्थ उच्चारण से ही अभीष्ट फलदायक हो सकता है जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। वह वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाशक होता है- यथा स्वर के अपराध (त्रुटिपूर्ण उच्चारण से) से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान का विनाशक बना।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति।।

अतः शुद्ध मन्त्रोच्चारण के लिए शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। (महाभाष्य /प्रथम आह्निक)

1.3.3 वेद के वाचक शब्द

भारतीय परम्परा में''वेद'' शब्द के पर्याय रुप में अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है यथा-

१. श्रुति- वेद का गुरुपरम्परा से सुनकर ही अध्ययन किया जाता था, इसलिए उसे 'श्रुति' कहते हैं-

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः- (मनु स्मृति २.१०) वेद का अनुश्रव नाम भी श्रुतिमूलक ही है।

२. आम्नाय - वेद का यथावत् अभ्यास करने के कारण वेद के लिए आम्नाय शब्द प्रयुक्त है, त्रयी का अर्थ है तीन का समूह ऋक्, यजुष् और साम तीन प्रकार के मन्त्रों का समूह वेद है इसलिए वेद को त्रयी भी कहा जाता है।

छन्दस्- वेद (ऋक् -यजुष् और सामरुपात्मक) रचनाए नियन्त्रित अर्थ की प्रधानता के कारण छन्दस् कही गयी।

स्वाध्याय- अध्ययन का एकमात्र विषय वेद ही है इसलिए वेद को ' स्वाध्याय' भी कहा गया।

आगम- महाभाष्यकार पतंजलि ने मन्त्रब्राह्मणात्मक षडङ्गसहित कहकर वेद के लिए आगम शब्द प्रयुक्त किया है।

निगम- यास्काचार्य ने उन मन्त्रों को 'निगम' कहा है जो मन्त्र वेदों से निरुक्त में उद्धृत किये गये हैं इस प्रकार इन नामों का प्रयोग वेद के लिए आज भी होता है।

1.3.4 वेद का काल निर्णय

वेदों के रचना-काल की पूर्व सीमा का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है। वेदों केकाल की अन्तिम सीमा की दृष्टि से बुद्ध का काल माना जा सकता है। वेद के रचनाकाल के विषय में प्रचलित प्रमुख मत निम्न हैं-

1. बुद्ध को आधार मानकर प्रो0 मैक्समूलर ने वेद के रचना काल को छन्दोकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल एवं सूत्रकाल चार भागों में विभाजित किया है। इन सबका रचनाकाल-1200 ई0 पू0 से लेकर 400 ई0 पू0 के बीच माना है।
2. लोकमान्यतिलक ने ज्योतिष के आधार पर वेद का रचना काल 6000 से 4000 ई0 पू0 माना है।
3. शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ बाह्मण के अनुसार वेदों का रचनाकाल 3500 ई0 पू0 माना है।
4. याकोबी ने ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वेद का रचनाकाल 4500 वर्ष ई0 पू0 माना है।
5. डॉ0 अविनाश चन्द्रदास ने भूगर्मशास्त्र और भूगोलगत साक्ष्यों के आधार पर ई0 से 2500 वर्ष पूर्व माना जाता है।
6. महर्षिदयानन्द सरस्वती ने सृष्टि के आरम्भ के साथ वेदों का भी आविर्भाव माना है।
7. विण्टर नित्स ने वैदिक काल 2500 ई0 से 500 ई0 पू0 तक माना है।
8. डॉ0 भण्डारकर ने वैदिक रचनाकाल 6000 ई0 पू0 माना है।
9. अमलनरेकर ने ऋग्वेद का रचनाकाल 66,000 से 75000 वर्ष पूर्व माना है।

1.3.5 वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

वैदिक-युग के वाङ्मय को वैदिक-साहित्य भी कहा जाता है। श्री वाचस्पति गैरोला ने मूल संहिताओं को वेद और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों को "वैदिक साहित्य'' के रुप में स्वीकार किया है। श्री वी. वरदाचार्य ने वेदों और उनसे सम्बद्ध सम्पूर्ण साहित्य की गणना "वैदिक-साहित्य'' में ही की है। प्रो0 मैक्समूलर, प्रो0 गौरीशंकर उपाध्याय, श्री सी0 वी0 वैद्य आदि विद्वानों ने वैदिक साहित्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है। निष्कर्षतः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को छःभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

1.संहिताएं

2.ब्राह्मण ग्रन्थ

3.आरण्यक ग्रन्थ

4.उपनिषद् ग्रन्थ

5.वेदाङ्ग

6.अनुक्रमणी-साहित्य

1**. संहिताएं**- ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद- संहिता, सामवेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता।

2.**ब्राह्मण ग्रन्थ**- ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्बन्ध ब्रह्म से है, इसी कारण इन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। ये ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं तथा इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड के माध्यम से वेदमन्त्रों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक वैदिक-संहिता के अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं इनकी संख्या आठ है- ऐतरेय, कौषीतकि(शांखायन), शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्ड्य,(पच्चविंश) षड्विंश, जैमिनीय एवं गोपथ ब्राह्मण) जिनमें शुक्ल यजुर्वेदीय-'शतपथ-'ब्राह्मण' का महत्त्व सबसे अधिक हैं।

3. आरण्यक ग्रन्थ- इनमेंयज्ञों का वर्णन है, जिनका विधि-विधान बहुत सरल है। वानप्रस्थी और मुनि लोग भी सरलता से उन यज्ञों को सम्पादित कर सकते थे। इनमें यज्ञ आदि विधान के साथ ब्रह्म आदि तत्त्वों का विवेचन भी हुआ है, उपलब्धआरण्यक ग्रन्थों की संख्या भी आठ है, यथा-ऐतरेयारण्यक, शाङ्खायन, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, माध्यन्दिन बृहदारण्यक, काण्वबृहदारण्य, जैमिनीयोपनिषद्-आरण्यक (तवल्कार आरण्यक) छान्दोग्य आरण्यक।

4.**उपनिषद्** - उपनिषद् शब्द उप् और नि उपसर्ग पूर्वक सद्धातु से निष्पन्न हुआ है सद् धातु के तीन अर्थ है विशरण अर्थात् नाश होना, गति अर्थात् प्राप्त करना, अवसादन अर्थात् शिथिल होना, जिसका अभिप्राय यह है कि उपनिषद् के अध्ययन से अविद्या का नाश, ब्रह्म की प्राप्ति और सांसारिक दुःख शिथिल होते हैं अतः उपनिषद् का मुख्य अभिप्राय ब्रह्मविद्या प्राप्ति है। उप(निकट) और नि(नीचे) उपसर्ग पूर्वक सद् (बैठना) धातु से क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न उपनिषद् का अर्थ है - गुरु के समीप बैठकर रहस्यज्ञान (ब्रह्मज्ञान) को प्राप्त करना है। 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है, आचार्य शंकर ने जिन 10 उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है वे ही 10 उपनिषद् प्राचीनतम एवं प्रामाणिक हैं- यथा

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तित्तिर:
ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकं दश।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् को मिलाकर उपनिषद् की संख्या 11 मानी गई है।

5. वेदाङ्ग- वेद का मूलपाठ अत्यधिक पवित्र है, उसमें परिवर्तन न हो, उच्चारण शुद्ध बना रहे और वेद मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान हो जाय इसके लिए वेदाङ्ग साहित्य का आविर्भाव हुआ है। वेदाङ्ग में प्रायः सूत्र-शैली को अपनाया गया है। इन्हें 'सूत्रसाहित्य' भी कहा गया है। इनकी संख्या छः है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्।

6. अनुक्रमणी साहित्य- वेदों के शुद्ध स्वरुप की रक्षा के लिए ही अनुक्रमणी साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है। अनुक्रमणीयों में संहिता-विशेष से सम्बन्धित ऋषि, देवता और छन्द आदि की सूचियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। सभी वेदों की अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं। अनुक्रमणी (सूची) बनाने वालों में आचार्य शौनक और आचार्य कात्यायन प्रमुख हैं। अनुक्रमणी ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में रचे गये हैं। कतिपय अनुक्रमणी ग्रन्थोंका नामोल्लेख इस प्रकार है- आर्षानुक्रमणी छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता आदि। अनुक्रमणी ग्रन्थों में बृहद्देवता का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं।

1.3.6 वैदिक-संहिता का संक्षिप्त परिचय

वेद के मूलमन्त्रों का समूह संहिता है। वेद की चार संहिताएं ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता एवं अर्थवेद संहिताएं हैं। ऋग्वेद संहिता में देवताओं की स्तुति-परक मन्त्रों का संग्रह है, जो पद्यात्मक एवं छन्दोबद्ध है। यजुर्वेद-संहिता यज्ञक्रिया की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमेंऋचाओं के साथ-साथ गद्य भी हैं, सामवेद संहिता साम या गान का सङ्कलन है। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रों का समावेश है जिनका गान

सोमयज्ञ के समय अभिप्रेत था। अथर्ववेद संहिता कोअथर्वन् और अङ्गिरस वेद भी कहा जाता है। इसमें 20 काण्ड हैं। बहुत से मन्त्र ऋग्वेद संहिता से लिये गये हैं। इसमें रोग दूर करने, पापशुद्धि, शत्रुविनाश तथा मङ्गलकामना व्यक्त करने वाले मन्त्र हैं।

1.4 वेदाङ्गों का परिचय

वेद के अंग वेदांग हैं। अङ्ग उन्हें कहते हैं जो वस्तु के स्वरुप को जानने में सहायक होते हैं- **'अङ्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि'।** भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से वेद दुर्बोध हैं अतः वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें 'वेदाङ्ग' नाम से अभिहित किया जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष् एवं छन्द ये छः वेदाध्ययन के उपयोगी शास्त्र हैं इसलिए इन्हें वेदाङ्ग कहा गया है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

1.4.1 शिक्षा

षड्विधवेदाङ्गों में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरुष के अङ्गों से तुलना करते हुए शिक्षा वेदाङ्ग को वेदरुपी पुरुष की घ्राणेन्द्रिय (नासिका) कहा गया है 'शिक्षा' घ्राणं तु वेदस्य' (पाणिनीय शिक्षा)। वेदोंके भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेद भाष्यभूमिका' में शिक्षा का अर्थ स्पष्ट किया है- स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा' अर्थात् जो विद्या स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे वह शिक्षा नाम का वेदाङ्ग है। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा को और भी अधिक स्पष्ट किया है 'शिक्षा' व्याख्यास्यामः- वर्णः, स्वरः मात्रा, बलम् साम, सन्तानः, इत्युक्तः शिक्षाध्यायः (१/१) इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा' वेदाङ्ग उच्चारण सम्बन्धी इन छः विषयों-वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान का बोध कराती है।

1.4.2 कल्प

वेदाङ्ग साहित्य में कल्प का दूसरा स्थान है। वेदरुपी पुरुष का हाथ कल्प है **-हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते** (पाणिनीय शिक्षा) वेद विहित कर्मों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र कल्पशास्त्र' है- **कल्पो वेदाविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्** (विष्णुमित्र ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वय वृति पृ0 १3) यागविधान के नियमों को संक्षिप्त तथा व्यवस्थित रुप में व्यवहारिक उपयोग के लिए कल्पसूत्रों का निर्माण वेद की प्रत्येक शाखा के लिए किया गया है। कल्पसूत्र के भेद-कल्पसूत्रों के चार प्रकार हैं-

1.श्रौतसूत्र- इनमें ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित और अग्नि में सम्पद्यमान यज्ञादि अनुष्ठानों का वर्णन है। आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, बोधायन, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, वाराह ,खादिर, बैतान आदि अनेक श्रौतसूत्र हैं।

2.गृह्यसूत्र- इनमें गृह्याग्नि में होने वाले यज्ञों का, उपनयनादि संस्कारों का विस्तार से वर्णन है। इन सूत्रों में पंचमहायज्ञों का विवरण और उनकी विधि विस्तार से दी हुई है। आश्वालायन, शांखायन आपस्तम्ब आदि 12 गृह्य सूत्र उपलब्ध हैं।

3.धर्मसूत्र- इनमें चतुर्वर्णो और चारों आश्रमों के कर्तव्यों विशेषतःराजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है, वसिष्ठ धर्मसूत्र, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेशी और गौतम ये धर्मसूत्र उपलब्ध हैं।

4.शुल्बसूत्र- इसमें वेदि (यज्ञकुण्ड) के निर्माण की रीति का विशेष रुप से प्रतिपादन है तथा आर्यों के प्राचीन ज्यामितिविषयक कल्पनाओं तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से इसका वैज्ञानिक महत्त्व भी है। शुल्ब का अर्थ है "नापने की रस्सी'। शुल्बसूत्रों को भारतीय गणितशास्त्र के प्राचीनतम अवशेष माना जाता है। बोधायन,

आपस्तम्ब मानव, मैत्रायणीय, वाराह, बाधूल, कात्यायन आदि प्रमुख शुल्बसूत्र हैं। इन सूत्रों के अतिरिक्त श्राद्धकल्पसूत्र, पितृकल्पसूत्र नाम से दो उपसूत्र भी मिलते हैं, एक अन्य सूत्र प्रायश्चितसूत्र नाम से भी मिलता हैं। **कल्प वेदाङ्ग का महत्त्व**- बाह्मणों के याज्ञिक विधानों को अति संक्षिप्त रुप में प्रस्तुत करने के कारण कल्पशास्त्र के स्थान में कल्पसूत्र प्रयोग किया जाता है। सूत्रात्मक रुप होने के कारण इसका महत्त्व अधिक है। इन्हें आसानी से स्मरण किया जा सकता है तथा इनके माध्यम से याज्ञिक विधानों को सम्पन्न कराया जा सकता है।

1.4.3 व्याकरण

वेदाङ्ग में व्याकरण का तीसरा स्थान है। इसे वेदपुरुष का मुख कहा जाता है- **मुखं व्याकरणं स्मृतम्** (पाणिनीय शिक्षा) प्रधानं च षट्सु-अङ्गेषु व्याकरणम् कहकर महाभाष्यकार पतंजलि ने वेद के छः अंगो में इसे प्रधान कहा है। व्याकरण के द्वारा वेद और लोक में प्रयुक्त शब्दों की मीमांसा की जाती है- **व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, इति व्याकरणम्।** व्याकरणशास्त्र का सर्वप्रथम संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में वैदिक व्याकरण का सर्वप्रथम विवेचन मिलता है, तत्पश्चात् लौकिक (संस्कृत) व्याकरण का प्रादुर्भाव माना गया है। आचार्य-पाणिनि रचित अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ है। इसी व्याकरण ग्रन्थ में आचार्य कात्यायनी ने वार्तिक तथा आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य' लिखा है। ये तीनों ही व्याकरणशास्त्र के मुनित्रय कहे जाते हैं। व्याकरण का प्रयोजन-आचार्य पतज्जलि ने व्याकरण वेदाङ्ग के पाँच प्रमुख प्रयोजनों का उल्लेख किया है-रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह-रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक) महाभाष्यकार ने १3 अन्य भी प्रयोजन बताये हैं जिनका प्रतीक रुप में निर्देशन किया है- **तेऽसुराः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्ति कुर्वन्तिः। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण इत्यादि (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक)**

मुनित्रय की रचना के बाद आचार्य भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' व्याकरण का उत्कृष्ब् ग्रन्थ है। अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रियानुसार एक नवीन क्रम में निबद्ध करने वाले व्याकरणचार्य श्री रामचन्द्र हैं, 'प्रक्रिया कौमुदी' इनकी रचना है। इसी क्रम का निर्वाह करने वाले वैयाकरणाचार्य भट्टोजिदीक्षित का नाम व्याकरण के इतिहास में नवयुग प्रवर्तक के रुप में है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' , 'शब्द कौस्तुभ' तथा 'प्रौढ़मनोरमा' इनके तीन ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्व हैं। आचार्य नागेशभट्ट की परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर तथा लघुमंजूषा तीन व्याकरण की रचनाएं हैं जो व्याकरण की महनीय निधि हैं। निष्कर्षतः वेदार्थज्ञान के लिए व्याकरण वेदाङ्ग की आवश्यकता है।

1.4.4 निरुक्त

निरुक्त श्रोत्रमुच्यते (पाणिनीय शिक्षा) निरुक्त में वैदिक शब्दसमाम्नाय की व्याख्या की गई है जो निघण्टु के पॉच अध्यायों में संकलित है। निघण्टु वैदिक शब्दकोश है जिसमें 1341 शब्द परिगणित हैं इसके प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहे जाते हैं। चतुर्थ अध्याय को नैगम काण्ड और अन्तिम अध्याय दैवतकाण्ड कहा गया है। आचार्य यास्क द्वारा रचित निरुक्त में निघण्टुगत 230 शब्दों का निर्वचन है। निरुक्त में निर्वचन करने के लिए वर्णागम, वर्ण-विपर्यय वर्ण-विकार, वर्णनाश और धातुओं का अनेक अर्थो में प्रयोग ये पाँच नियम है निरुक्त में मूलतः12 अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रुप में हैं। कुल मिलाकर 14 अध्यायों का विभाजन पादों में हैं। निरुक्त पर दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर और वररुचि की टीकाए उपलब्ध हैं।

निरुक्त का लक्षण-आचार्य सायण ने निरुक्त का लक्षण किया है- 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् अर्थात् अर्थज्ञान के विषय में जहॉ स्वतन्त्ररुप में पदसमूह का कथन किया गया है वह 'निरुक्त' कहलाता है।

महत्त्व- आचार्य यास्क ने निरुक्त और व्याकरण शास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए निरुक्त को व्याकरण का पूरक स्वीकार किया है तथा निरुक्त ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक माना है। आचार्य दुर्गाचार्य के अनुसार व्याकरण और कल्प आदि वेदाङ्गों के लिए अर्थ को जानना आवश्यक है। निरुक्त के द्वारा वैदिक-शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। बिना अर्थ ज्ञान के दोनों ही वेदाङ्ग व्याकरण और कल्प व्यर्थ हैं। अतः वेदाङ्गों में निरुक्त का विशिष्ट महत्त्व है।

1.4.5 ज्योतिषः-

'ज्योतिषामयनं चक्षुः' (पाणिनीय शिक्षा) अर्थात् वेदपुरुष का चक्षु ज्योतिष् वेदाङ्ग को कहा गया है। वैदिक-यज्ञों में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर का सूक्ष्म विधान होता है। कौन से यज्ञ किस तिथि, नक्षत्र, पक्ष आदि शुभमुहूर्त्त में हो उसकी गणना के लिए 'ज्योतिष् वेदाङ्ग' का अतीव महत्त्व है। काल के किसी भी खण्ड को जानने के लिए ज्योतिष् ज्ञान आवश्यक है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' के अनुसार 'यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्' अर्थात् जो व्यक्ति ज्योतिष् को जानता है, वही यज्ञ को भी जानता है।'ज्योतिष् वेदाङ्ग' गणना पर आधारित है इसलिए ज्योतिष् में गणित को मूर्धन्य (श्रेष्ठ) स्थान दिया जाता है। 'ज्योतिष्वेदाङ्ग' का उपलब्ध और प्रतिनिधि ग्रन्थ 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' है इसके दो पाठ (संस्करण) उपलब्ध हैं एक पाठ का सम्बन्ध ऋग्वेद से है इसमें 36 श्लोक हैं। दूसरे पाठ का सम्बन्ध यजुर्वेद से है इसमें 43 श्लोक हैं। इसके रचयिता लगध हैं। ईस्वीपूर्व 1400 वर्ष की यह रचना प्राचीन एवं दुर्बोध है। डॉ थीबों, शंकर बालाकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक और सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वानों ने इस पर भाष्य लिखे हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष्' में गणना का आधार २७ नक्षत्र हैं। इसमें राशियों का कहीं उल्लेख नहीं है। यही ज्योतिष् का आधारभूत ग्रन्थ है।

1.4.6 छन्द

छन्द नामक वेदाङ्ग वेदपुरुष के पैर हैं **'छन्दःपादौ तु वेदस्य'** (पाणिनीय शिक्षा) छन्द वेद को गति प्रदान करते हैं। आचार्ययास्क के अनुसार छद् धातु से निष्पन्न छन्द शब्द आच्छादनार्थक है- छन्दांसि छादनात् (निरुक्त ७.१९) अर्थात् वेद को छादन करने (ढकने) के कारण इन्हें छन्दस् कहा जाता है। सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने 'यदक्षरपरिणामं तच्छन्दः' अर्थात् अक्षरों के परिणाम को छन्द कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक छन्दोमें अक्षरों की गणना होती है, मात्राओं की नहीं। गुरु लघु का नियम इनमें नहीं होता है। इसमें चरणों की संख्या कम से कम एक तथाअधिक से अधिक पॉच होती है। लौकिक छन्दों मेंसदैव चार चरण ही होते हैं। वैदिक छन्दों की मुख्य संख्या ७ (सात) है। वैदिक छन्दों मेंक अक्षर से लेकर 104 अक्षरों तक के छन्दों का विधान आचार्यों ने किया है।

महत्त्व-छन्दों का विवरण मन्त्र संहिताओं में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विनियोग-विधान के विषय में, द्रव्य, देवता और यजमान के प्रयोजनानुरुप विविध छन्दों का विधान है। यथा ब्रह्मवर्चस् के लिए गायत्री छन्द, आयुष्य के लिए उष्णिक् छन्द, स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनुष्टुप् छन्द, श्री प्राप्ति के लिए बृहती छन्द, यज्ञ के लिए पङ्क्ति छन्द, शक्ति सामर्थ्य के लिए त्रिष्टुप् छन्द तथा पशु प्राप्ति के लिए जगती छन्द का विधान किया गया है।

छन्दोविषयक प्राचीन विवरण शांखायन श्रौतसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, सामवेदीय, निदानसूत्र, पिंगलप्रणीत छन्दःसूत्र तथा कात्यायन एवं अन्य आचार्यों के द्वारा प्रणीत छन्दोऽनुक्रमणियों में उपलब्ध हैं। पिङ्गलाचार्य के छन्दःसूत्र में छन्द की सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध है। वैदिक छन्दों के साथ ही इसमें लौकिक छन्दों का भी

विवेचन है। 'छन्दःसूत्रों के आठ अध्यायों में से प्रथम चार अध्यायों में वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। छन्दःसूत्र पर हलायुधभट्टकृत 'मृतसंजीवनी' व्याख्या उपलब्ध है। प्रमुख वैदिक-छन्द ७ (सात) हैं।

1- गायत्री-तीन चरण	8 गुणा 3	=24 अक्षर
2- उष्णिक् तीन चरण	8,8,12	=28 अक्षर
3-अनुष्टुप्-चार चरण	8 गुणा 4	=32 अक्षर
4-बृहती चार चरण	8,8,12,8	=36 अक्षर
5-पंक्ति -पॉच चरण	8 गुणा 5	=40 अक्षर
6-त्रिष्टुप् चार चरण	11 गुणा 4	=44 अक्षर
7-जगती चार चरण	11 गुणा 4	=48 अक्षर

ऋग्वेद में सर्वाधिक त्रिष्टुप् छन्द प्रयुक्त हैं जिनकी संख्या 4253 फिर गायत्री छन्द की संख्या 2467 तत्पश्चात् जगती छन्द की संख्या 1358 है।

वैदिक छन्द में एक या दो अक्षरों की अधिकता अथवा न्यूनता से छन्द में अन्तर नहीं आता। एक अक्षर कम होने से निचृत् एक अधिक होने पर भुरिक्, दो कम होने पर विराट्, दो से अधिक होने पर स्वराट्, विशेषण लगाया जाता है यथा 'गायत्री छन्द' में एक अक्षर कम होने पर 'निचृत् गायत्री' एक अक्षर अधिक होने पर ' भुरिक् गायत्री' छन्द ही रहता है। इसी तरह अन्य छन्दों की स्थिति भी समझी जाती है। सात मुख्य छन्दों के अतिरिक्त सात अतिछन्द भी हैं। जिनमें चार-चार अक्षरों की संख्या बढती रहती है उसी के आधार पर छन्द अनेक हो जाते हैं। यथा जगती में 48 अक्षर होते हैं। चार अक्षर अधिक होने पर अति जगती, 4 और अधिक होने पर शक्वरी इसी तरह 4-4 अक्षरों की अधिकता से अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति अतिधृति छन्द बने हैं जिनमें चार-चार की संख्या अधिक है। इसी प्रकार चार-चार अक्षरों की संख्या बढ़ने से कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति तथा उत्कृति छन्द कहे गये हैं। अन्तिम छन्द उत्कृति में 104 अक्षर होते हैं। निष्कर्षतः छन्द को जाने बिना मन्त्र का शुद्ध पाठ नहीं हो सकता है तथा स्तुतिप्रधान संहिताओं के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की दृष्टि से भी छन्द का महत्त्व है।

1.5 वेदाङ्गों की मौलिकता एवं प्रवचनकर्ता

वेदाङ्गों की आधारभूत सामग्री का पहला स्रोत मन्त्र संहिताऐं हैं जिनमें श्रौतयागों के नाम, वैदिक शब्दों के निर्वचन, भाषा के स्वरुप की संरचना, व्याकरण की मूल अवधारणा, विभिन्न नक्षत्रों और छन्दों के नाम उपलब्ध होते हैं। दूसरा स्रोत ब्राह्मण-साहित्य है जिसमें श्रौतयागों से सम्बद्ध विधि वाक्य आनुष्ठानिक सूक्ष्म विवरण के साथ उपलब्ध हैं। निर्वचनों का विशाल भण्डार ब्राह्मण-साहित्य है। छन्दों की सामग्री तथा किस छन्द का प्रयोग करने से कौन सी कामना पूरी होती है इसका उल्लेख ब्राह्मण-साहित्य में उपलब्ध है। गोपथ ब्राह्मण के पूर्वभाग में धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, विकार, विकारी, मात्राअक्षर, पद, संयोग, प्रयत्न, शिक्षा, वर्ण, कृदन्त, अव्यय आदि व्याकरण के पारिभाषिक शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदाङ्ग विषयक सामग्री उपलब्ध है। छान्दोग्योपनिषद् में व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। महाभारत, बृहन्नारदीय पुराण में वेदाङ्गविषयक सामग्री मिलती है। सूत्र-साहित्य में वेदाङ्ग विषयक समस्त सामग्री को एक साथ संकलित करने हेतु सूत्रग्रन्थों के रुप में बृहद्वाङ्मय का प्रणयन हुआ है।

बोध प्रश्न

1. वेद का अर्थ क्या है ?
2. वैदिक-संहिताएं कितनी हैं ?

3. वैदिक साहित्य को कितने भागों में वर्गीकृत किया गया है ?
4. उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है ?
5. वेदाङ्ग किसे कहते हैं ?
6. शिक्षा की परिभाषा बताइए ?
7. वेदरुपी पुरुष के हाथ, पैर, मुख,नेत्र, नासिका की संज्ञा किसे दी गयी है ?
8. वैदिक छन्द कितने हैं ?
9. वेदाड.ग का क्या महत्त्व है ?
10. कल्प की संख्या कितनी हैं ?
11.ज्योतिष के मुख्य ग्रन्थ का नाम लिखिये

1.6 सारांश

वेद भारतीय ज्ञान विज्ञान, धर्म संस्कृति, साहित्य दर्शन और नैतिक शिक्षा के मूल हैं। ये समग्र साहित्य में प्राचीनतम हैं। वेद में ही भारतीय सामाजिक संरचना की आधारशिला प्रतिष्ठित है। वेद-विषयक सामग्री का विश्व की जनता लाभ उठाये इसीलिए वेद के अङ्ग-वेदाङ्गों की आवश्यकता वेदार्थ बोध के लिए उपयोगी मानी गई है, क्यांकि वेदाङ्ग में वे सहायक-तत्त्व विद्यमान हैं, जिनसे वेदों को समझने और उनके कर्मकाण्ड के सम्पादन में सहायता मिलती है।

वेदमन्त्रों के सम्यक् उच्चारण, वेदार्थ के समुचित परिज्ञान, वेद स्वरुप की अवगति, यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान के निमित्त सम्प्रति छः वेदाङ्गों की उपादेयता है।

शिक्षा वेदाङ्ग मन्त्रों के साधु उच्चारण की शिक्षा देता है, तो कल्प विधियों का विधान बतलाता है- कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र। व्याकरण और निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाते हैं, तथा वेदार्थ पर प्रकाश डालते हैं, ज्योतिष् कर्मानुष्ठान का कालज्ञापक है। विभिन्न यज्ञों में भिन्न भिन्न छन्दोमय मन्त्रों का विनियोग होता है जिसे छन्द वेदाङ्ग से जाना जा सकता है। अतः वेदाङ्ग का महत्त्व वेदाध्येताओं के लिए आवश्यक है क्योंकि वेदार्थ को जानने वाला ब्रह्मलोक की महिमा को प्राप्त करता है यथा- पाणिनीय-शिक्षा में वेदाङ्ग की महत्ता प्रतिपादित है- तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते (पा0शि0)।

1.7 शब्दावली

1- प्राचीनतम- सबसे पुरानी प्राचीनतमप् (प्रत्यय)।
2- संस्कृतवाङ्मय - संस्कृत भाषा मेंनिबद्ध साहित्य।
3- साङ्गोपाङ्ग - अङ्ग और उपाङ्ग सहित।
4- वैदिक संहिता- वेद के मन्त्रों का संग्रह (समूह) मूलपाठ।
5- वेदभाष्यकार - वेदमन्त्रों पर विस्तृत टीका के साथ व्याख्या लिखने वाले।
6- छन्दोबद्ध- छन्द से युक्त।
7- अनुक्रमणी साहित्य - सूची (लिस्ट) जिसमें वेदों के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, सूक्तों, अनुवाकों तथा पद की सूची ,गणना सहित दी गयी है।
8- ऐतरेयारण्यक -ऐतरेय आरण्यक ।
9- जैमिनीयोपनिषद्-जैमिनीय उपनिषद्।
10-तैत्तिरीयोपनिषद् -तैत्तिरीय उपनिषद्।
11-प्रयोजनानुरूप -प्रयोजन के अनुरूप ।
12-आनुष्ठानिक -यज्ञादि अनुष्ठान से सम्बन्धित।

13-पारिभाषिक -परिभाषा सम्बन्धित।

14-सम्प्रति - वर्तमान में।

1.8 बोध प्रश्न के उत्तर

1. वेद का अर्थ ज्ञान है ऐसा ज्ञान जिससे इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण हो।

2. वैदिक-संहिताएं चार है- ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व।

3. वैदिक-साहित्य छः वर्गों में विभक्त हैं।

4. उप (समीप), नि (निष्ठापूर्वक) उपसर्ग सद् धातु (बैठने अर्थ में) से क्विप् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ ब्रह्म ज्ञान के लिए गुरु के समीप निष्ठापूर्वक बैठना है।

5. वेद के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों को वेदाङ्ग कहा गया है।

6. शिक्षा जिसमें स्वर, वर्ण, मात्रा, बल, (प्रयत्न) साम और सन्तान का वर्णन किया गया हो वह शिक्षा है।

7 .वेदरूपी पुरुष के छः अंग -

पाद -छन्द

हस्त - कल्प

घ्राण - शिक्षा

श्रोत्र - निरुक्त

चक्षु - ज्योतिष्

मुख - व्याकरण

वैदिक छन्द- 7 (सात)

गायत्री - 24 अक्षर,

उष्णिक् - 28 अक्षर

अनुष्टुप् - 32 अक्षर

बृहती - 36 अक्षर

पंक्ति - 40 अक्षर

त्रिष्टुप् - 44 अक्षर

जगती - 48 अक्षर

9. वेदमन्त्रों के अध्ययन के लिए।

10. कल्प- 4 हैं।

11. 'वेदाङ् ज्योतिष' है।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहासवेदखण्ड-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

2.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहासवेदाङ्गखण्ड-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

3.वैदिक साहित्य का इतिहास-डॉ0 कर्ण सिंह, साहित्य-भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, सुभाष बाजार मेरठ।

4.संस्कृत साहित्य का इतिहास-डॉ0 उमा शंकर मिश्र।

5.संस्कृत साहित्य का इतिहास-पं0 आचार्य बलदेव उपाध्याय।

1.10 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1.वैदिक साहित्य का इतिहास-श्री गजाननशास्त्री मुसलगॉवकर,पं. राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री, मुसलगॉव चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

2.वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरुप-डॉ0 ओम प्रकाश पाण्डे विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली

3.महाभाष्य प्रथम पस्पशाह्निक-महर्षि पतञ्जलि, विद्या निधि हिन्दी व्याख्या विद्या निधि शोध संस्थान, कुरुक्षेत्र।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.वैदिक साहित्य का परिचय लिखिए।

2. वेदांगों का वर्णन कीजिए।

इकाई.2 ऋग्वेद - परिचय एवं समय

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 ऋग्वेद का परिचय
2.4 ऋग्वेद का समय
  2.4.1 डा. मैक्समूलर के अनुसार
  2.4.2 लोकमान्य के अनुसार
  2.4.3 भूगर्भ सम्बन्धी वैदिक तथ्य के अनुसार
  2.4.4 प्राचीन वर्षारम्भ के अनुसार
2.5 ऋग्वैदिक कालीन धर्म- संस्कृति एवं समाज
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 अन्य उपयोगी पुस्तकें
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

वेद तो वस्तुतः एक ही प्रकार का होता है। परन्तु स्वरूप भेद के कारण तीन प्रकार का बतलाया जाता है- ऋक्, यजुः और साम। अथर्व को इनसे अलग रखा जाता है। वेद हमारी संस्कृति के मूल स्त्रोत है हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुंचाने वाले ग्रंथरत्न है, जिनकी विमल-प्रभा देश तथा काल के दुर्भेद्य अवारण का छिन्न-छिन्न कर आज भी विश्व के अध्यात्म पारखी जौहरियों की आँखों को चकाचौध बनाती है। इन्हीं वेदों में प्रथम स्थान प्राप्त ऋग्वेद जो की वैदिक विद्वानों के अनुसार अन्य सभी के समक्ष प्रस्तुत इकाई द्वारा किया जा रहा है। जिसमें ऋग्वेद के समय निर्धारण में अनेक विद्वानों द्वारा किये गये मतों के विवरण के साथ-साथ ऋग्वेद पर विद्वानों द्वार लिखे गये आख्यानों का अध्ययन एवं तत्कालीन धर्म, समाज एंव संस्कृति पर विचार किया गया है।

कालक्रम से अत्यन्त अतीत काल में निर्मित किसी ग्रन्थ का आशय पिछली पीढ़ियों के लिये समझना एक अतीव दूरूह व्यापार है। यदि प्रचीनता के साथ भावों की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है तो यह समस्याय और भी विषम वन जाती है। वेदों के अर्थानुशीलन, समयानुशीलन के विषय में यह कथन अत्यन्त उपयुक्त ठहरता है। एकतों यें स्वयं किसी धुधंले काल की अतीत ठहरे गंभीरता अपना सिक्का जमा रखा है। यथा संभव इस समस्या को सुलझाने का प्रयास इकाई के द्वारा किया गया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- ऋग्वेद का काल निर्धारण सरलता से करने में समर्थ हो सकेंगे।
- ऋग्वेद के प्रमुख आख्यानों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- तत्कालीन धर्म समाज एवं संस्कृति के विषय में विस्तृत अध्ययन कर सकेंगे।
- ऋग्वैदिक समस्याओं का समाधान आसानी से कर सकेंगे।

2.3 ऋग्वेद का परिचय

ऋग्वेद धार्मिक स्तोत्रों की एक अत्यन्त विशाल राशि है, जिसमें नाना देवाताओं की भिन्न-भिन्न ऋषियों ने बड़े ही सुन्दर तथा भवाभिव्यञ्जक शब्दों में स्तुतियों एवं अपने अभीष्ट की सिद्धि के निर्मित प्रार्थनायें की है। द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक एक ही ऋषियों की प्रार्थनायें संगृहीत हैं। अष्टम मण्डल में अधिकतर मन्त्र कण्व ऋषि सें संबंध हैं, तथा नवम मंडल में (पवमान) सोम के विषय में भिन्न-भिन्न ऋषिकुलों के द्वारा दृष्ट अर्पण मंत्रों का संग्रह है। ऋग्वेदीय देवताओं में तीन देवता अपने वैशिष्टय के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। अग्नि के लिए सबसे अधिक ऋचायें कही गई है। इन्द्र विजयप्रदाता होने के कारण सबसे अधिक ओजस्वी तथा वीर-रसमण्डित मंत्रों के द्वारा संयुक्त है। प्राणिमात्र की हार्दिक भावनाओं को जानने वाला और तदनुसार प्राणियों को दण्ड और पारितोषिक देने वाला वरूण कर्मफलदाता परमेश्वर के रूप में चित्रित किया गया है। इसलिए सर्वोच्च नैतिक भावनाओं से स्निग्ध तथा उदात्ता से मण्डित ऋचायें वरूण के विषय में उपलब्ध होती है। देवियों में उषा का स्थान अग्रगण्य है। कवित्वमण्डित प्रतिभाशाली सौन्दर्यभिव्युक्त ऋचायें उषा देवी के विषय में मिलती है। इनके अतिरिक्त जिन देवताओं की संस्तुति में ऋचायें दृष्ट हुई उनमें प्रधान देवता हैं:- सविता, पूषा, मित्र, विष्णू, रूद्र, मरूत्, पर्जन्य आदि। ऋग्वैदीय ऋचाओं का प्रयोग यज्ञ के अवसर पर होता था और सोमरस की आहुति के समय प्रयुक्त मंत्रों का एकत्र संग्रह नवम मंडल में किया गया है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल अन्य मंडलों की अपेक्षा नूतन तथा अर्वाचीन माना जाता है। इसका प्रधान कारण भाषा तथा विषय को लक्ष्य कर वंशमंडल (गोत्रमंडल) से इनकी विभिन्नता हैः- भाषागत विभिन्नता-ऋग्वेद के

प्राचीनतम भागों में शब्दों में 'रेफ' की ही स्थिति है। भाषाविदों की मान्यता है कि संस्कृत भाषा ज्यो-ज्यों विकसित होती गई त्यों-त्यों रेफ के स्थान लकार का प्रयोग बढ़ता गया है। जल-वाचक 'सलिल' का प्राचीन रूप 'सरिर' गोत्र मंडलों में प्रयुक्त है, परन्तु दशम मण्डल के लकार युक्त शब्द का प्रयोग है। वैयाकरण रूपों के भी स्पष्ट पार्थक्य है। प्राचीन अंश में पुल्लिग अकारान्त शब्दों में प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय अधिकतर 'आ' है (यथा **'दा सुपुर्णा सयुजा सखाया'** ऋग्वेद) परंतु दशम मंडल में उसके स्थान पर 'औ' का भी प्रचलन मिलता है- **'मा वामेती परेती रिशाम सूर्याचन्द्रमसौ घाता''**। प्राचीन अंश में क्रियार्थक क्रिया की सूचना के लिए तबै, से असे, अर्ध्य आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते है। परन्तु दशम मंडल में अधिकतर 'तुम' प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। 'कर्तवै' 'जीवसे' 'अवसे' आदि प्राचीन पदों के स्थान पर अधिकतर कर्तुम् जीवितुम् अवितुम् आदि प्रयोगों का प्राचार्य है। भाषागत विशिष्टता ब्राह्मण गन्थों की भाषा के सामने होने के कारण दशम मंडल इन गन्थों से कालक्रम में प्राचीन नहीं प्रतीत होता है।

छन्दोगत वैशिष्ट्य- प्राचीन अंशों में उपलब्ध छन्दों की अपेक्षा दशम मण्डल के छन्दों में पार्थक्य हैं। प्राचीन काल में वर्णों की संख्या पर ही छन्दों विन्यास में विशेष आग्रह था, परन्तु अब लघुगुरू के उचित विन्यास पर भी सर्वत्र विशेष बल दिया जाने लगा था, जिससे पद्यों के पढ़ने में सुस्वरता तथा लय का आविर्भाव बड़ी रूचिरता के साथ होने लगा। फलतः अब 'अनुष्टुप' ने होकर लौलिक संस्कृत के 'अनुष्टुप' ही के समान बन गया।

छेवगत वैशिष्ट्य- इस मंडल में उल्लिखित देवों में अनेक नवीन तथा अनिर्दिष्टपूर्व तथा प्राचीन देवों के रूप में स्वरूप- परिवर्तन दुष्टिगत होता है। वरूण समस्त जगत के नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् देव के रूप में पूर्व में निदिष्ट हैं, परन्तु अब उनका शासनक्षेत्र सिमट कर केवल जल ही रह जाता है। विश्वनियन्ता के पद से हट कर वे अब जलदेवता के रूप में ही दुष्टिगोचर होते है। मानसिक भवना तथा मानस वृत्तियों के प्रतिनिधि रूप से नवीन देव कल्पित किये गये है। ऐसे देवों में श्रद्धा मनु आदि का उल्लेख किया जा सकता है। तार्क्ष्य की भी स्तुति देवता के रूप में यहां उपलब्ध होती है। श्रद्धा कामायनी का बड़ा बोधक वर्णन एक सूक्त में मिलता है।

श्रद्धायाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।

श्रद्धा से अग्नि का समिन्धन होता है, अर्थात् ज्ञानाग्नि का प्रज्वलन श्रद्धा के द्वारा होता है। हवि का हवन श्रद्धा से होता है। ऐश्वर्य के ऊर्ध्व स्थान पर निवास करने के लिए हम लोग वचन के द्वारा श्रद्धा की स्तुति करते है। गाय की स्तुति में प्रयक्त एक समग्र सूक्त ही वैदिक आर्यों की गोविषयिणी भावना की बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त कर रहा है। एक पूरे सूक्त में आरण्यानी की स्तुति विषय की नवीनता के कारण पर्याप्त रूपेण आकर्षक है। सूक्त में हम 'ज्ञान' की एक महनीय देव के रूप में आर्यों में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसी सूक्त प्रख्यात मंत्र में चारों संहिताओं के द्वारा यज्ञ-कर्म का सम्पादन करने वाले होता, उद्गाता ब्रह्मा तथा अध्वर्यु नामक चार ऋत्विजों का हम स्पष्ट संकेत पाते है।

दार्शनिक तथ्यों का अविष्कार- इस मंडल में अनेक दार्शनिक सूक्तों की उपलब्धि होती है, जो अपनी विचारधारा से आर्यों के तात्विक चिन्तनों के विकास के सूचक हैं तथा उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं। ऐसे सूक्तों के नासदीय सूक्त तथा पुरूषसूक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। पुरूषसुक्त में सर्वेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन है, जो प्रौढ़ विचारधारा का प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान् को दृष्टि में धार्मिक विकास का क्रम इस प्रकार बहुदेववाद-एकदेववाद सर्वेश्वरवाद। प्राचीनतम काल में अनेक देवों की सत्ता में आर्यों का विश्वास था, जो आगे चलकर एकदेव (प्रजापति या हिरण्यगर्भ) के रूप में परिणत होकर सर्वेश्वरवाद पर टिक गया। इस विकास की अंतिम दो कोटिया दशम मंडल में उपलब्ध होती है। फलतः उसका गोत्रमंडल से नूतन होना स्वाभाविक है।

भारतीय दृष्टि में श्रद्धा रखनेवाले विद्वान के सामने तो वेदों के काल निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जैसा हम पहले दिखला चुके हैं उनकी दृष्टि में वेद अनादि है, नित्य हैं, काल से अनवच्छिन्न हैं। वैदिक ऋषिराज मन्त्रों के द्रष्टमात्र माने गये है, रचयिता नहीं, परंतु ऐतिहासिक पद्धति से वेदों की छानबीन करने वाले पश्चात्य वेदज्ञ तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की सम्मति में वेदों के आविर्भाव का प्रश्न एक हल कराने योग्य वस्तु है। बहुत तों इस विषय को सुलझाने में वृद्धि लगायी है, सूक्ष्म तार्किक बुद्धि तथा विपुल साधनों के पर्याप्त प्रमाणों को इक्ठ्ठा किया है। परन्तु उनके सिद्धांतों में शताब्दियों का ही नहीं बल्कि सहस्त्राब्दियों का अन्तर है।

2.4 ऋग्वेद का समय

2.4.1 डा. मैक्समूलर के अनुसार— सबसे पहले प्रोफेसर मैक्समूलर ने 1859 ई. में अपने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' नामक ग्रंथ में वेदों के कालनिर्णय का प्रथम श्लाघनीय प्रयास किया। उनकी मान्य सम्मति में वेदों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद की रचना 1200 विक्रमपूर्व में संपन्न हुई। विक्रम में लगभग पांच सौ पहले बुद्ध ने इस धराधाम को अपने जन्म से पवित्र किया तथा मानवों के कल्याणार्थ एक नवीन धर्म की स्थापना की।

इसी बुद्धधर्म के उदय की आधारषिला पर वैदिककाल के आंरभ का निर्णय सर्वतो-भावेन अवलम्बित है। डॉ. मैक्समूलर ने समग्र वैदिकयुग को चार विभागों में बांटा है। छन्दकाल, मंत्रकाल, ब्राम्हणकाल, तथा सूत्र काल और प्रत्येक युग की विचारधारा के उदय तथा ग्रंथनिर्माण के लिए उन्होंने 200 वर्षों का काल माना जाता है। अतःबुद्ध से प्रथम होने के कारण सूत्रकाल का प्रारंभ 600 विक्रमपूर्व माना गया है। इस काल में श्रौतसूत्रों (कात्यायन, आपस्तम्ब आदि) तथा गृह्यसूत्रों की निर्मिति प्रधानरूपेण अंगीकृत की जाती है। इससे पूर्व का ब्राह्मण काल- जिसमें भिन्न-भिन्न ब्राह्मण-गन्थों की रचना, याज्ञानुष्ठान का विपुलीकरण, उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन आदि संपन्न हुआ। इसके विकास के लिये 800 वि.पू.- 600 वि.पू तक दो सौ सालों का कल उन्होंने माना है। इससे पूर्ववर्ती मंत्रयुग के लिए, जिसमें मंत्री का याग-विधान की दृष्टि से चार विभिन्न संहिताओं में संकलन किया गया, 1000 पूर्व से लेकर 800 वि.पू. का समय स्वीकृत किया गया है। इससे भी पूर्ववर्ती, कल्पना तथा रचना की दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय युगछंद काल -था, जिसमें ऋषियों ने अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर अर्थगौरव से भरे हुए मंत्रों की रचना की थी। मैक्समूलर की दृष्टि से यही मौलिकता का युग था, कमनीय कल्पनाओं का यही काल था जिसके लिए 1200-100 का काल विभाग उन्होंने माना है। ऋग्वेद का यही काल है। अतः बुद्ध के जन्म से पीछे हटते-हटते हम ऋग्वेद की रचना आज से लगभग 3200 वर्ष पूर्व की गई थी।

2.4.2 लोकमान्य तिलक का मत— लोकमान्य की विवेचना के अनुसार यह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। लोकमान्य ने वैदिककाल को चार युगों में विभक्त किया हैः-

(1) अदिति काल (6000-4000 वि.पू.) - इस सुदूर प्राचीनकाल में उपास्य देवताओं के नाम, गुण तथा मुख्य चरित के वर्णन करने वाले निविदों (याग संबंधी विधिवाक्यों) की रचना में गद्य और कुछ पद्य की गई तथा अनुष्ठान के अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था।

(2) मृगशिरा काल (लगभग 4000-2500 वि0 पू0) - आर्यसभ्यता के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली युग यही था जब ऋगवेद के अधिकांश मन्त्रों का निर्माण किया गया । रचना की दृश्टि से यह विशेषत: क्रियाशील था ।

(3) कृत्तिका काल (लगभग 2400-1400 वि0 पू0) इस काल में त्तैत्तिरीय-तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणों का निर्माण सम्पत्र हुआ । ' वेदांग ज्योतिष की रचना इस युग के अन्तिम भाग में की गई क्योंकि इसमें सूर्य और चन्दमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर धूम जाने का वर्णन मिलता है और यह घटना गणित के आधार पर 1400 वि0 पू0 के आसपास अंगीकृत की गई है।

(4) अन्तिम काल (1400-500 वि0 पू0) एक हजार वर्ष के अन्दर श्रोत्रसुत्र गृह्यसुत्र और दर्शन सूत्रों की रचना हुई तथा बुद्धधर्म का उदय वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में इसके अन्तिम भाग में हुआ।

शिलालेख से पुष्टि-

नवीन अन्वेषणों से इस काल की पुष्टि भी हो रही है। सन् 1107 ई0 में डाक्टर हुगो विन्कलर ने एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के बोधाज-कोई नामक स्थान में खुदाई कर एक प्राचीन शिलालेख की। यह हमारे विषय के समर्थन में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। पश्चिमी एशिया के खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियों का निवास था -एक का नाम था 'हित्तिति' और दूसरे का 'मितानि'। ईटो पर खुदे लेख से पता चलता है कि इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने पारस्परिक कलह के निवारण के लिए आपस में सन्धि के सरंक्षक के रूप में दोनो जातियों की देवताओं की अथ्यथना की गई। सरंक्षक देवो की सूची में अनेक बाबुलदेषीय तथा हित्तिति जाति के अतिरिक्त मितानि जाति के देवों में मित्र, वरूण, इन्द तथा नासत्यौ (अश्विन) का नाम उपलब्ध होता हैं। मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउजा' था और हित्तिति राजा की विलक्षण संज्ञा थी -'सुब्बि -लुलिउमा। दोनों में कभी धनधोर युद्ध हुआ था, जिसके विराम के अवसर पर मितानि नरशे ने अपने शत्रु राजा की पुत्री के विवाह कर अपनी नवीन मैत्री के उपर मानो मुहर लगा दी। इसी समय की पूर्वोक्त सन्धि है जिसमें चार वैदिक देवताओं के नाम मिलते है। ये लेख 1400 वि0 पू0 के है। अब प्रश्न है कि मितानि के देवताओं में वरूण; इन्द आदि देवों का नाम क्योंकर सम्मिलित किया गया ? उत्तर में यूरोपीय विद्वानों ने विलक्षण कल्पनाओं की लड़ी लगा दी है। इन प्रश्नों का न्याय उत्तर यही है मितानि जाति भारतीय वैदिक आर्यो की एक शाख थी जों भारत से पश्चिमी एशिया में जाकर बस गई थी या वैदिक धर्म को मानने वाली एक आर्य जाति थी। पश्चिमी एशिया तथा भारत का परस्पर सम्बन्ध उस प्राचीन काल में अवश्यमेव ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध किया जा सकता है। वरुण मित्र आदि चारों देवताओं का जिस प्रकार क्रम से निर्देश किया गया है उससे इनके 'वैदिक देवता' होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। 'इन्द्र' को तो पाश्चात्य विद्वान् भी आर्यावर्त में ही उद्भावित, आर्यों का प्रधान सहायक, देवता मानते है।

इस शिलालेख का समय 1400 विक्रमी पूर्व है। इसका अर्थ यह है कि इस समय से बहुत पहिले आर्यो ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया में भारतवर्ष से आकर बस गई और यहीं पर उसने अपने देवता तथा धर्म का प्रचुर प्रचार किया। बहुत सम्भव है कि वैदिक देवताओं को मान्य तथा पूज्य मानने वाली यह मितानी जाति भी वैदिक आर्यो की ही किसी शाखा के अन्तर्भुक्त हो। इस प्रकार आजकल पाश्चात्य विद्वान वेदों का प्राचीनतम काल विक्रमपूर्व 2000-2500 तक मानने लगे हैं, परन्तु वेदों में उल्लिखित ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों की युक्तियुक्तता तथा उनके आधार पर निर्णीत कालगणना में अब इन विद्वानों को भी विश्वास होने लगा है। अतः तिलक जी के ऊपर निर्दिष्ट सिद्वान्त को ही हम इस विषय में मान्य तथा प्रमाणिक मानते हैं।

2.4.3 भूगर्भसम्बन्धी वैदिक तथ्य के अनुसार—

ऋग्वेद में भूगर्भ-सम्बन्धी अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिसके आधार पर ऋग्वेद के समय का निरूपण किया जा सकता हैं तत्कालीन युग में सिन्धु नदी के किनारे आर्यो के यज्ञविधान विशेषरूप से होते थे। इस नदी के विषय में ऋग्वेद का कथन है कि नदियों में पवित्र सरस्वती नदी ऊँचे गिरिश्रृंखला से निकल कर समुद्र में गिरती है-

एका चेतन् सरस्वती नदीनाम्,
शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। (ऋग्वेद 7/95/2)

एक दूसरे मन्त्र में (3/33/2) सरस्वती और शतुद्रि नदियों के गरजते हुए समुद्र में गिरने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि आजकल जहाँ राजपूताना की मरुभूमि है वहाँ

प्राचीनकाल में एक विशाल समुद्र था और इसी समुद्र में सरस्वती तथा शतुद्रि नदियाँ हिमालय से बहकर गिरती थीं। जान पड़ता है कि राजपूताना समुद्र के गर्भ में कोई भयंकर भूकम्प सम्बन्धी विप्लव हुआ, फलस्वरूप एक विस्तृत भूखण्ड ऊपर निकल आया और जो सरस्ती नदी वस्तुतः समुद्र (राजपूताना सागर) में ही गिरती थी वह अब मरुभूमि के सैकत राशि में विलीन हो गई। ताण्ड्य-ब्राह्मण (25/10/6) से स्पष्ट है कि सरस्वती 'विनशन' में लुप्त होकर 'प्लक्ष-प्रस्रवण' में पुनः आविर्भूत होती थी। इसका तात्पर्य यह है कि सरस्वती समुद्र तक पहुँचने के लिए पूरा प्रयत्न करती थी, परन्तु राजपूतना के बढ़ते हुए मरुस्थल में उसे अपनी जीवनलीला समाप्त करनी पड़ी।

ऋग्वेद के अनुशीलन से आर्यों के निवास-स्थान सप्तसिन्धु प्रदेश के चारों ओर चार समुद्रों के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (10/136/5) में सप्तसिन्धु के पूर्व तथा पश्चिम में दो समुद्रों के वर्तमान होने का उल्लेख है। जिनमें समुद्र तो आज भी वर्तमान है, परन्तु पूर्वी समुद्र का पता नहीं है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में चुतःसमुद्रों का निःसन्दिग्ध निर्देश है। प्रथम मन्त्र में-

रायः समुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।
आ पवस्व सहस्रिणः॥(ऋ० 9/33/6)

सोम से प्रार्थना है कि धनसम्बन्धी चारों समुद्रों (अर्थात् चारों समुद्रों से युक्त भूखण्ड के आधिपत्य) को चारों दिशाओं से हमारे पास लावे तथा साथ ही असीम अभिलाषाओं को भी लावें। दूसरे मन्त्र (10/47/2) **'स्वायुधं स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चुतःसमुद्रं धरुण रयीणाम्'** में भी स्पष्ट ही 'चतुःसमुद्रं' का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय युग में आर्यप्रदेश के चारों ओर समुद्र लहरा रहे थे। इनमें पूर्वी समुद्र आज के उत्तरप्रदेश तथा बिहार में था, दक्षिण समुद्र राजपूताना की मरुभूमि में था, पश्चि समुद्र आज भी वर्तमान है, उत्तरी समुद्र की स्थिति उत्तर दिशा में थी, क्योंकि भूगर्भ वेत्ताओं के अनुसार एशिया के उत्तर में बल्ख और फारस से उत्तर में वर्तमान विशाल सागर की सत्ता थी, जिसे वे 'एशियाई भूमध्य सागर' के नाम से पुकारते है। यह उत्तर में आर्कटिक महासागर से सम्बद्ध था और आजकल के 'कृष्ण सागर' (काश्यप सागर), अराल सागर तथा वाल्कष ह्रद इसी के अवष्टि रूप माने जाते हैं।

उन दिनों समस्त गंगा-प्रदेश, हिमालय की पाद-भूमि तथा असम का विस्तृत पर्वतीय प्रदेश समुद्र के गर्भ में थे। कालान्तर में गंगा नदी हिमालय की गगनचुम्बी पर्वतश्रेणी से निकलकर सामान्य नदी के रूप में बहती हुई हरिद्वार के समीप ही 'पूर्व समुद्र' में गिरने लगी। यही कारण है कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध नदीसूक्त (10/75) में गंगा का बहुत ही संक्षिप्त परिचय मिलता है। उस समय पंजाब के दक्षिण तथा पूर्व में समुद्र था, जिसके कारण दक्षिण भारत एक पृथक्-खण्ड-सा दीखता था। पंजाब में उन दिनों शीत का प्राबल्य था। इसलिये ऋग्वेद में वर्श का नाम 'हिम' मिलता है। भूतयज्ञों ने सिद्ध किया है। कि भूमि और जल के ये विभिन्न भाग तथा पंजाब में शीतकाल का प्राबल्य प्लोस्टोसिन काल अथवा पूर्वप्लीस्टोसिन काल की बात है। यह काल ईसा से पचास हजार वर्ष से लेकर पचीस हजार वर्ष तक निर्धारित किया गया है। भूतत्त्वज्ञों ने यह भी स्वीकार किया है कि इस काल के अनन्तर राजपूताने के समुद्र मार्ग के ऊपर निकल आने के साथ ही हिमालय की नदियों के द्वारा आहृत मृत्तिका से गंगा प्रदेश की समतल भूमि बन गई और पंजाब के जलवायु मे उष्णता आ गई। पंजाब के आसपास से राजपूताना समुद्र तथा हिम संहिताओं (ग्लेशियर) के तिरोहित होने तथा वृष्टि के अभाव के कारणय ही सरस्वती का पुण्य-प्रवाह सूक्ष्म रूप धारण करता हुआ राजपूताने की बालुका-राशि में विलीन हो गया।

ऊपर निर्दिष्ट भौगोलिक तथा भूगर्भ-संबंधी घटनाओं के आधार पर ऋग्वेद की रचना तथा तत्कालीन सभ्यता के अविर्भाव का समय कम से कम ईसा से पच्चीस हजार वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। पाश्चात्य

विद्वानों की दृष्टि में ऋग्वेद के ऊपर दिये गये उल्लेख वैज्ञानिक न होकर भावुक ऋषियों की कल्पना-मात्र से प्रसूत हैं। उन्हें आधार मान कर वैज्ञानिक अनुसंधान की बात उन्हें उचित नही प्रतीत होती।

पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुटेल ने अपने 'वेदकालनिर्णय' नामक ज्योतिषतत्त्वमीमांसक ग्रंथ के आधार पर वेदों का काल बहुत ही प्राचीन (आज से तीन लाख वर्ष पूर्व) सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आजकल के वेदकाल के पाश्चात्य मीमांसक विद्वान् इतने सुदूर प्राचीनकाल का स्वप्न भी नहीं देख सकते। उनका कथन है कि वेदों में निर्दिष्ट ज्योतिशशास्त्र-विषयक निर्देश केवल कल्पना-प्रसूत हैं, उनका कथन गणना के आधार पर उनका निर्धारण नहीं किया गया है। इस प्रकार वेदों के काल-निर्धारण में विद्वानों के मन्तव्यों में जमीन-आसमान का अंतर है।

ऋग्वेद के निर्माण-काल के विषय में ये ही प्रधान मत है। इतना तो अब निश्चित-प्राय है कि वेदों का समय अब उतना अर्वाचीन नहीं है जितना पहिले माना जाता था। पश्चिमी विद्वान् लोग भी अब उनका समय आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानने लगे है। वेदों के काल के विषय में इतने विभिन्न मत है कि उनका समन्वय कथमपि नही किया जा सकता। वेद में उपलब्ध ज्योतिषशास्त्रीय तथ्यों को कोई काल्पनिक मानते हैं, तो कोई गणना के आधार पर निर्दिष्ट वैज्ञानिक तथा सत्य मानते है। इसी दृष्टि-भेद के कारण समय के निरूपण में इतनी विमति और विभिन्नता है। काल-निर्णय के मान्य सिद्धांतों का ही यहां संक्षित विवरण ऊपर दिया गया है।

2.5 ऋग्वेद कालीन धर्म-संस्कृति एवं समाज

ऋग्वेद कालीन धर्म—

ऋग्वेद का विपुलांश धार्मिक सामग्री से भरा है। वह युग धर्म की प्रधानता का था जिसका प्रमुख साधन यज्ञानुष्ठान था यज्ञ में देवता को प्रमुखता प्राप्त थी, इसलिये धार्मिक सूक्तों का अर्थ देवताओं का गुण-गान करने वाले सूक्तों के रूप में जो यजमानों का विविध फल देने के लिए प्रस्तुत किए गये है। इन सूक्तों में तीन प्रकार की ऋचाऐं मिलती है। परोक्षकृत प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। परोक्षकृत ऋचाओं के देवता का निर्देश प्रथम पुरुश में रहता है तथा देवता को सभी विभक्तियों में रखा जाता है। जैसे-अग्निमि के पुरोहितम् (ऋ० 1/1/1) इन्द्रोदिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः (18/89/10) इन्द्राय साम गायत (81/98/1) इत्यादि प्रत्यक्षकृत ऋचाओं में देवताओं को प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सम्बोधित किया जाता है कि तुम इन गुणों से युक्त हो मुझे ये पदार्थ दो मेरी रक्षा करो इत्यादि। जैसे-अग्ने ये यज्ञमध्वरम् (ऋ०1/1/4)। कहीं-कहीं स्तुति-कर्त्ताओं को भी प्रत्यक्ष मेकं सम्बोधित किया जाता है। आध्यात्मिक ऋचाओं में देवता स्वयं भाशण करते है। जैसे वागाम्भृणी सूक्त (ऋ०10/125) मतें वाग्देवी स्वयं कहती हैं-अहं रूद्रेभिर्वसुभिष्चरामि इत्यादि। इन्द्रसुक्त में इन्द्र स्वयं कहते है।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामिशश्वतः।
मा हवन्ते पितरं जन्तवोडहं दाशुषे वि भजामि भोजम्।।

धार्मिक सूक्तों में देवताओं को परमात्मा के विविध प्राकृतिक या आध्यात्मिक रूपों में देखा गया है। इसलिए प्राकृतिक उपादानों के वर्णन उनमें प्राप्त होते है। इस ऋचाओं का पाठ सोमरस के समर्पण अथवा अग्नि में धृत की आहुतियों के साथ किया जाता था। देवताओं के साथ ऋग्वेदिक कर्मकाण्ड का अविच्छेद सम्बन्ध हैं देवताओं के आकार-प्रकार, परिधान, आभूषण और प्रिय खाद्य-पेय का वर्णन इन सूक्तों में मिलता है।

इन देवताओं के वासस्थान भी निरूपित है जो इनके वर्गीकरण के आधार है-पृथ्वी स्थान देवता, अन्तरिक्षस्थान देवता, द्रुस्थान देवता।

पृथ्वी के निवासी देवताओं में प्रमुख अग्नि है और वृहस्पति, सोम, पृथ्वि नदी आदि अनय देवता है। अन्तरिक्ष के प्रमुख देवता वायु या इन्द्र हैं, शेष देवों में न्नितज्ञाप्त्य अपांन पात् मातरिष्वन्, अहिर्वृहध्न्य रूद्र, मरूत, पर्जन्य आदि है। द्रुस्थानिक देवताओं में सूर्य को प्रमुख माना गया है अन्य देवता। धौस, वरुण, मित्र,

सविता, पुषन, विश्णु, विवस्वत् अदित्यगण अश्विना (युग्म-देवता)। कुछ देवता शुद्ध स्त्री-रूप में कल्पित है जैसे- सरस्वती, पृथीवि, रात्री, वाक्, इडा, इन्द्राणी, अग्यानी इत्यादि।

प्राकृति के विविध उपादानों के रूप में देवताओं की कल्पना होने के कारण उनकी प्राकृतिक शक्तियों का वर्णन धार्मिक सूक्तों में बहुधा प्राप्त होता है। सभी देवता महान् और शक्ति-सम्पन्न है। वे प्रकृति के नियमों को व्यवस्थित तथा अनिश्ट तत्वों का विनाश भी करते है। देवताओं से ही मानव अपनी कामनाओं की पूर्ति की आशा करता है इसलिए अनेक देवताओं को 'वृषा' या 'वृषभ' कहा गया है। जिसका अर्थ है काम्य पदार्थों की वृष्टि करने वाला (कामान् वर्षतीति वृषभः)। देवता सत्य की प्रतिष्ठा करते है, कभी छल वंचना नहीं करते। धार्मिक और सत्यनिष्ठ व्यक्तियों की रक्षा एवंम अपराधियों-पापियों को समुचित दण्ड देना भी उनका कार्य है। देवताओं के व्यक्तिगत लक्षण परस्पर मिश्रित हो गये जिससे एक तत्ववाद का विकास हुआ-एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ॰ 1/164/46) फिर भी वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से यह एकत्ववाद जीवन-दर्शन नहीं बना क्यांकि यज्ञों में किसी एक देवता के आहुति देने से काम नहीं चल सकता था-वहाँ बहुदेव वाद ही प्रचलित रहा। यज्ञ की संस्था ऋग्वेद के धर्म का विशिष्ट अंग थी।

देवों के आकृति मनुष्य के समान के समान है। उनके शरीरिक अवयव अनेक स्थलों पर उन प्राकृतिक दृष्यों के रूपतामक प्रतिनिधि है जिनके वे वस्तुतः प्रतीक है। इस प्रकार सूर्य के बाहु उनके किरणों के अतिरिक्त कुछ नहीं और अग्नि की जिह्वा तथा अंश उसकी ज्वाला के द्योतक है। कुछ देवता योद्धा पुरुष है जैसे-इन्द्र और कतिपय यज्ञ कराने वाले ऋत्विज जैसे-अग्नि और बृहस्पति। देव रथ पर चढ़कर आकाश मार्ग में गमन किया करते है। इन रथों में विशेषतः घोड़े श्रूते रहते हैं देवताओं के योजन मानवों के समान दूध-दही, घी, अन्न, आदि है। उनका सबसे प्रिय पेय है सोमलता का उत्साह वर्धक रस। देवों का निवास स्वर्ग या विश्णु का तृतीय पद है जहाँ वे सोमरस का पान करते हुए आनन्द का जीवन विताते है।

ऋग्वेद इस विशाल ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार से जागरूक तथा नाना अभिव्यक्तियों में प्रकाशशील एक अचिन्त्य शक्ति का शाब्दिक उन्मेश है-वर्णमय विग्रह है। वह तर्क की कर्कश पद्धति पर व्याख्यात सिद्धान्तों का समुच्च नहीं अपितु वह प्रतिभाचक्षु से साक्षात्कृत तथ्यों का प्रषंसनीय पुंज है। ऋग्वैदिक युग के मनीषियों तथा लोकातीत आर्षचक्षुर्मण्डित द्रष्टाओं की वाणी में सार्वदेशिक तथा सार्वकालीक नैतिकता और धर्म की मूल प्रेरणाओं का स्फरण हो रहा हैं जो आजमी विश्व के मानवों सन्मार्ग पर ले जाने की क्षमता रखता हैं वैदिक ऋषियों की दृष्टि में धर्म ही जीवन यात्रा का मुख्य उपयोगी साधन है। 'सुगा श्रमृतस्य पन्थः' (श्रृ॰ 8/3/13) धर्म का मार्ग सुगम है 'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् (ऋ॰ 9/73/1) सत्य का नाव धर्मात्मा को लगाती है। ऋग्वेद अध्यात्म के साथ व्यवहार का परलोक के साथ इहलोक के मंजुल सामंजुल अपने भव्य उपदेशों से प्रस्तुत करता है। वेद का सर्वातिषायी श्लाघनीय धर्म यज्ञ है। यज्ञ ही मानव को दूसरे मानव के प्रति मैत्री के सूत्र में बांधने वाला कर्म है। ऋग्वेद मनुष्यों को कर्मठ, देशभक्त तथा परोपकारी बनने की शिक्षा देता है वह स्वावलम्बी मानव के मूलमन्त्र का रहस्य वतलाता है। ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋ॰ 4/33/11) बिना स्वयं परिश्रम किये बिना देवों की मैत्री प्राप्त नहीं होती है।

ऋग्वेद का समाज और संस्कृति—

ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राचीन वैदिक युग के समाज की अवस्था का चित्रण प्राप्त होता है। इस वेद में अधिसंख्यक मन्त्रों के देवता-वर्णन से सम्बद्ध होने के कारण धार्मिक सामग्री का बाहुल्य होने पर भी कतिपय लौकिक सूक्तों तथा ऋचाओं में उस युग के मानव का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन अंकित किया गया है।

ऋग्वेद में अंकित पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार की प्रथा पर आश्रित था। परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पौत्र आदि सभी सम्बन्धी रहते थे। सभी सदस्य गृहपति के संरक्षण में रहकर उसके आदेषों का

पालन करते थे। पिता परिवार का गृहपति होता था। पत्नी का महत्व यज्ञानुष्ठान में विशेष रूप से था। उसी पर गृह-व्यवस्था, शिशु-पालन आदि का भी भार था। पति के अविवाहित भाई-बहनों पर भी उसका अधिकार होता था। सास-ससुर के प्रति बहू का सद्व्यवहार होने के कारण उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती थी। पुत्री को दुहिता कहते थे, उसका परिवार में बहुत आदर था फिर भी परिवार में पुत्र-प्राप्ति के लिए देवताओं की प्रार्थना की जाती थी। इससे पुत्र का विशेष महत्त्व सूचित होता है।

परिवारिक जीवन के विकास के लिए पच्चमहायज्ञ, संस्कार यम-नियम का पालन आवष्यक था। ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्ध), देवयज्ञ (हवन-पूजा), भूत-यज्ञ (मानवेतर प्राणियों को भोजन देना) तथा नृ-यज्ञ (अतिथि-सेवा)-ये पाँच महायज्ञ थे। इनसे आध्यात्मिक ऋणों को चुकाने की कल्पना की गयी थी।

समाज में अपराध भी होते थे जैसे पषुओं की चोरी होती थी (पषुतृपं न तायुम्) चोरों के पकड़े जाने पर उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। जुआ खेलने की प्रथा थी। किन्तु जुआरियों का जीवन बड़ा गर्हित था। अक्ष-सूक्त (ऋग्वेद 10/34) में जुआ खेलने की घोर निन्दा करते हुए जुआरियों को खेती करने का उपदेश दिया गया है-अक्षैर्मा दीव्याः कृशिमित् कृषस्व।

संस्कार— ऋग्वेद के युग में संस्कारों का महत्त्व स्वीकृत था। उनसे मानव-जीवन के परिष्कार की कल्पना की गयी थी। विद्याध्ययन के लिए उपनयन और गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए विवाह मुख्य संस्कार थे। विवाह के अवसर पर अभ्यागतों का स्वागत होता था। वधू का हस्त ग्रहण करके वर अग्नि की प्रदक्षिण करता था। विवाह-संस्कार के बाद वधू वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत होकर पति के साथ रथ पर चढ़कर ससुराल जाती थी। रथ को लाल रंग के पुष्पों से सजाया जाता था उसमें दो बैल जुते होते थे। ऋग्वेद में मृत्यु-संस्कार का भी वर्णन मिलता है। शव के अग्नि-दाह की अथवा भूमि में दबाने की प्रथा थी।

आवास— इस वेद के अनुसार तात्कालिक आर्यों के गृह मिट्टी के बने होते थे। उसमें चार भाग होते थे-अग्निशाला (पूजा-हवन का कक्ष), हविर्धान (भण्डागार), पात्नीसदन और सद्स। सदस् पुरुशों की बैठक का कक्ष था। इसी में अभ्यागत लोगों का स्वागत किया जाता था। बैठने के लिए आसन और शयन के लिए शय्या होती थी। नव-विवाहित वर-वधू के शयनार्थ बहुमूल्य पलंग होती थी जिसे 'तल्प' कहते थे। (आरोह तल्पम्)। 'प्रोष्ठ' काष्ठ का आसन था जिस पर स्त्रियाँ बैठती और लेटती थी। ऋग्वेद में घरेलू उपकरणों के भी नाम मिलते हैं जैसे-कलश, द्रोण, चशक, स्थाली (बटलोई), तितउ (चलनी), मुसल इत्यादि।

परिधान— ऋग्वेद-काल में सामान्यतः दो वस्त्र पहने जाते थे-अधोवस्त्र और उत्तरीय। ये वस्त्र ऊन से बनते थे। कुछ वस्त्रों में 'जरी' (स्वर्ण) का काम होता था जिन्हें 'पेशस्' कहा जाता था गले में निश्क (हार) और रुक्म (धागे में लटकाकर पहना गया स्वर्णाभूशण) पहने जाते थे। इसी प्रकार कंकण, कर्णाभूशण, मोतियों की माला इत्यादि पहनने की प्रथा थी। लोग केषां में तेल लगाकर या बिना तेल के ही उन्हें सवाँरते थे।

भोजन— ऋग्वेद-युग के आर्यों का प्रमुख भोजन जौ की रोटी दूध-दही था। जौ का सत्तू भी बनता था जो आर्यों का प्रिय भोजन था। अपूप, करम्भ (माँड़ या आटे का घोल), सत्तू और पुरोडाश (रोटी)-ये आर्यों के स्वादु भोज्य पदार्थ थे। दूध प्रधान पेय था। आर्यो में दही, मक्खन आदि का प्रचुर प्रयोग था। यज्ञों में सोमरस का प्रयोग होता था। इसकी कटुता (या तिवतता) हटाने के लिए लोग उसमें दूध, दही या जौ का चूर्ण मिलाते थे जिससे क्रमश: सोमरस को गवाशी: दध्याशी: और यवाशी: कहते थे (आशी:= दोशनाशक) सोमरस के पान से स्फूर्ति आती थी। इस प्रकार परिधान तथा भोजन की दृष्टि से लोग सुखी, सम्पन्न तथा प्रसन्न थे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था— ऋग्वेद-काल में समाज को पुरुष का रूपक देकर उसके चार अंगों के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य और शूद्र वर्णों की कल्पना की गयी थीं-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासदी् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। (10/90/10)

किन्तु ऋग्वेद के मुख्य भाग में वर्णगत कर्मव्यवस्था की सूचना नहीं मिलती; कभी-कभी एक ही परिवार में पुरोहित, वैद्य और सत्तू पीसने के व्यवसायों का अस्तित्व मिलता है। फिर भी समाज में वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान और तपस्या करने वाले ब्राह्मणों का प्राधान्य था। क्षत्रिय (क्षत्र, राजन्य) का कार्य राष्ट्र की रक्षा और प्रजा-पालन करना था। वैश्य के लिए 'विषः' (=प्रजा) शब्द का विशेष प्रयोग है जो कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि सामानय व्यवसायों से अर्थोपार्जन (समाज की अर्थव्यवस्था) करने वाली प्रजा का परिचायक है। शूद्र या दास वर्ण इन्हीं की सहायता करता था। शिल्पकार्य में दास प्रवीण होते थे। जो कोई नास्तिक, यज्ञविरोधी या चरित्रहीन होते थे उन्हें दास या दस्यु की श्रेणी मिल जाती थी।

जीवन को चार आश्रमों में विभाजित करने का कार्य ऋग्वेद में आरम्भ हो चुका था। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन, गृहस्थ आश्रम में महायज्ञों का अनुष्ठान, वानप्रस्थ होने पर सभी कामनाओं का त्याग और संन्यासी होने पर सभी बन्धनों से मुक्ति का पवित्र लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

नारी की दशा— ऋग्वेद के युग में नारी को गृहिणी कहा जाता था (जायेदस्तम्)। गृह का पूरा भार (क्रिया-कलाप) उसी पर आश्रित था। नारी का मातृ-रूप अमृत के समान था। पत्नी पति की आदर्श सहचरी थी। पति-पत्नी के सौमनस्य और साहचर्य के कारण ऋग्वेद-काल में नारी की गौरव प्राप्त था। उस युग में स्त्री शिक्षा का विशेष प्रचार था। स्त्रियाँ न केवल वेद पढ़ती थीं अपितु मन्त्रां की रचना (या साक्षात्कार) करने में भी समर्थ थीं। रोमशा, गोधा, उर्वशी घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, सूर्या इत्यादि इक्कीस ऋषिकाओं के मन्त्र ऋग्वेद-संहिता में संकलित है। कुछ स्त्रियाँ संगीत और नृत्य में भी निपुण थीं। स्त्रियों का विवाह यद्यपि मुख्यतः पिता की इच्छा से होता था किन्तु स्वयंवर-विवाह का भी प्रचलन था। पत्नी से दस पुत्रों की कामना रहती थी (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि 10/85/45)। अभ्रातृका कन्या से विवाह करने में लोग हिचकिचाते थे क्योंकि उसकी सन्तान मातृकुल से अपना लगाव अधिक रखती थी।

धार्मिक स्थिति— ऋग्वेद में धर्म के दो पक्ष मिलते हैं-श्रद्धा और यज्ञानुष्ठान। देवताओं की स्तुतियों में ऋषियों की श्रद्धा प्रकअ हुई है। देवताओं के प्रति श्रद्धा और भक्ति उस युग के धार्मिक जीवन की विषिश्ठता रही है। उन देवताओं के तीन वर्ग माने गये थे-द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा पृथिवीस्थानीय। प्रत्येक वर्ग में ग्यारह देवता सम्बद्ध किये गये थे। इनमें कुछ देवता आधिभौतिक हैं जैसे-अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि। कुछ का आधिदैविक रूप है, इन्हें अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकते जैसे-इन्द्र, उशा, सविता आदि। कुछ का रूप आधात्मिक है जैसे-अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि। कुछ आधिदैविक रूप है, इन्हें अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकते जैसे-इन्द्र, उशा, सविता आदि। कुछ का रूप आध्यात्मिक है जैसे-सरस्वती, वाक्, मन्यु आदि। ऋग्वेद का धार्मिक जीवन अधत्मवाद से प्रभावित था। यज्ञ को धर्म का पर्याय माना गया था। पुरुशसूक्त में कहा गया है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवस्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (10/90/16)

यज्ञ को ईष्वर का रूप मानते थे जिसमें कर्म और भक्ति का समन्वय होता था। यज्ञानुष्ठान का आयोजन भव्य होता था। उसे ऋत्विजों की संख्या सँभालती थी-होता, उद्गाता, अध्वुर्य और ब्रह्मा। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों को 'होता' ही यज्ञ में पढ़ता था जिनसे किसी कर्म में नियत देवताओं का आवाहन होता था।

राजनीतिक स्थिति— ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस युग में राजनीतिक दृष्टि से समाज के पाँच स्तर थे-कुल (गृह या कुटुम्ब), ग्राम, विष्, जन तथा राष्ट्र। कुल का स्वामी गृहपति था। कई कुलों को मिलाकर 'ग्राम' बनता था जिसका प्रधान 'ग्रामीण' कहा जाता था। अपने ग्राम की रक्षा, संगठ, शान्ति, न्याय और दण्ड की व्यवस्था वही करता था। उसकी सहायता के लिए ग्राम-सभा होती थी, वही ग्रामीण का चयन भी करती थी। कई ग्रामों से 'विष्' बनता था जिसका अध्यक्ष 'विशपति' होता था। ग्रामों का पारस्परिक सम्बन्ध वही बनाये रखता था। विषों का समुदाय 'जन' होता था जिसका प्रधान 'जनपति' होता था। उस युग में पाँच प्रमुख

जनों का (पञ्च जनाः) निर्देश मिलता है। अनेक जनों से 'राष्ट्र' बनता था। उसका स्वामी राजा या राष्ट्रपति होता था राजा का कार्य राष्ट्र की रक्षा, शत्रुओं का नाश तथा राष्ट्र की श्रीवृद्धि करना था।

शासन की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं-राजतन्त्र और प्रजातन्त्र। राजतन्त्र में वंशानुगत राष्टाध्यक्ष होता था किन्तु प्रजातन्त्र में उसका चुनाव होता था। दोनों स्थितियों में अध्यक्ष का अभिशेक होता था। राज्य-संचालन के लिए सभा और समिति दो संस्थाएँ थीं। सभा छोटी और समिति बड़ी संस्था थी। समिति को अधिकार था कि वह योग्य राजा को हटाकर नये राजा को स्थापित करे।

आर्थिक स्थिति— उस समय का आर्थिक जीवन कृषि , पशुपपालन, वाणिज्य, व्यापार और उद्योग-धन्धों पर आश्रित था। कृषि के योग्य भूमि को खेतों में परिवर्तित किया जाता था। खेती करने वालों को ऋग्वेद में 'कीनाश' कहते थे। ये लोग हलों से भूमि की जुताई करते थे-

शुनं नं: फाला विकृशन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियुन्त वाहैः। (ऋग्वेद 4/57/9)

बीज बोने के बाद खेत की सिंचाई भी की जाती थी। इसके लिए नहर (कुल्या), नदी, सरोवर, कूप आदि का प्रयोग होता था। अन्नों में यव, गेहूँ धान, चना, माश (उड़द) और तिल प्रमुख थे। पशु-पालन भी अर्थव्यवस्था में महत्त्व रखता था। लोग गायें पालते थे जिनसे वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी किया जाता था। भेंड़ों और बकरियों को भी (अजावयः) लोग घरों में पालते थे। अष्व का उपयोग मुख्यतः युद्धों में होता था। सामान ढोने के लिए तथा हल में जोतने के लिए बैलों का प्रयोग होता था।

वाणिज्य-व्यपार उस युग का प्रमुख व्यवसाय था। व्यापारी के लिए वाणिक या पणि शब्द का प्रयोग मिलता है। अन्न का व्यापार प्रमुख रूप से होता था जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा कर बेचा जाता था। वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) के अन्तर्गत गायों को इकाई के रूप में (मूल्य मानकर) खरीद-बिक्री होती थी। पणि लोग नावों से भी सामान की ढुलाई (परिवहन) करते थे। उद्योग के रूप में वस्त्र-निर्माण, रथ-निर्माण, आभूषण और शस्त्र बनाना प्रमुख थे। बढ़ई (तक्षन्), हिरण्यकार, चर्मकार, भिशंक्, कारु (शिल्पी या संगीतज्ञ), तन्तुवाय आदि व्यवसायियों का उल्लेख इस वेद में मिलता है।

इस प्रकार ऋग्वेद के युग में समाज का वैविध्यपूर्ण चित्र प्राप्त होता है। भारतीय इतिहास में साहित्यिक सामग्री के आधार पर सर्वाधिक स्पष्ट चित्र हमें पहली बार ऋग्वेद में ही मिलता है। यह वस्तुतः हमारे देश का ग्रन्थरत्न है।

बोध प्रश्न—

1.ऋग्वेद की रचना 1200 विक्रमपूर्व माना है।

(क) लोकमान्य तिलक ने **(ख)** मैक्समूलर ने

(ग) हन्ट ने **(घ)** विक्रमादित्य ने

2.लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का समय माना है।

(क)6000-4000 वि०पू० **(ख)**4000-2500 वि०पू०

(ग) 2400-1400 वि०पू० **(घ)**1400-5000 इ०पू०

3. ऋग्वेदीय काल में वस्त्र पहने जाते थे।

(क) केवल अधोवस्त्र **(ख)** केवल उत्तरीय

(ग) दोनों **(घ)** दोनों में से कोइ नहीं

4.रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) दीक्षित जी अनुसार ग्रह स्थिति का समय .....वि०पू० था

(ख) उर्वशी के साथ .....की प्रणय गाथा है।

(ग) विश्वामित्र नदी संवाद का वर्णन.....में किया गया है।

5.निम्नलिखित वाक्यों में सही वाक्य के समक्ष ($\surd$) का चिन्ह तथा गलत के समक्ष (×) का चिन्ह लगाये?

(क) यज्ञेन यज्ञमयजन्त.....सामवेद का मन्त्र है। ( )

(ख) शुनः शेष आख्यान ऋग्वेद में वर्णित है। ( )

(ग)'द्वाज' का अर्थ दो से उत्पन्न सन्तान होता है। ( )

2.6 सारांश

भारतीय सभ्यता का मूल स्रोत वेद ही है। वेद की महत्ता का निर्धारण अनुमानत: ही किया गया है। इसमें मुख्य रूप से मैक्समूलर, लोक-मान्य बाल गंगाधर तिलक, के साथ-साथ अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के द्वारा इसके समय का निर्धारण करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु निश्चित मत नहीं मिल पाता सर्वप्रथम रचित वेद ऋग्वेद पर विद्वानों द्वारा दीये गये मतों को इस इकाई के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जिसका अध्याय कर ऋग्वेद के समय का निर्धारण कर सकेंगे।

इस इकाई के माध्यम से ऋग्वेद के समय में दिये गये अनेक विद्वानों का मत जान सकेंगे तथा तत्कालीन धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था से भी परिचित हो सकेगी। जिससे की आप ऋग्वेद कालीन समस्याओं से उभर कर अपनी प्रतिभा चक्षु का और ऊपर तक ले जा सकेगें।

2.7 शब्दावली

भावाभिव्यंज्क-भावों की अभिव्यंजना

चतुःसमुद्र-चारों समुद्र

अर्थोपार्जन-धनकी प्राप्ति

अधोवस्त्र-उपर का वस्त्र

उत्तरीय-दुपट्टा

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

(1) (ख)

(2) (क)

(3) (ख)

4 (क) 3000 वि०पू० (ख) पुरुरवा (ग) ऋग्वेद

5 (क) (×) (ख) ($\surd$) (ग) ($\surd$)

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1)आचार्य वलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य एवं संस्कृति

(2)संस्कृत वाड्.मय का वृहद् साहित्य (वेदखण्ड)-पद्मभूषण आचार्य श्री वलदेव उपाध्याय

2.10 अन्य उपयोगी ग्रन्थ

(1) वेद भाष्य भूमिका-संग्रह

(2)आचार्य शायण और माधव-आचार्य वलदेव उपाध्याय

(3) भाव्य भूमिका-स्कन्द स्वामी

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) ऋग्वेद कालीन धर्म एवं समाज तथा संस्कृति की विवेचना कीजिए।

(2) ऋग्वेद का समय निर्धारित कीजिए ?

इकाई-3 यजुर्वेद - परिचय एवं समय

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 यजुर्वेद-शाखाएं भेद एवं वर्ण्य विषय
  3.3.1 यजुर्वेदीय शाखाएं
  3.3.2 यजुर्वेद के भेद
  3.3.4 यजुर्वेद का वर्ण्य विषय
3.4 यजुर्वेद कालीन धर्म एवं समाज
3.5 सारांश
3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 अन्य उपयोगी पुस्तकें
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारतीयों के लिये वेद की उपोगिता तो बनी हुई है। वेद से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण हमारे संस्कारों की दशा बताने वाली पद्धति, हमारे मस्तिश्क को प्रेरित करने वाली विचारधारा इन सबका उद्भव स्थान वेद ही है। अतः हमारे हृदय में वेद के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है, तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, परन्तु वेदों का महत्त्व इतना संकीर्ण तथा सीमित नहीं है। मानव जाति के प्राचीन इतिहास रहन-सहन आचार-व्यवहार, की जानकारी के लिए वे उतने ही उपादेय तथा आदरणीय हैं इसमें कोई सन्देह नहीं की प्राचीन भारतवर्ष की प्रत्येक विचार, विचार पद्धति वेद के विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनी, जिसके बिना सत्य का अन्तर्ज्ञान होना एकान्त असम्भव समक्षा जाता था।

वेद जो कि स्वयं एक दुरुह तथा अत्यन्त कठिन विषय है तथापि इसके एक खण्ड का अर्थात् केवल एक वेद का ज्ञान भी पूर्ण रूप से करलेना बढ़े-बढ़े विद्वानों के लिए असम्भव सा प्रतीत होता है। यजुर्वेद जो कि वेदत्रयी में प्रमुख स्थान रखता है का अध्ययन इस इकाई के माध्यम संक्षिप्त रूप में किया जा सकता है। इसके माध्यम से आप यजुर्वेद के शाखाओं, उनके कितनें भेद है तथा उसमें वर्णित विषय के साथ-साथ यजुर्वेदिक कालीन धर्म तथा समाज के विषय में अध्ययन कर सकेंगे। तथा तत्सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर भी सरलता पूर्वक दे सकेगें।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- यजुर्वेद से परिचित हो सकेंगे।
- यजुर्वेद की शाखाओं से परिचित हो सकेंगे।
- यजुर्वेद के भेद को ज्ञन सकेंगे।
- इसमें वर्णित विषय के साथ-साथ तत्कालीन धर्म एवं समाज के विषय में जान सकेंगे।

3.3 यजुर्वेद शाखाएँ, भेद एवं वर्ण्य विषय

'आश्वर्य' कर्म के लिए उपादेय यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है। 'यजुष' शब्द की व्याख्यायें आपाततः भिन्न भले ही प्रतीत हों, परन्तु उनमें एक ही लक्षण की ओर संकेत है। 'अनियताक्षरवसानों यजुः (अक्षरों की संख्या जिसमें नियत या निश्चित न हो); 'गद्यात्मको यजुः' तथा 'शेषे यजुः शब्दः' का तात्पर्य यही है कि ऋक् तथा साम से भिन्न गत्यात्मक मन्त्रों का ही अभिधान 'यजुः' है।

3.3.2 यजुर्वेद के भेद

वेद के दो सम्प्रदाय है-(1) ब्रह्म सम्प्रदाय तथा (2) आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार आदित्य-यजुः शुक्ल-यजुष के नाम से प्रसिद्ध है, तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात हैं (आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्ये-नाख्यायन्ते-शत०ब्रा० 14/9/5/33)। अतः आदित्य-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है, तथा ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है। यजुर्वेद के शुक्ल कृष्णत्व का भेद उसके स्वरूप के ऊपर आश्रित है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मन्त्रों का ही संकलन है। उधर कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का संमिश्रण हैं मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुः के कृष्णत्व का कारण है, तथा मन्त्रों का विशुद्ध एवं अमिश्रित रूप से शुक्लयजुः के शुक्लत्व का मुख्य हेतु है। कृष्णयजुः की प्रधान शाखा 'तैत्तिरीय' नाम से प्रख्यात है, जिसके विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेकत्र निर्दिष्ट किया गया है। गुरु वैशम्पायन के शाप से भीत योगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुर्षों का वमन कर दिया और गुरु के आदेश से अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण

कर उस वान्त यजुष का भाषण किया। सूर्य को प्रसन्न कर उनके ही अनुग्रह से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल-यजुष की उपलब्धि की।

पुराणों तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से 'याज्ञवल्क्य' वाजसनेय' एक अत्यन्त प्रौढ़ तत्त्वज्ञ प्रतीत होते हैं, जिनकी अनुकूल सम्मति का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है (अ० 3 और 4)। ये मिथिला के निवासी थे, तथा उस देश के अधीश्वर महाराज जनक की सभा में इनका विशेष आदर और सम्मान था। इनके पिता का नमा देवराज था, जो दीनों को अन्न दान देने के कारण 'वाजसनि' के अपरनाम से विख्यात थे। इन्होंने व्यासदेव के चारों शिष्यों से वेद चतुष्टय का अध्ययन किया, अपने मातुल वैशम्पायन ऋषि से इन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन सम्पन्न किया था। शतपथ के प्रामाण्य पर इन्होंने उद्दालक आरुणि नामक तत्कालीन प्रौढ़ दार्शनिक से वेदान्त का परिशीलन किया था। आरूणि ने एक बार इनसे वेदान्त की प्रशंसा में कहा था कि यदि वेदान्त की शक्ति से अभिमन्त्रित जल से स्थाणु (पेड़ का केवल तथा) को सींचा जाय तो उसमें भी पत्तियाँ निकल आती है। पुराणों से प्रतीत होता है कि योग्य शिष्य ने गुरु के पूर्वोक्त कथन को अक्षरषः सत्य सिद्ध कर दिखलाया। इनकी दो पत्नियाँ थीं-मैत्रीयी तथा कात्यायनी। मैत्रेयी बड़ी ही विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थी और घर छोड़ कर वन में जाते समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ही ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी। प्रगाढ़ पाण्डित्य, अपूर्व योगबल तथा गाढ़ दार्शनिकता के कारण ही योगी याज्ञवल्क्य कर्मयोगी राजा जनक की विशेष अभ्यर्थना तथा सत्कार के भाजन थे। यजुर्वेद में मुख्यरूपेण कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है।

3.3.4 यजुर्वेद का वर्ण्य-विषय

शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र-संहिता 'वाजसनेयी संहिता' के नाम से विख्यात है, जिसके 40 अध्यायों में अन्तिम 15 अध्याय खिलरूप से प्रसिद्ध होने के कारण अवान्तरयुगीय माने जाते हैं। इस संहिता के विषय का अनुशीलन यजुर्वेद के सामान्य विषयों से परिचय कराने के लिए पर्याप्त होगा।

आरम्भ के दोनों अध्यायों में दर्श तथा पौर्णमासा इष्टियों से सम्बद्ध मन्त्रों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य (चार महीनों पर होने वाले यज्ञ) के लिए उपयोगी मन्त्रों का विवरण हैं चतुर्थ से लेकर अश्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन है, जिसमें अग्निष्टोम का प्रकृति-याग होने के कारण नितान्त विस्तृत विवरण हैं अग्निष्टोम में सोम की पत्थरों से कूटकर इसका रस चुआते हैं और दूध मिलाकर उसे प्रातः, मध्याह्न तथा सांयकाल अग्नि में हवन करते है। इसका नाम है-सवन, जो तीनों समयों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से विख्यात हैं एक दिन में समाप्य 'एकाह' सोमायागों में 'वाजपेय' याग अन्यतम है, तथा राजा के अभिशेक के अवसर पर होने वाला 'राजसूय' यज्ञ है, जिसमें द्यूत-क्रीड़ा, अस्त्र-क्रीडा आदि नाना राजन्योचित क्रियाकलापों का विधान होता है। इन दोनों यज्ञों के सम्बद्ध मन्त्र संहिता के नवम् तथा दशम् अध्यायों में निर्दिष्ट किये गये हैं। इसके अनन्तर आठ अध्यायों (11-18अ०) तक 'अग्निचयन' अर्थात् यज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदिनिर्माण का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया गया है। वेदि की रचना 10800 ईटों से होती है, जो विशिष्ट स्थान से लाये जाते हैं, तथा विशिष्ट आकार के बनाये जाते है। वेदि की आकृति पंख फैलाये हुए पक्षी के समान होती है। ब्राह्मण मन्त्रों में वेदि और उसके विविध ईटों के आध्यात्मिक रूप का व्याख्यान बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।

16 वें अध्याय में शतरुद्री होम का प्रसंग है, जिसमें रुद्र की कल्पना का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन मिलता है। वैदिकों में यह 'रुद्राध्याय' अतीव उपयोगी होने से नितान्त प्रख्यात है। 18 वें अध्याय में 'वसोर्धारा' सम्बन्धी मन्त्र निर्दिष्ट है। इसके अनन्तर तीन अध्यायों (19-21अ०) में सौत्रामणि यज्ञ का विधान है। कहा जाता है कि अधिक सोमपान करने से इन्द्र को रोग हो गया था जिसकी अश्विन ने इस यज्ञ के द्वारा चिकित्सा की। राज्य से च्युत राजा, पशुकाम यजमान तथा सोमरस की अनुकूलता से पराङ्मुख व्यक्ति के निमित्त इस याग

का अनुष्ठान विहित है। इसकी प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण 19 वें अध्याय के महीधर भाष्य के आरम्भ में उपलब्ध है। सौत्रामणी यज्ञ में सोमरस के साथ सुरापान का भी विधान पाया जाता है (सौत्रामाण्यां सुरा पिबेत्)

अ॰ 22-25 का अश्वमेध के विशिष्ट मन्त्रों का निर्देश है। अष्वमेध सार्वभौम आधिपत्य के अभिलाषी सम्राट् के लिए विहित है। इसका सांगोपांग वर्णन शतपथ ब्राह्मण के 13 वें काण्ड में तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (20 वें अध्याय) में है। इसी प्रसंग में वह प्रसिद्ध प्रार्थना (22/22) उपलब्ध होती है जिसमें यजमान अपने भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए उन्नति तथा वृद्धि की कामना करता है। 26-29 अ॰ तक खिलमन्त्र का संकलन है, जिससे पूर्व-निर्दिष्ट अनुष्ठानों के विषय में नवीन मन्त्र दिये गये है। 30 वें अध्याय में 'पुरुषमेध' का वर्णन है, जिसमें 184 पदार्थों के आलम्भन का निर्देश है। यह आलम्भन वास्तव में आलम्भन न होकर केवल प्रतीकरूप में उल्लिखित है। भारत में कभी भी पुरुषमेध नहीं किया जाता था। यह केवल काल्पनिक यज्ञ है जिसमें पुरुश की नाना प्रतिनिधिभूत वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों में दान का विधान था, जैसे नृत्त के लिए सूत की, गीत के लिए षैलूश की, धर्म के लिए समाचार आदि के आलम्भन की विधि है। इस अध्याय से तत्कालीन प्रचलित व्यवसाय, पेशा तथा कलाकौशल का भी यत्किंच्चित् परिचय प्राप्त होता हैं 31वें अध्याय में प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त है, जिसमे की ऋग्वेद की अपेक्षा अन्त में 6 मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं। 32 तथा 33 अध्याय में 'सर्वमेध' के मन्त्र उल्लिखित हैं 32 के आरम्भ में हिरण्यगर्भ सूक्त के भी कपितय मन्त्र उद्धृत हैं। 34वें अध्याय के आरम्भ में 6 मन्त्रों का 'शिवसंकल्प उपनिषद्' (तन्मे मनः शिवसंक्ल्पमस्तु) मन तथा उसकी वृत्तियों के स्वरूप बतलाने में नितान्त उपादेय है। मन की महत्ता के प्रतिपादन के अनन्तर मन को 'शिवसंकल्प' होने की प्रार्थना है, जिससे उसका संकल्प (इच्छा) सर्वदा कल्याणकारी बने-(यजुः 34/6)

सुशारथिरश्वनिव यन्मनुश्यान्
नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजित इव।
हृत्प्रतिश्ठं यदजिरं जत्रिश्ठं
तन्मे मनः षिवसंकल्पमस्तु।।

(जिस प्रकार शोभन सारथि अश्वों को आगे चलने के लिए प्रेरित करता है और वेगवान् उत्पथगामी घोड़ों का चाबुक से नियमन करता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों को लोगों में प्रेरित करता है तथा उसका नियमन भी करता है जिससे वे उन्मार्गगामी न बन जाये। यह हमारे हृदय में प्रतिष्ठित होनेवाला, जरा से रहित तथा अत्यन्त शीघ्रगामी मन शिव-संकल्प बने।) ये मन्त्र ऋक्-परिशिष्ट (सूक्त 33) में भी उपलब्ध होते है।35 वें अध्याय में पितृमेघ सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन तथा 36 से 38 अध्याय तक प्रवर्ग्ययाग का विषद वर्णन है। प्रवर्ग्य में आग के ऊपर कड़ाही रख देते है और वह तप्त होकर बिल्कुल लाल बन जाती है जिससे वह सूर्य का प्रतीत होती है। तदनन्तर दूर को उबाल कर अश्विन को समर्पण किया जाता है पीछे यज्ञपात्रों को ऐसी स्थिति रखते हैं जिससे मनुष्य की आकृति बन जाती है। अन्तिम अध्याय (40 वा अ॰) ईशावस्य उपनिषद् है, जो अपने प्रारम्भिक दो शब्दों के कारण यह नाम धारण करता है। उपनिषदों में यह लघुकाय उपनिषद् आदिम माना जाता है, क्योंकि इसे छोड़ कर कोई भी अन्य उपनिषद् संहिता का भाग नहीं है। उपनिषद् ग्रन्थों में इसके प्राथम्य धारण करने का यही मुख्य हेतु है। इस संहिता का आदित्य के साथ घनिष्ठता का परिचय इसका अन्तिम मन्त्र देता है-(ईशावा॰40/17)-

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुशः सोऽसावहम्।।

काण्यसंहिता—

शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखायें माध्यन्दिन तथा काण्व है। काण्व शाखा का प्रचार आज कल महाराष्ट्र प्रान्त में ही है और माध्यन्दिन शाखा का उतर भारत में, परन्तु प्राचीन काल में काण्य शाखा का

अपना प्रदेश उत्तर भारत ही था, क्योंकि एक मन्त्र में (11/11) कुरु तथा पच्चालदेशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है (एश यः कुरवो राजा, एश पच्चालों राजा)। महाभारत के आदिपर्व (63/18) के अनुसार शकुन्तला को पाश्यपुत्री बनाने वाले कण्व मुनि का आश्रम 'मालिनी' नदी के तीर पर था, जो आज भी उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में 'मालन' के नाम से विख्यात एक एक छोटी सही नहीं है। अतः काण्वें का प्राचीन सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से होने में कोई विप्रतिपित्ति नहीं दृष्टिगत होती।

काण्वसंहिता का एक सुन्दर संस्करण मद्रास के अन्तर्गत किसी 'आनन्दवन' नगर तथा औध से प्रकाशित हुआ है जिसमें अध्यायों की संख्या 40, अनुवाकों की 328 तथा मन्त्रों को 2086 है, अर्थात् माध्यन्दिन-संहिता के मन्त्रां (1975) से यहाँ 11 मन्त्र अधिक है। काण्व शाखा अधिक है। काण्व शाखा का सम्बन्ध पाच्चरात्र आगम के साथ विशेष रूप से पाच्चरात्र संहिताओं में सर्वत्र माना गया है।

कृष्ण यजुर्वेद—

उपरि निर्दिष्ट विषय-विवेचन से कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताओं के भी विषय का पर्याप्त परिचय मिल सकता है, क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान-विधियाँ प्रायः एक समान ही है। शुल्कयजुः में जहाँ केवल मन्त्रों का ही निर्देश किया गया है, वहाँ कृष्ण यजुः में मन्त्रों के साथ तद्विधायक ब्राह्मण भी संमिश्रित हैं। चरणब्यूह के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की 85 शाखायें हैं जिनमें आज केवल 4 शाखायें तथा सत्यसबद्ध पुस्तके उपलब्ध होती है- (1) तैत्तिरीय, (2) मैत्रायिणी, (3) कठ, (4) कपिष्ठिक-कठ शाखा।

तैत्तिरीय संहिता—

तैत्तिरीय संहिता का प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त समग्र आन्ध्र-द्रविण देश इसी शाखा का अनुयायी है। समग्र ग्रन्थों-संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैशिष्टय स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् इस शाख ने अपनी संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गुह्सूत्र को बड़ी तत्रता से अक्षुण्ण बनाये रक्खा हैं तैत्तिरीय संहिता का परिमाण कम नहीं हैं यह काण्ड, प्रापाठक तथा अनुवाकों में विभक्त है। पूरी संहिता में 7 काण्ड, तदर्न्गत 44 प्रपाठक तथा 631 अनुवाक है। विषय वही शुक्ल-यजर्वेद में वर्णित विषयों के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, रासूय आदि नाना यागानुष्ठानों का विशद वर्णन है। आचार्य सायण की यही अपनी शाखा थी। इसलिए तथा यज्ञ के मुख्य स्वरूप के निष्पादक होने के कारण उन्होंने इस संहिता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य सर्व-प्रथम निबद्ध किया, परन्तु उनसे प्राचीन भाष्यकार भट्ट भास्कर मिश्र (11वीं शताब्दी) है, जिनका 'ज्ञान-यज्ञ' नामक भाष्य प्रामाथिकता तथा विद्वत् में किसी प्रकार न्यून नहीं है। अधियज्ञ अर्थ अतिरिक्त प्रामाणिकता तथा विद्वत्ता में किसी प्रकार न्यून नहीं है। अधियज्ञ अर्थ के अतिरिक्त अध्यात्म तथा अधिदैव पक्षों में भी मन्त्रों का अर्थ स्थान-स्थान पर किया गाया है।

मैत्रात्रणी संहिता—

कृष्ण यजुर्वेद की अन्तिम शाखा मैत्रायणी की यह संहिता गद्यपद्यात्मक है, मूल ग्रन्थ काठकसंहिता के समान होने पर भी उसकी स्वरांकन पद्धति ऋग्वेद से मिलती है। ऋग्वेद के समान ही यह अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इस प्रकार कापिष्ठल कठसंहिता पर ऋग्वेद का ही सातिशपथ प्रभाव लक्षित होता है। ग्रन्थ अधूरा ही है। इसमें निम्नलिखित अष्टक तथा तदन्तर्गत अध्याय उपलब्ध है-

प्रथम अष्टक -पूर्ण, आठों अध्याय के साथ।

द्वितीय अष्टक - त्रुटित 9 से लेकर 24 अध्याय तक बिल्कुल त्रुटित।

तृतीय अष्टक - त्रुटित

चतुर्थ अष्टक -32 वें अध्याय को छोड़कर समस्त (25-31 तक) अध्याय उपलब्ध हैं, जिसमें 27 वाँ अध्याय रुद्राध्याय है।

पच्चम अष्टक - आदिम अध्याय (33अ॰) को छोड़कर अन्य सातों अध्याय उपलब्ध।

षष्ठ अष्टक - 43 वें अध्याय को छोड़कर अन्य अध्याय उपलब्ध। 48 अध्याय पर समाप्ति।
पाठकों को जान रखना चाहिए कि उपलब्ध अध्याय भी समग्र रूप से नहीं मिलते, प्रत्युत वे भी बीच में खण्डित तथा त्रुटित है। अन्य संहिताओं के साथ तुलना के निमित्त यह अधूरा भी। ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय तथा उपयोगी है। विषय षैली कठसंहिता के समान ही है।

3.4 यजुर्वेद कालीन धर्म एवं समाज

यजुर्वेद कालीन धर्म—

यजुर्वेद कालीन आप एक धर्म प्रधान जाति थे। उनका देवताओं की सत्ता, प्रभाव, तथाव्यापकता में दृढ़ विष्वास था। उनकी कल्पनाओं में यह जगत-पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकश इन तीनों भागों में विभक्त था। प्रत्येक लोक में देवताओं का निवास था। ये अग्नि के उपासक को अग्नि में विभिन्न देवताओं के उद्देष्य से सोमरस की आहुति दिया करते थे। यज्ञ की संस्था उनके धर्म की एक विशिष्ट अंग थी। ये धर्म में बहुदेवतावादी यज्ञ प्रधान धर्म को मानते थे। देवों की आकृति मनुष्य के समान ही थी।

यजुर्वेद कालीन धर्म मुख्य रूप से याज्ञीक धर्म के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि यजुर्वेद मुख्यतः यज्ञ प्रधान वेद माना जाता है। इसके आरम्भ के दोनों अध्यायों में दर्श और पौणमास इष्टियों से सम्बद्ध मन्त्रों का वर्णन है तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य के लिये उपयोगी मन्त्रों का विवरण हैं चतुर्थ से लेकर अष्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन है जिसमें अग्निष्टोम का प्रकृतिन्याय होने के कारण विस्तृत विवरण है। अग्निष्टोम में सोम की पत्थरों से कुटकर इसका रस चुआते है और दूध मिलाकर उसे प्रातः मध्याश तथा सायंकाल अग्नि में हवन करते है। इनका नाम सवन है जो तीनो समयों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से विख्यात है। इसके अनन्तर आठ अध्याय-अग्निचयन, 16 अध्यायों में शतरूद्रिय होम, 18वें अध्याय का 'रूद्राध्याय' अतीव उपयोगी एवं प्रख्यात है। 18 वें अध्याय में वसोधार, 22-25 तक अश्वमेध यज्ञ है। इन स्वरूपों से स्पष्ट है कि यज्ञादि क्रिया यजुर्वेदिक काल प्रमुख धर्म था।

वध्यरूप से देखने पर यज्ञ तो केवल किसी देवता विशेष के लिये द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप है; परन्तु यह विलक्षण रहस्य से संवलित है। जिस कर्म से शुद्धि-देह शुद्धि, इन्द्रिय, अहंकार शुद्धि और चित्त शुद्धि होती है जिस कर्म का फल स्वार्थ नहीं, पदार्थ होता है, जिस कर्म से नया आवरण नहीं बनता, प्रसुत पहिले का आरवण क्षीण हो जाता है, जो मार्ग जीव को क्रमश: कल्याण के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता देता है और अन्त में महाज्ञान् तक प्राप्त कराता है-वही यज्ञ हैं। वहिर्याग के रहस्य को समक्षना अन्तर्याग के रूप को समझने से सिद्ध होता है। अज्ञान को निरस्त कर ज्ञान तथा महाज्ञान की प्राप्ति करना ही यज्ञ का उद्देश्य है। चैतन्य के विकास के पाँच स्तर हैं, जो कोशों के साथ सम्बद्ध है ये कोश पाँच हैं-जो क्रमषः उच्च से उच्चतर चैतन्य की वृद्धि के सूचक हैं। कोशों के नाम है-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय।
जीव को भगवान् के चरणारविन्द में अपना सर्वस्व समर्पण करना होता है। दुःख तथा सुख; हेय तथा उपादेय; मृत्यु तथा अमृतत्व इन सबका समर्पण अनन्त ब्राह्माण्ड नायक भगवान के चरणों में करने से ही जीवन ही जीव का परम कल्याण सम्पन्न होता है। यज्ञ आत्म-वलिरूप है। उसके द्वारा मलिन अंश का त्याग कर षुद्ध अंश का ग्रहण किया जाता है। अन्ततः विशुद्ध सत्व में आत्मा प्रतिष्ठित होता है। यज्ञ की चरम आहुति या पूर्णहुति ग्रहण करने का की क्षमता न तो किसी लौकिक अग्नि में है, और ना किसी अलौकिक अग्नि में यह तो विशुद्ध अमृत है। एक मात्र वृह्माग्नि में-विषुद्ध चैतन्य रूप में ही उस परम अमृत के धारण करने की क्षमता है।

पारस्परिक भावना ही इस विश्वचक्र के संचरण का मूल तत्व है। देवता तथा मानव-देवता तथा मानव-दोनों को परस्पर से ही यह विश्व चलता है, और इस भावना मूल साधन है-यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य-देवताओं का

अहार प्रस्तुत करता है जिससे वे पुष्ट होते है, और देवता मानवों के कल्याणार्थ नाना कर्मो का सम्पादन स्वयं करते है। भगवान के सच्चे भक्तों का कभी अमंगल नहीं होता।

वेद में विश्व बन्धुत्व को परिकल्पना एक अनोखी वस्तु है। वेद मानव मात्र के लिए कल्याण की भावना को अग्रसर करता है। वैदिक प्रार्थनाओं में व्यष्टि के ही लिए नहीं, अपितु समश्टि के लिए मंगल भावना का स्पष्ट तथा विषद् निदर्शन है। वैदिक ऋषि व्यक्ति तथा समाज से ऊपर उठकर समस्त विश्व की सुख समृद्धि एवं मंगल के निमित्त ही प्रार्थना करता है। मन्त्रों का प्रामाण्य इस विषय में अक्षुण्य है-

विश्वानि देव सविर्दूरितानि परासुव।

यद् भद्रं तन्न आसुव (शु०यजु० 30/3)

हे देव सविता, समस्त पापों को हमसे दूर करो। हमारे लिए जो भद्र वस्तु हो कल्याणकारी पदार्थ हो उसे हमें प्राप्त कराइये।

विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावना से ओतप्रोत वैदिक मन्त्रों में प्राणिमात्र में परस्पर सौहाद्, मैत्री तथा साहाय्य की भावना की उपलब्धि नितान्त स्वाभाविक है। **'नित्तस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीसे। नित्रस्य चक्षुष समीक्षामहे'** इस काल में वर्ण व्यवस्था विद्यमाथ थी-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र। ब्राह्मण कार्य शिक्षा प्राप्त करना तथा भिक्षा देना था। क्षत्रिय का कार्य प्रजा की रक्षा तथा ब्राह्मणों की रक्षा करना था। वैश्य का कार्य व्यापार करना था एवं शुद्ध का कार्य तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना था। ये चारों वर्ण कर्म के आधार पर थे परन्तु धीरे-धीरे वह वंशानुगत व्यवस्था हो गयी।

यजुर्वेद कालीन समाज-

वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। पिता ही प्रत्येक घर का नेता तथा पुरशकर्ता था। पुत्र तथा पुत्री, वधू तथा स्त्री सब लोग उसी की छत्र छाया में अपना सुखद समय बिताते थे। पिता केवल पुत्रों को ही षिक्षा नहीं देता था। प्रत्युत पुत्रियों का भी ललित कला की षिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाता था। उनयन संस्कार के अनन्तर गुरु के पास जाकर वेदाध्ययन की भी प्रथा थी। प्रचिनकाल में स्त्रियों के भी मौजी-बंधन का उल्लेख मिलता है। षिक्षा प्राप्त बालिकाओं में से कुछ तो विवाह कर गृहस्थी के कार्य मे जुट जाती थी, परन्तु कतिपय आजन्य ब्रह्मचारिणी (ब्रह्मवादिनी के नाम से प्रख्यात) बनकर बिद्या तथा अध्यात्म की उपासना में अपनी जीवन-यापन करती थी। समाज का प्रत्येक व्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। पुत्र के लिए वैदिक शब्द 'वीर' (= लैटिन वीरूस) है, जो अवन्तार काल में शौर्य-मण्डित भक्ति के अर्थ में आनेलगा।

विवाह प्रथा एवं स्त्री—

यह भ्रात धारणा फैली है कि यजुर्वेद के युग में कन्या अपने पति का वरण स्वयं कर लेती थी, उसके माता-पिता का इस कार्य में किसी प्रकार नियन्त्रण या नियमन नहीं था। सत्य इसके ठीक विपरित द्रष्टव्य होता है। केवल क्षत्रि वंशोंत्पन्ना कन्याओं के लिये स्वयंवर प्रथा थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सा होवाच यस्मै माँ पिताऽदात्रैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति। अर्थात् मेरे माता-पिता ने मुझे जिस पति के हवाले किया है मैं उसे जीते ही नहीं छोडूँगी। एक पति की अनेक पत्नियाँ होती थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार महिषि जो कि क्षत्रिय होने के साथ-साथ पटरानी होती है। इस युग मकें नारी का गृहस्थी मैं का महत्व था दूहिता के रूप में, पत्नी या माता के में वह सर्वथा सम्मानजनक थी। स्त्री सहधर्मिणी थी उसी के में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान वस्तुतः सम्पन्न होता हैं इसलिये अपत्निक व्यक्ति यज्ञ के अधिकार से वंचित था। अयज्ञो व ध्येष योऽपत्नीकः (तै०ब्रा० 2/2/2/6)। नारी की शिक्षा सुव्यवस्थित रूप में दृष्टिगोचर होती है। समाज के उच्च स्तर पर की कन्याओं में उपनयन संस्कार का प्रचलन था। इस तथ्य की सूचना 'पूरा कल्पे तु नारीणां मौंजी बन्धन मिण्यतें' आदि प्रख्यात स्मृति-वचनों के द्वारा प्राप्त होती है। उपनयन के अनन्तर उन्हें सुव्यवस्थित शिक्षण दिया जाता था। आठ

वर्ष से आरम्भ कर लगभग 9 वर्षों तक वे उन सभी विधाओं का शिक्षण प्राप्त करती थीं, जो उन्हें सद्गृहिणी बनाने पर्याप्त सहायक होती थीं। संगीत की शिक्षा भी उन्हीं दी जाती थी, परन्तु अधिकतर उन्हें धार्मिक शिक्षा ही दी जाती थी। यजमान-पत्नी के रूप में वे अग्नयाधान करने वाले अपने पतिदेव के धार्मिक कृत्यों के हाथ बटाती थी। अग्नि के परिचरण के समय वे तत्तत् विशिष्ट मन्त्रों के उच्चारण के संग हवन-कार्य का सम्पादन करती थी। यह तभी सम्भव हो सकता था, जब उन्हें मन्त्रों के अध्ययन का अवसर छात्र-जीवन में मिलता हो। अध्ययन का कार्य उन्हें अपने घर पर ही किसी पुरुष के द्वारा करना पढ़ता था। नियन्त्रण की प्रवृत्ति इस युग में दृश्टिगोचर होती है, अर्थात् यज्ञों के जिन भागों में स्त्रियाँ विशेष रूप से कार्य करती थी, उसके नियन्त्रण के कारण वे अंश पुरुषों के द्वारा किये जाने लगे। रूद्रयाग तथा सीतागण जैसे कतिपय भागों का सम्पादन स्त्रियों का ही विशिष्ट अधिकार अब भी माना जाता था, और शिक्षित स्त्रियाँ इन यागों का कृत्य विधिवत् सम्पन्न करती थी।

तत्कालीन जीवन— तत्कालीन आर्यों का समाज कृशीबल समाज था, जो एक निश्चित स्थान पर अपनी बस्त्याँ बनाकर पशु-पालन तथा कृषि कर्म में सतत् निरत रहता था। इनका जीवन अधिकतर ग्राम्य था। नगरिय जीवन की सत्ता भी मिलती है। देश में ग्राम फैले हुए थे कुछ ग्राम के नजदीक होते थे, कुछ दूर, परन्तु आपस में सड़कों के द्वारा जुड़े रहते थे। गाँव में केवल मनुष्य ही नहीं अपितु, गाय, बैल, बकरी तथा भेड़ों के झुण्ड तथा रखवाली के लिये कुत्ते भी रहते थे। कृशीबल समाज होने के कारण आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि अथवा पशु-पालन था। गायों को दूहने का कार्य गृहपति के पुत्री के जिम्मेदारी जो इसी कारण 'दुहिता' कहलाती थी।

इनका भोजन सीधा-सादा, स्वास्थ्यवर्धक तथा सात्त्विक होता था, जिसमें दूध और घी की प्रचुरता रहती थी। जौ की रोटी और चावल (धान) का भात। तर्पण के समय तिल के साथ जौ तथा धान का प्रयोग किया जाता था। आटे को दही में मिलाककर 'करम्अ' तथा चावल को दूध मिलाकर 'क्षीरोदन' बनाया जाता था तथा उसे देवताओं को भेट किया जाता था। दूध में सोमरस मिलाकर पीने की चाल थी। दही का उपयोग भोजन स्वतन्त्र रूप से भोजन किया जाता था। बेर का फल बारा था क्योंकि इसके अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। बेर के साधारण शब्द है बदर और कर्कन्धु पर कोमल वदरी फल को 'कुवल' के नाम से पुकारते थे। भोजन को मीठा बनाने के लिए 'मधु' का प्रयोग किया जाता था तथा देवताओं को समर्पित किया जाता था। ये लोग गन्ने से भली-भॉति परिचित थे। सोमरस का रंग-भूरा (वभ्रु), लाल (अरूण, अरूश) बतलाया गया है और इसका गन्ध नितान्त सुरभि। मधुरता की प्रचुरता के लिये इसमें दूध मिलाते थे, जिसे 'गवाशीर' कहते है।

पुर-वैदिक ग्रन्थों में 'पुर' तथा 'पुर' दोनों शब्द मिले रहते हैं, परन्तु दोनों के अर्थ में तनिक पार्थक्य सा प्रतीत होता है। त्रिपुर (तैत्ति०सं० 6/23 शत० 6/3/3/24 ऐत० 2/99) तथा महापुर (तै० सं० 6/2/3/9412 से०1/23/2) शब्द निःसन्देह किसी बड़े निवास स्थान के लिए प्रयुक्त किये गये है। 'त्रिपुर' का संकेत उस शहर से जान पड़ता है जिसमें किलाबन्दी की तीन कतारें खेड़ी की गई थी 'महापुर' तो निश्चित ही किसी तृहत आकार वाले किलाबन्दी किये गये नगर को बतलाता है। ये शब्द उस काल में प्रयुक्त किये गये हैं जब आर्य लोग बड़ी जातियों का प्रधान राजाधानियों से परिचित हो चले थे। इस युग में वे काम्पिल (पांचालों की राजधानी) आसन्दीवन्त (कुरुराजधानी) तथा कौशाम्बी नगरियों से भली-भॉति परिचित हो गये थे। एकादश द्वारा पुर तथा 'नव द्वारं पुरं का औप निपद उल्लेख इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। इन शब्दों में शरीर की उपमा नौ द्वारवाले या ग्यारह द्वारवाले पुर से दी गई है, परन्तु जब तक आर्यों ने इतने दरवाजा वाले बड़े नगरों को न देखा होगा, तब तक ऐसी उपमा के प्रयोग करके का अवसर व आया होगा।

वस्त्र एवं परिधान—

इस समय साधारण परिधान का विधान नहीं था। परन्तु वस्त्र और परिधान ऊनी सूती और रेशमी हुआ करते थे। अजिन तथा कुश के बने वस्त्रों के बने वस्त्रों के पहनने की चाल यज्ञ के पवित्र अवसर पर ही जरूर

परन्तु साधारण परिधान नहीं था। दीक्षित पुरुष के शिक्षा के अवसर पर मृगचर्म पहनने का विधान था। वस्त्र के ऊपर शरीर के ढक जाने पर भी-कृष्णजिन पहनने के विधान से यही सूचित है कि प्राचीनता तथा पवित्रता का ख्याल कर शुभ अवसरों पर इस पवित्र वस्त्र का व्यवहार इस समाज को उसी प्रकार अभीष्ट था, जिस प्रकार सोमयाग के अवसर पर दीक्षित यजमान को बाँस के बने मण्डप में रहने की तथा दीक्षिता यजमान-पत्नी को अधोवस्त्र के ऊपर कुश के बने वस्त्र पहनने की विधि ब्राह्मणों में ही नई है। अधिवास के वर्णन प्रतीत होता है कि वह लम्बा-ठीला चोला था, जिसे राजा लोग धोती तथा कुर्ते के ऊपर पहना करते है। अधिकतर-सम्भव है कि यह शरीर के ऊपरी भाग ढकने वाला दुपट्टा था।

यातयात के साधन—

यातायात के प्रधान साधन रथ था। वैदिक युग में रथ संचरण क्रीड़ा तथा युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे। राज्य की सेना में रथियों का प्रधान स्थान था। उत्सवों में रथों की दौड़ा हुआ करती थी। उसमें सम्मिलित होने वाले रथ एक चक्राकार रंग स्थल में तेजी से दौड़ाये जाते थे। उस युग में रथ की निर्माण विधि का भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है। रथ लड़कों का वक्ता था। जिसमें उसका अक्ष (दोनो पहियों को जोड़ने वालो डंडा) 'आरटू' नामक लकड़ी का बनता था। अक्ष तथा युग (जुये) को जोड़ने वाला डंडा भी लकड़ी का बनता था। और ईशा दण्ड कहलाता था। ईशा को जुये में किये गये छेद (तर्द्धन) में बैठायाय जाता था। और उसे योक्तक से बांध दिया जाता था। ईशा का जो भाग जूये से आगे की ओर निकला रहता था 'प्रउग' कहलाता था। घोड़े या बैल जुआ कन्धे पर रखने के समय इधर-उधर भाग न जॉय इसलिए जूए के दोनो ओर छोटे-छोटे डंडे पहिना दिया जाते थे। चक्र की बाहरी गोलाई को (प्रार्थी) तथा भीतरी भाग को 'पति' और दोनों को मिलाकर 'नेवि' कहते थे। तीलियों को 'अर या अरा' कहते थे। अक्ष के दोनो ओर उन्हें मजबूत बनाने ओर दौड़ते समय खिसकने न देने के लिए लगाई गई छोटी लकड़ियों आणि कहलाती थीं। अक्ष के ऊपर रथ का मुख्य भाग होता था। जो कोश या 'बन्धुर' कहा जाता था। कोश के भीतरी भाग 'नीड़' तथा अलग-बगल के हिस्से को 'पक्ष' कहते थे। रथ में योद्धा के बैठने का स्थान 'गर्ता' कभी-कभी बन्धुरा भी कहा जाता या वह सारथि के दाहिने पार्ष्व में बैठता था। रथ के ऊपरी भाग को 'रथशीर्ष' कहते थे। रथ के वेग को घटाने के लिए या आवश्यकता पड़ने पर रथ को सहारा देने के लिए भी ईषा दण्ड से एक भारी सी लकड़ी नीचे की ओर लटकाई जाती थी जिसे कस्तंभी या अपालम्ब कहते थे। बहुधा रथ में या चार घोड़े जोते थे। कभी-कभी तीन घोड़े भी जाते थे। इस तीसरे घोड़े का नाम 'प्रष्टि' था। जैसे कभी-कभी एक घोड़े से भी काम चलाना पड़ता था। सारथी लगाम तथा चाबुक (प्रतोद) से रथ का संचालन करता था। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि रथों का वर्गीकरण रभांग के किसी वैशिष्टय के आधार पर किया जाता था। वाहकों के आधार पर वृष रथ, शडश्व पंचवाही आदि। रथभागों के आधार पर त्रिबन्धुर सप्त, हिरण्यचक्र हिरण्य प्रउग आदि नाम होते थे।

बहुविकल्पीय प्रश्न—

यजुर्वेद का प्रमुख भेद है-

(क) ब्रह्म **(ख)** तैत्तिरीय

(ग) मैत्रायिणी **(ग)** कठ

काण्व शाक्षा के अंतर्गत आता है-

(क) शुक्लयजुर्वेद **(ख)** ऋग्वेद

(ग) कृष्णयजुर्वेद **(ग)** सामवेद

मैत्रायणी शाक्षा मूल रूप से है-

(क) गद्यात्मक **(ख)** गद्यपद्यात्मक

(ग) पद्यात्मक **(ग)** इनमें से कोई नहीं

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) शुक्ल यजुर्वेद में.....अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मन्त्रों का ही संकलन है।

(ख) शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र संहिता.....के नाम से प्रसिद्ध है।

(ग) इठिमिका.....संहिता का खण्ड है।

निचे कुछ वाक्य दिए गये जिनमें सही के सामने सही (√) तथा गलत वाक्य सामने गलत (×) का निशान लगाये।

(क) कठ संहिता शुक्ल वेद के अन्तर्गत आता है ( )

(ख) मैत्रायिणी कृष्ण यजुर्वेद की शाखा है ( )

(ग) आदित्य सम्प्रदाय शुक्ल यजुर्वेद को कहा गया है ( )

3.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप यजुर्वेद की मुख्य विषयों का जान गये होगे जिसमें कि यजुर्वेद भेद उसकी शाखाएं, उसमें वर्णित विषय तथा यजुर्वेदिय धर्म एवं समाज पर प्रकाश डाला गया है। यजुर्वेद के दोनों भेद ब्रह्म तथा आदित्य को ही क्रमश: कृष्ण तथा शुक्ल के रूप जाने गये है। तथा कृष्ण और शुक्ल में पृथकत्व का कारण भी इस इकाई के माध्यम से आपकों स्पष्टतः द्रष्टव्य होगा। जिससे आप यजुर्वेदीय विषय-वस्तु को अध्ययन अत्यन्त सरलता के साथ कर सके।

वेदज्ञ की प्रशंसा में मनु की उक्ति बड़ी मार्मिक है-वेदशास्त्र के तत्व को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वही इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। जब भारतीय धर्म की जानकारी के लिए वेदों को इतना महत्व प्राप्त है, तब इनका अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए।

3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1-(क) **2-**(क) **3-**(ख)

4- (क) दर्शपौर्णमासादि **(ख)** वाजशनेयी शाखा **(ग)** कठ

5-(क) (×) **(ख)** (√) **(ग)** (√)

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य और संस्कृत
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय-भागवत सम्प्रदाय
3. मूलयजुर्वेद संहिता-महर्षि देवरात

3.8 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास -उमाशंकर शर्मा 'श्रर्षि'
2. सस्कृत वाड्मय का वृहद् इतिहास-पद्मश्री आचार्य बलदेव उपाध्याय

3.9 निबन्धात्मक प्रष्न

1. यजुर्वेद के वर्ण्य विषय प्रकाश डालते हुए प्रमुख सम्प्रदायों की विवेचना कीजिए।
2. यजुर्वेद की प्रमुख शाखाओं का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

इकाई.4 सामवेद - परिचय एवं समय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 सामवेद-अर्थ, स्वरूप, शाखाएँ
    4.3.1 सामवेद का अर्थ
    4.3.2 सामवेद का स्वरूप
    4.3.3. सामवेद की शाखाएँ
4.4 सामवेद का वर्ण्य-विषय
4.5 साम गान पद्धति
4.6 सारांश
4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

साहित्य के रूप में सम्पूर्ण वैदिक-वाड्.मय महत्वपूर्ण है, आवश्यकता के अनुसार वेद का साहित्य वढ़ता गया और ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद्-साहित्य क्रमशः विकसित हुए। प्राचीन काल से लेकर आजतक वेद-वाड्.मय सम्पूर्ण विश्व को विविध उपदेश देता रहा है। भारतीय साहित्य में नास्तिकों ने वेद की निन्दा भले ही की हो किन्तु साहित्य और जन-सामान्य का बहुसंख्यक वर्ग उसकी प्रंशसा मुक्तकण्ठ से करता रहा है। आस्तिक दर्शन ईश्वर, ईश्वर की वाणी के रूप में या अपौरूषेय शब्दराशि के रूप में वेदों को देखते रहे है वेद आगम-प्रमाण है, समस्त ज्ञान के स्रोत है, शब्दा-रूप वेद से संसार के समस्त अर्थ निर्मित हुए है। कौटिल्य के अनुसार ''त्रयी विद्या'' धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरूपण करती है। वेदों से लोग अपने जीवन-दर्शन को संचालित कर सकते है।

वेदत्रयी के अन्तर्गत गान का मुख्य केन्द्र अर्थात् सामवेद है। इनमें उन मन्त्रों का संकलन है जो गान के योग्य समझे गये मीमांसा सूत्र में सामन् अर्थात् गान का वेद सामवेद है, माना गया है। उद्गाता ऋचाओं का शास्त्रीय तथा परम्परागत गान करता है इसीलिए सामवेद का औद्गात्र-वेद भी कहते है। यह वेद मुख्यतः उपासना से सम्बद्ध है, सोमयाग में आवाह्न के योग्य देवताओं की स्तुतियाँ इससे प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद की धर्मविषयक सामग्री से पृथक यहाँ कुछ नहीं है। अध्यात्मवादियों की दृष्टि में सोम ब्रह्म या शिव है जिसकी प्राप्ति का साधन उपासना है-सामवेदिक संगीत एवं भक्ति के रूप में यह उपासना होती है।

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से सामवेद के समस्त विषयों पर बड़ी ही सूक्ष्मता से प्रकाश डाला गया है। वेद तो ज्ञान का ब्रह्माण है इसके समस्त ज्ञान सम्भव नहीं परन्तु इनता प्रयास अवश्य किया गया है कि आप सामवेद में वर्णित विषयों का साधारणतः अध्ययन कर अपनी प्रतिभा चक्षु को और अधिक विकसित कर सकें।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई की सहायता से आप—

- सामवेद के अर्थ तथा स्वरूप के विषय में जान सकेंगे।
- सामवेदीय शाखाओं का अध्ययन कर सकेंगे।
- सामवेद में वर्णित विषय से परिचित हो सकेंगे।
- सामगान की विधि को जान सकेंगे।

4.3 सामवेद-अर्थ, स्वरूप, शाखाएं

अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर साम की विशिष्ट स्तुति ही नहीं की गई है, प्रत्युत परमात्मभूत 'उच्छिष्ट' (परब्रह्म) तथा 'स्कम्भ' से इसके आविर्भाव का भी उल्लेख किया गया मिलता है। एक ऋषि पूछ रहा है जिस स्कम्भ के साम लोभ हैं वह स्कम्भ कौन सा है ? दूसरे मन्त्र में ऋक् साथ साम का भी आविर्भाव 'उच्छिकष्ट' से बतलाया गया है। एक तीसरे मन्त्र में कर्म के साधनभूत ऋक् और साम की स्तुति का विधान किया गया है। इस प्रशंसा के अतिरिक्त विशिष्ट सामों के अभिधान प्राचीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिससे इन सामों की प्राचीनता निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है। ऋग्वेद में वैरूप, बृहत्, रैवत, गायत्र भद्र आदि सामों के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद में रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्व, रैवत, अभीवर्त तथा ऐतरेय ब्राह्मण में नौधस, रौरय यौधराजय, अग्निष्टोमीय आदि विशिष्ट सामों के नाम निर्दिष्ट किये गये मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साम-गायन अर्वाचीन न होकर अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के समय में भी इन विशिष्ट गायनों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है।

4.3.1 सामवेद का अर्थ

साम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया मिलता है। ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुतः 'साम' शब्द के वाच्य हैं, परन्तु ऋक् मन्त्रों के लिए भी 'सम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पहिले कहा जा चुका है कि साम-संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज के लिये किया गया है, तथा यह उद्गाता देवता के स्तुतिपरक मन्त्रों को ही आवश्यकतानुसार विविध स्वरों में गाता है। अतः साम का आधार ऋक् मन्त्र ही होता है यह निश्चित ही है- (ऋचि अध्यूढं साम-छा०उ०1/6/1)। ऋक् और साम के इस पारस्परिक गाढ़ सम्बन्ध को सूचित करने के लिये इन दोनों में दाम्पत्य-भाव की भी कल्पना की गई है। पति संतानोत्पादन के लिये पत्नी को आखान करते हुए कह रहा है कि मैं सामरूप पति हूँ, तुम ऋक्रूपा पत्नी हो; मैं आकाश हूँ और तुम पृथ्वी हो। अतः आवो, हम दोनों मिलकर प्रजा का उत्पादन करें। गीतिशु सामाख्या' इस जैमिनीय सूत्र के अनुसार गीति को ही 'साम' संज्ञा प्रदान की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'स्वर' साम का स्वरूप बतलाया है। अतः निश्चित है कि 'साम' शब्द से हमें उन गानों को समझना चाहिये जो भिन्न-भिन्न स्वरों में ऋचाओं पर गाये जाते है।

'साम' शब्द की एक बड़ी सुन्दर निरुक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् में दी गई है-''सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्''-वृह०उ०1/3/22। 'सा' शब्द का अर्थ है ऋक् और 'अम' शब्द का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः 'सम' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वरप्रधान गायन-''तया सह सम्बद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्तते तत्साम।'' जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते हैं उनको वैदिक लोग 'साम-योनि' नाम से पुकराते है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस साम-संहिता का वर्णन किया जा रहा है वह इन्हीं सामयोनि ऋचाओं का संग्रहमात्र है, अर्थात् साम-संहिता में केवल सामौपयोगी ऋचाओं का ही संकलन है, उन गायनों का नहीं, जो साम के मुख्य वाच्य हैं। ये साम 'गान-संहिता' में संकलित किये गये है।

4.3.2 सामवेद का स्वरूप

सामवेद के दो प्रधान भाग होते है-आर्चिक तथा गान। आर्चिक का शाब्दिक अर्थ है ऋक्-समूह जिसके दो भाग हैं-पूर्वाचिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वाचिक में 6 प्रपाठक या अध्याय है। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध या खण्ड है और प्रत्येक में एक 'दशति' और हर एक 'दशति' में ऋचायें है। 'दशति' शब्द से प्रतीत होता है कि इनमें ऋचाओं की संख्या दश होनी चाहिए, परन्तु किसी खण्ड में यह दस से कम है और कहीं दस से अधिक। दशतियों में मन्त्रों का संकलन छन्द तथा देवता की एकता पर निर्भर है। ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों के भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा दृश्ट भी ऋचायें एक देवता-वाचक होने से यहाँ एकत्र संकलित की गई है। प्रथम प्रपाठक को आग्नेय काण्ड (या पर्व) कहते हैं, क्योंकि इसमें अग्नि-विषयक ऋग् मन्त्रों का समवाय उपस्थित किया गया है। द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इन्द्र की स्तुति होने से 'ऐन्द्र-पर्व' कहलाता है। पंच्चम अध्याय को 'पवमान पर्व' कहते हैं, क्योंकि यहाँ सोम-विषयक ऋचायें संगृहीत हैं, जो पूरी की पूरी ऋग्वेद के नवम् (पवमान) मण्डल से उद्धृत की गई है। षष्ठ प्रगाठक को 'आरण्यक पर्व' की संज्ञा दी गई है; क्योंकि देवताओं तथा छन्दों की विभिन्नता होने पर भी इनमें गान-विषयक एकता विद्यमान है। प्रथम से लेकर पंच्चमाध्याय तक की ऋचायें तो 'ग्राम-गान' कही जाती है, परन्तु शष्ठ अध्याय की ऋचायें अरण्य में ही गाई जाती है।

उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक है। पहले पाँच प्रपाठकों में दो-भाग है, जो 'प्रपाठ-कार्घ कहे जाते हैं, परन्तु अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्ध है। राणायनीय शाक्षा के अनुसार है। कौथुम शाक्षा में इन अर्ध को अध्याय तथा दशतियों को खण्ड कहने की चाल है। उत्तरार्चिक के समग्र मन्त्रों की संख्या बारह सौ पच्चीस (1225) हैं अतः दोनों आर्चिकों की सम्मिलित मन्त्र-संख्या अठारह सौ पचहत्तर (1875) है। ऊपर कहा गया है

कि साम ऋचायें ऋग्वेद से संकलित की गई है, परन्तु कुछ ऋचायें नितान्त भिन्न हैं, अर्थात् उपलब्ध शाकल्य-संहिता में ये ऋचायें बिलकुल नहीं मिलती। यह भी ध्यान देने की बात है कि पूर्वाचिक के 267 मन्त्र (लगभग तृतीयांश से कुछ ऊपर ऋचायें) उत्तरार्चिक में पुनरुल्लिखित किये गये हैं। अतः ऋग्वेद की वस्तुतः पन्द्रह सौ चार (1504) ऋचायें ही सामवेद में उद्धृत हैं। सामान्यरूपेण 75 मन्त्र अधिक माने जाते हैं, परन्तु वस्तुतः संख्या इससे अधिक है। 99 ऋचायें एकदम नवीन हैं, इनका संकलन सम्भवतः ऋग्वेद की अन्य शाखाओं की संहिताओं से किया गया होगा। यह आधुनिक विद्वानों की मान्यता है।

ऋग्वेद की ऋचायें 1504 + पुनरुक्त 267=1771

नवीन '' 99 + '' 5=1771

सामसंहिता की सम्पूर्ण ऋचायें=1675 (अठारह सौ पचहत्तर)

ऋक्-साम के सम्बन्ध की मीमांसा—

ऋग्वेद तथा सामवेद के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा यहाँ अपेक्षित है। वैदिक विद्वानों की यह धारणा है कि सामवेद उपलब्ध ऋचायें ऋग्वेद से ही गान के निमित्त गृहीत की गई है, वे कोई स्वतन्त्र ऋचायें नहीं है। यह बद्धमूल धारणा नितान्त भ्रान्त है। इसके अनेक कारण है-

(क) सामवेद की ऋचाओं में ऋग्वेद की ऋचाओं से अधिकतर आंशिक साम्य है। ऋग्वेद का 'अग्नेयुक्ष्वा हि ये तवाऽश्वासो देव साधवः। अरं बहन्ति मन्यवे (6/16/43) सामवेद में 'अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासों देव साधवः। हरं वहन्त्याशवः' रूप में पठित है। ऋग्वेद का मन्त्रांश 'अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिश्कृणोति सूनरी' (7/81/1) सामवेद में 'अपो मही वृणुते चक्षुशा तमो ज्योतिष कृणोति सूनरी' रूप धारण करता है। इस आंशिक साम्य के तथा मन्त्र में पादव्यत्यय के अनेक उदाहरण सामवेद में मिलते है। यदि ये ऋचायें ऋग्वेद से ही ली गई होती, तो वे उसी रूप में और उसी क्रम में गृहीत होतीं, परन्तु वस्तुस्थिति सभी नहीं है।

(ख) यदि ये ऋचायें गायन के लिए ही सामवेद में संगृहीत है, तो कवेल उतने ही मन्त्रों का ऋग्वेद से सकलन करना चाहिए था, जितने मन्त्र गान या साम के लिए अपेक्षित होते। इसके विपरीत हम देखते हैं कि सामसंहिता में लगभग 450 ऐसे मन्त्र है, जिन पर गान नहीं है। ऐसे गानानपेक्षित मन्त्रों का सकलन सामसंहिता में क्यों किया गया है?

(ग) सामसंहिता के मन्त्र ऋग्वेद से ही लिए गये होते, तो उनका रूप ही नहीं, प्रत्युत उनका स्वरनिर्देश भी, तद्वत् होता। ऋग्वेद के मन्त्रों में उदात अनुदात्त तथा स्वरित स्वर पाये जाते हैं, जब सामवेद निर्देश 1, 2, तथा 3 अंकों के द्वारा किया गया है जो 'नारदीशिक्षा' के अनुसार क्रमश: मध्यम, गान्धार और ऋषभ स्वर हैं। ये स्वर अंगुष्ठ, तर्जनी तथा मध्यमा अंगुलियों के मध्यम पर्व पर अंगुष्ठ का स्पर्श करते हुए दिखलायें जाते हैं। साममन्त्रों का उच्चारण ऋक्मन्त्रों के उच्चारण से नितान्त भिन्न होता है।

(घ) यदि सामवेद ऋग्वेद के बाद की रचना होती, (जैसा आधुनिक विद्वान् मानते है), तो ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर साम का उल्लेख कैसे मिलता ? अंगिरसा सामभिः स्तूयमानाः (ऋ॰ 1/107/2), उद्गातेव शकुने साम गायति (2/43/2), इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते वृहत् (8/98/1)-आदि मन्त्रों में सामान्य साम का भी उल्लेख नहीं है, प्रत्युत 'बृहत्साम' जैसे विशिष्ट साम का भी उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (2/23) का तो स्पष्ट कथन है कि सृष्टि के आरम्भ में ऋक् और साम दोनों का अस्तित्व था (ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्ताम्)। इतना ही नहीं, यज्ञ की सम्पन्नता के लिए होता, अध्वर्यु तथा ब्रह्म नामक ऋत्विजों के साथ 'उद्गाता' की भी सत्ता सर्वथा मान्य है। इन चारों ऋत्विजों के उपस्थित रहने पर ही यज्ञ की समाप्ति सिद्ध होती है और 'उद्गाता' का कार्य साम का गायन ही तो है ? तब साम की अर्वाचीनता क्यों नहीं विश्वसनीय है। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है कि परमेश्वर ने यज्ञसिद्धि के लिए अग्नि, वायु तथा सूर्य से क्रमश: सनातन ऋक् यजुः तथा

सामरूप वेदों का दोहन किया (मनुस्मृति 1/23) 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्' में वेदों के लिए प्रयुक्त 'सनातन' विशेषण वेदों की नित्यता तथा अनादिता दिखला रहा है। 'दोहन' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

(ड.) साम का नामकरण विशिष्ट ऋषियों के नाम किया गया मिलता है, तो क्या वे ऋषि इन सामों के कर्ता नहीं है? इसका उत्तर है कि जिस साम से सर्वप्रथम जिस ऋक् को इष्ट प्राप्ति हुई, उस साम का वह ऋषि कहलाता है। ताण्डय ब्राह्मण में इस तथ्य के द्योतक स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है। ''वृषा शोणों 'अभिकनिक्रदत्' (ऋ०9/97/13) ऋचा पर साम का नाम 'वसिष्ट' होने का यही कारण है कि बीडु के पुत्र वसिष्ठ ने इस साम से स्तुति करके अनायास स्वर्ग प्राप्त कर लिया (वसिष्ठ भवति, वसिष्टों वा एतेन वैडवः स्तुत्वाऽज्जसा स्वर्ग लोकमपश्यत्-ताण्डय ब्रा० 11/8/13) 'तं वो दस्ममृतीशहं (9/88/1) मन्त्र पर 'नौधस साम' के नामकरण का ऐसा ही कारण अन्यत्र कथित है (ताण्डा 7/10/10)। फलतः इष्टसिद्धिनिमित्तक होने से ही सामों का ऋषिपरक नाम है, उनकी रचना के हेतु नहीं। इन प्रमाणों पर ध्यान देने से सिद्ध होता है कि सामसंहिता के मन्त्र ऋग्वेद से उधार लिये गये नहीं हैं, प्रत्युत उससे स्वतन्त्र हैं और वे उतने ही प्राचीन हैं जितने ऋग्वेद के मन्त्र। अतः सामसंहिता की स्वतन्त्र सत्ता है, वह ऋक् संहिता पर आधृत नहीं है।

4.3.3 सामवेद की शाखायें

भागवत, विष्णुपुराण तथा वायुपुराण के अनुसार वेदव्यासजी ने अपने षिश्य जैमिनि को साम की शिक्षा दी। कवि जैमिनि ही साम के आद्य आचार्य के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित है। जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को, सुमन्तु ने अपने पुत्र सुन्वान को और सुन्वान ने स्वकीय सूनु सुकर्मा को सामवेद की संहिता का अध्ययन कराया। इस संहिता के विपुल विस्तार का श्रेय इन्हीं सामवेदाचार्य सुकर्मा को प्राप्त है इनके दो पट्ट-शिष्य हुए-(1) हरिण्यनाभ कौशल्य तथा (2) पौश्यञ्जि, जिनसे सामगायन की द्विविध धारा-प्राच्य तथा उदीच्य-का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। प्रश्न उपनिषद् (6/1) में हिरण्यनाभ कोशल-देशीय राजपुत्र के रूप में निर्दिष्ट किये गये है। भागवत (12/6/78) ने सामगों की दो परम्पराओं का उल्लेख किया है-प्राच्यसामगाः तथा उदीच्यसामगाः। ये दोनों भौगोलिक भिन्नता के कारण नाम निर्देश हैं। इन भेदों का मूल सुकर्मा नामक सामाचार्य के शिष्यों के उद्योगों का फल है। भागवत ने सुकर्मा के दो शिष्यों का उल्लेख किया है-(1) हिरण्यनाथ (या हिरण्यनाभी) कौशल्य, (2) पौश्यञ्जि जो अवन्ति देश के निवासी होने से 'आवन्त्य' कहे गये हैं। इनमें से अन्तिम आचार्य के शिष्य 'उदीच्य सामग' कहलाते थे। हिरण्यनाभ कौशल्य की परम्परा वाले सामग 'प्राच्य सामगाः' के नाम से विख्यात हुए। प्रश्नोंपनिषद् (6/1) के अनुसार हिरण्यनाभ कोशल देश के राजपुत्र थे। फलतः पूर्वी प्रान्त के निवासी होने के कारणउनके शिष्यों को 'प्राच्यसामगाः' नाम से विख्याति उचित ही है। हिरण्यनाभ का शिष्य पौरवंशीय सन्नतिमान् राजा का पुत्र कृत था, जिसने सामसंहिता का चौबीस प्रकार से अपने शिष्यों द्वारा प्रवर्तन किया। इसका वर्णन मत्स्यपुराण (49 अ०, 75-76 श्लो०) हरिवंश (20/41-44), विष्णु (4/19-50); वायु (41/44), ब्रह्मण्ड पुराण (35/49-50), तथा भागवत (12/6/80) में समान शब्दों में किया गया हैं। वायु तथा ब्रह्मण्ड में कृत के चौबीस शिष्यों के नाम भी दिये गये हैं। कृत के अनुयायी होने के कारण ये साम आचार्य 'कार्त' नाम से प्रख्यात थे-(मस्त्य पुराण 49/76)-

चतुर्विंशतिधा येन प्रोक्ता वै सामसंहिताः।
स्मृतास्ते प्राच्यसामानः कर्ता नामेह सामगाः।।

इनके लौगक्षि, माश्रि, कुल्य, कुसीद तथा कुक्षि नामक पाँच शिष्यों के नाम श्रीमद्भागवत (12/6/69) में दिये गये हैं, जिन्होंने सौ-सौ सामसंहिताओं का अध्यापन प्रचलित कराया। वायु तथा ब्राह्मण्ड के अनुसार इन षिश्यों के नाम तथा संख्या में पर्याप्त भिन्नता दीख पड़ती है। इनका कहना है कि पोष्पिञ्जि के चार शिष्य थे-इन पुराणों में, विशेषरूप से दिया गया है। नाम धाम में जो कुछ भी भिन्नता हो, इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि

सामवेद के सहस्र शाखाओं से मण्डित होने में सुकर्मा के ही दोनों षिश्य-हिरण्यनाभ तथा पौश्पिज्जि-प्रधानतया कारण थे। पुराणोपलब्ध सामप्रचार का यही संक्षिपत वर्णन है।

सामवेद की कितनी शाक्षायें थी? पुराणों के अनुसार पूरी एक हजार, जिसकी पुष्टि पतञ्जलि के 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' वाक्य से भली-भॉति होती है। सामवेद गानप्रधान है। अतः संगीत की विपुलता तथा सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर विचारने से यह संख्या कल्पित सी नहीं प्रतीत होती, परन्तु पुराणों में कहीं भी इन सम्पूर्ण शाखाओं का नामोल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इसलिये अनेक आलोचकों की दृष्टि में 'चर्त्म' शब्द शाखावाची न होकर केवल सामगायनों की विभिन्न पद्धतियों को सूचित करता है। जो कुछ भी हो, साम की विपुल बहुसंख्यक शाखायें किसी समय अवश्य थीं, परन्तु दैवदुर्ग से उनमें से अधिकांश का लोप इस ढंग से हो गया कि उनके नाम भी विस्मृति के गर्त में विलीन हो गये।

आजकल प्रपच्चहृदय, दिव्यावदान, चरणव्यूह तथा जैमिनि गृह्यसूत्र (1/14) के पर्यालोचन से 13 शाखाओं के नाम मिलते हैं। सामतर्पण के अवसर पर इन आचार्यों के नाम तर्पण का विधान मिलता है- 'राणायन -सातयमुगि-व्यास -भागुरि -औलुण्डि -गौल्मुलवि-भानु-मानौपमन्यव-काराटि-मशक-गार्ग्य-वार्षगण्यकौथुमि-शालिहोत्र-जैमिनि-त्रयोदषैते ये स्रामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः'। इन तेरह आचार्यों में से आजकल केवल तीन ही आचार्यों की शाखायें मिलती हैं-(1) कौथुमीय (2) राणायनीय तथा (3) जैमिनीय। एक बात ध्यान देने योग्य है कि पुराणों में उदीच्य तथा प्राच्य सामगों के वर्णन होने पर भी आजकल न उत्तर भारत में साम का प्रचार है, न पूर्वी भारत में, प्रत्युत दक्षिण तथा पश्चिम भारत में आज भी इन शाखाओं का यत्किन्चित प्रकार है। संख्या तथा प्रचार की दृष्टि से कौथुम शाखा विशेष महत्वपूर्ण हैं इसका प्रचलन गुजरात क ब्राह्मणों में, विशेषतः नागर ब्राह्मणों में है। राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय कर्नाटक में तथा सुदूर दक्षिण के तिन्नेवेली और तञ्जौर जिले में मिलती जरूर है, परन्तु इनके अनुयायियों की संख्या कौथुमों की अपेक्षा अल्पतर है।

(1) कौथुम शाखा—

इसकी संहिता सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसी का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है। इसी की ताण्ड्य नामक शाक्षा भी मिलती है, जिसका किसी समय विशेष प्रभाव तथा प्रसार था। शंकराचार्य ने वेदान्त-भाष्य के अनेक स्थलों पर इसका नाम निर्देशन किया है, जो इसके गौरव तथा महत्त्व का सूचक है। पच्चीस काण्डात्मक विपुलकाय ताण्ड्य -ब्राह्मण इसी शाक्षा का हैं सुप्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी शाखा से सम्बन्ध रखती है। इसका निर्देश शंकराचार्य ने भाष्य में स्पष्टतः किया है।

(2) राणायनीय शाखा—

इसकी संहिता कौथुमों से कथमपि भिन्न नहीं है। दोनों मन्त्र-गणना की दृश्टि एक ही है। केवल उच्चारण में कहीं-कहीं पार्थक्य उपलब्ध होता है। कौथुमीय लोग जहाँ 'हाउ' तथा 'राइ' कहते हैं, वहाँ राणयनीय गण 'हाबु' तथा 'रायी' उच्चारण करते हैं। राणायनीयों की एक अवान्तर शाखा सात्यमुग्रि है जिसकी एक उच्चारणविशेषता भाषा-विज्ञान की दृष्टि से नितान्त आलोचनीय है। आपिशली शिक्षा तथा महाभाष्य ने स्पष्टतः निर्देश किया है कि सत्यमुग्रि लोग एकार तथा ओंकार का स्वर उच्चारण किया करते थे। आधुनिक भाषाओं के जानकारी को याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्राकृत भाषा तथा आधुनिक प्रान्तीय अनेक भाषाओं में 'ए' तथा 'ओ' का उच्चारण ह्रस्व भी किया जाता है। इस विशेषता की इतनी प्राचीन और लम्बी परम्परा है; भाषाविदों के लिए यह ध्यान देने की वस्तु है।

(3) जैमिनीय शाखा—

हर्ष का विषय है कि इस मुख्य शाखा के समग्र अंश संहिता, ब्राह्मण श्रोत तथा गृह्सूत्र-आजकल उपलब्ध हो गये है। जैमिनीय संहिता नागराक्षर में भी लाहौर से प्रकाशित हुई हैं इसके मन्त्रों की संख्या 687 है,

अर्थात् कौथुम शाखा से एक सौ बयासी (182) मन्त्र कम हैं। दोनों में पाठभेद भी नाना प्रकार के हैं। उत्तरार्चिक में ऐसे अनेक नवीन मन्त्र है जो कौथुमीय संहिता में उपलबध नहीं होते, परन्तु जैमिनीयों के सामगान कौथुमों से लगभग एक हजार अधिक है। कौथुमगान केवल 2722 हैं, परन्तु इनके सथान पर जैमिनीय गान छत्तीस सौ इक्यासी (3681) है। इन गानों के प्रकाशन होने पर दोनों की तुलनात्मक आलोचना से भाषाशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का परिचय मिलेगा। तवलकर शाखा इसकी अवान्तर शाखा है, जिससे लघुकाय, परन्तु महत्वशाली, केनोपनिषद् सम्बद्ध है। ये तवलकार जैमिनि के शिष्य बतलायें जाते हैं।

ब्राह्मण तथा पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि साममन्त्रों, उनके पदों तथा सामगानों की संख्या अद्यावधि उपलब्ध अंशों से कहीं बहुत अधिक थी। शतपथ में साममन्त्रों के पदों की गणना चार सहस्र बृहती बतलाई गई है, अर्थात् 4 हजार × 36 = 1,44,000, अर्थात् साममन्त्रों के पद एक लाख 44 हजार थे। पूरे सामों की संख्या थी आठ हजार तथा गायनों की संख्या थी चौदह हजार आठ सौ बीस 1480 (चरण ब्यूह) अनेक स्थलों पर बार-बार उल्लेख से यह संख्या अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होती। इस गणना में अन्य शाखाओं के सामों की संख्या अवष्य ही सम्मिलित की गई है।

कौथुम शाखीय सामगान दो भागों में है-ग्रामगान तथा आरण्यगान। यह औंधनगर से श्री ए॰ नारायण स्वामिदीक्षित के द्वारा सम्पादित होकर 1999 विक्रम सं॰ में प्रकाशित हुआ है।

जैमिनीय साम-गान का प्रथम प्रकाशन संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से 2033 वि॰सं॰ में हुआ है। यह सामगान पूर्वाचिक से सम्बद्ध मन्त्रों पर ही है। इसके तीन भाग है-आग्नेय, ऐन्द्र तथा पावमान। इनमें आदिम तथा अन्तिम पर्व का विशेष विभाग नहीं है, परन्तु ऐन्द्रपर्व के चार है। पूरे ग्रन्थ में गान संख्या 1224 है (एक सहस्र दो सौ चौबीस)। कौथुमीय सामसंहिता से जैमिनीय साम संहिता के पाठ में सर्वथा भेद नहीं है, परन्तु गान प्रकार सर्वथा भिन्न हैं अभी तक केवल प्रथम भाग ही प्रकाशित है। द्वितीय खण्ड हस्तलेख में ही है।

4.4 सामवेद- वर्ण्य विषय

'साम' रूढ़ शब्द है, जिसका अर्थ गान अथवा गीति है, जैसा कि जैमिनि ने 'गीतिशु सामाख्या' (जै॰सू॰ 2/1/36) में बतलाया है। गान-विशेष का रथन्तर, बृहत् आदि नामकरण है। 'साम' शब्द सामान्य गान वाची है और रथन्तर, वृहत् आदि शब्द गानविशेष के वाचक है। रथन्तर, बृहत् आदि नामकरण का प्रयोजक अध्येतृ-प्रसिद्ध ही है। गायत्रादि सभी छन्दों में सामगान है। उदाहरणार्थ-'अग्न आयाहि वीतते' (छन्द आर्थिक 1/1/1) इस गायत्र्याछन्दस्क ऋचा पर वेयगान 1/1/1 में साम है। 'पुरुत्वादाशिव' (छं॰आ॰ 2/1/1) इस 'यज्ञयज्ञा वो' (छं॰आ॰ 1/1/35) इस बृहती छन्द की ऋचा पर वेयगान 1/2/27 में साम है। 'स्वादोरित्थ विशूवतो' (छं॰आ॰ 5/1/19) इस पड्.क्तिछन्दस्क ऋचा पर वेयगान 11/1/6 में, 'आ जुहोता हविशा' (छं॰ आ॰ 1/2/9) इस त्रिष्टुप् छन्द की ऋचा पर वेयगान 2/1/34 में, चित्र इच्छिशो॰ (छं॰आ॰ 1/2/10) इस जगती छन्द की ऋचा पर वेयगान 2/1/35 में साम है। इसी प्रकार अजिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि तथा अत्यष्टि नामक अतिछन्दक ऋचाओं पर भी साम है।

समवेदीय शाखाओं का संहिता भाग में पार्थक्य कौथुमी एवं जैमिनीय शाखा के संहिता ग्रन्थों को देखनें से प्रतीत होता है। इसी प्रकार गान-भाग में भी पार्थक्य है, या नहीं ? यह अनुभवराहित्य के कारण निष्चित रूप से कहना कठिन है। सम्भव है कि संहिता भाग में पार्थक्य की तरह गान-भाग में भी कुछ वैशिष्टय हो। कौथुमी शाखा से भिन्न जैमिनीय शाखा के कुछ मन्त्र ऋग्वेद संहिता में मिलते हैं। सामों का परस्पर वैशिष्टय विकार, विश्लेषण, विकर्शण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ के कारण होता है।

यज्ञों में औद्गातृगण के चारों ऋत्विजों के कर्मकलापों में कहीं-कहीं भिन्नता और कहीं-कहीं सहकारिता है। इसका विधान श्रौतसूत्रों द्वारा अवगत हो सकता है। सामों का यज्ञों में कहीं-कहीं केवल प्रस्तोता

के लिए, तो कहीं उद्गाता के लिए गान करने का विधान है और कहीं-कहीं प्रस्ताव, उद्गीय प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन रूप से गान के पाँच भाग करके विभिन्न अंशों के विभिन्न ऋत्विजों द्वारा उच्चारण करने की विधि है।

पूर्वार्चिक का उत्तरार्चिक से यही सम्बन्ध है कि उत्तरार्चिक में जो प्रगाथ किंवा तीन-बार ऋचाओं के सूक्त है, उनमें अधिकतर पहली ऋचाएँ पूर्वाचिक में पठित हैं। पूर्वाचिंक में नानाविध सामों की योनिभूत ऋचाएँ पठित है और उत्तरार्चिक में प्रगाथ तथा तृचादि सूक्त पठित हैं। एक प्रगाथात्मक या तृचाद्यात्मक सूक्त में पूर्वार्चिकान्तर्गत योनिभूत ऋक् पहली ही और अन्य दो उत्तर ऋचाएँ हैं। पूर्वाचिक तथा उत्तरार्चिक के संबन्ध को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्तरूपेण मीमासा की हैं डाक्टर कैलेण्ड तो कभी उत्तरार्चिक को ही दोनों में अपेक्षाकृत प्राचीनतर मानते थे, परन्तु अब उन्होंने अपने ही पूर्व मत को भ्रान्त मानकर छोड़ दिया है। पूर्वाचिक के प्राचीनतर होने का यही कारण नहीं है कि यह ऋचाओं का संग्रह 'पूर्व' शब्द के द्वारा सूचित होने से काल क्रम में प्राचीन है, परन्तु इसके लिए अन्य कारण भी हैं। सामविधान ब्राह्मण में उत्तरार्चिक के मन्त्रों का उद्धरण कहीं भी नहीं है। अथर्व-परिशिष्ट (46/3/6) के अनुसार सामवेद की अन्तिम ऋचा वही है जो पूर्वार्चिक की उपान्त्य ऋचा है (सा॰सं॰ 584)। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर डॉ॰ ओल्डनबर्ग ने जो पूर्वाचिक की अपेक्षाकृत पूर्वतर माना है वह उचित ही है। डॉ॰ कैलेण्ड का कहना है कि उद्गातागण यज्ञ में प्रयुज्मान ऋचाओं को ऋग्वेद से ही साक्षात् रूप से प्रथमतः ग्रहण किया करते थे। अनन्तर ये मन्त्र कालान्तर में उत्तरार्चिक में संगृहीत कर लिये गये। अतः उत्तरार्चिक निश्चितरूपेण यज्ञोपयोगी ऋचाओं का अवान्तरकालीन उपयोगी संग्रह हैं इतना ही नहीं; इनके ऊपर आश्रित ऊह-गान तथा ऊह्य-गान को भी वे सामवेदीय ग्रन्थों में सबसे पीछे विरचित मानते है। वे इन गानग्रन्थों को ताण्ड्य-ब्राह्मण से पीछे, लाट्यायन श्रौतसूत्र से पीछे, आर्षेय कल्प तथा पुष्टसूत्र से भी पीछे मानने का इसलिए आग्रह करते हैं कि द्राह्मायण श्रौतसूत्र के टीकाकार घन्वी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ऊहगान तो सूत्रकार के पीछे निर्मित हुआ है। निश्कर्ष यह है कि आधुनिक अनुशीलन से भी पूर्वाचिक उत्तरार्चिक की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है।

गानों के प्रकार-

गान चार प्रकार के हैं, जिनके निर्देशक भिन्न-भिनन ग्रन्थ है। इन चारों के नाम है-(1) वेयगान (या ग्रामे गेय गान); (2) आरण्य-गान, (3) ऊहगान तथा (4) ऊह्यगान। प्रथम दो गान (वेय तथा आरण्य) योनिगान हैं, तथा ऊह और ऊह्य विकृति-गान कहे जाते है। ऊह की प्रकृति वेय-गान है, तथा ऊह्य की प्रकृति (या योनि) आरण्य-गान है। इसका तात्पर्य यह है कि ये वेयगान में प्रयुक्त स्वररागदि आ आश्रय लेकर ही ऊहगान का निर्माण होता है और आरण्य गान के स्वररागादि के आधार पर ही ऊह्यगान की रचना की गई है। इन चारों गानों के स्वरूप का पार्थक्वय उनके नामकरण से भली भाँति चलता है। वैयगान का दूसरा नाम है-ग्रामे गये गान, अर्थात् वह ग्राम में, समाज में गाने योग्य होता है, परन्तु 'आरण्य-गान' के अन्तर्गत साम अरण्य में ही गाने होते हैं। सामवेदियों की मान्यता है कि आरण्य-गान के स्तोभ इतने विलक्षा तथा विचित्र हैं कि ग्राम से उनसे अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। वे इतने पवित्र होते हैं कि अरण्य के पूत वातावरण में ही उनका उचित गायन किया जा सकता है और उचित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। 'ऊह' का अर्थ है ऊहन, किसी अवसरविशेष पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। इसी व्याख्या के अनुसार 'ऊह-गान' सोमयाग के अवसर पर प्रयोजनीय सामों का नाम है। 'ऊह्य-गान' का पूरा नाम उह्य (रहस्य) गान है तथा रहस्यात्मक होने के कारण ही ये 'आरण्य-गान' के विकृति-गान माने जाते हैं। आरण्य गान के समान ये गान भी रहस्यात्मक होते हैं और इसीलिए सर्व-साधारण के सामने समाज के भीतर इनका गायन निशिद्ध माना जाता है।

मन्त्रों पर साम निष्चित ही है। किसी ऋचा पर कौन से तथा कितने साम होंगे ? इसका निश्चित वैदिकों की परम्परा से होता आया है। साम अनियत नहीं, किन्तु नियत हैं। नियमन का बीज वैदिक प्रसिद्ध ही मानना उचित है। सामवेद में पठित समग्र ऋचाओं पर साम हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। कतिपय ऋचाओं पर साम का

सर्वथा अभाव है। ऋचायें उत्तरार्चिक में ही पाई जाती है। उदाहरणार्थ 'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विषिखा इव' (सामवेद सं॰ 1866), भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः (सामवेद सं॰ 1874), 'आशु शिषानों वृषभों न भीमः (साम॰सं॰1849) ऋचाओं पर कोई भी गान गानग्रन्थों में नहीं दिये गये हैं। ऋचा-विशेष पर सामों की संख्या भी वैदिक प्रसिद्धि से ही नियत है। ऐसी अनेक ऋचायें मिलती है जिनके ऊपर चारों प्रकार के गान होते हैं और वे भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'अया रुचा हरिण्या' (सा॰सं॰463) तथा 'अयं पूषा रयिर्मगाः' (सा॰सं॰ 546 तथा 818) के ऊपर पूर्वोक्त चारों प्रकार के गान मिलते है। द्वितीय ऋचा पर तो समग्र सामों की संख्या 25 है। इतना ही नहीं, एक ऋचा के ऊपर प्रयुक्त सामों की सबसे बड़ी संख्या 61 है, जो 'पुनानः सोम धारया' (ऋ॰9/107/4; सा॰सं॰ 511) के ऊपर गाये जाते है। इससे उतर कर सामों की दूसरी बड़ी संख्या 59 है, जो 'पुरोजिती वों अधस' (सा॰सं॰ 545) ऋचा के ऊपर अधिष्ठित होते हैं। तीसरी संख्या 48 सामों की है; जो धारया पावकया' (सा॰सं॰ 698) के ऊपर गाये जाते हैं। 25 सामों को रखनेवाली ऋचायें तो संख्या में अनेक है। इन विशिष्ट सामों की स्थिति तथा संख्या का नियम प्राचीन वैदिक परम्परा के ही ऊपर आश्रित है।

स्तोभ तथा विष्टुति —

शस्त्र तथा स्तोत्र में अन्तर होता है। शस्त्र का लक्षण है 'अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्'-अर्थात बिना गाये गए मन्त्र के द्वारा सम्पादित स्तुति। 'शस्त्र' ऋग्वेद में होता है और स्तोत्र सामवेद में। स्तोत्र का स्पष्ट अर्थ है- 'प्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः स्तोत्रम्।' स्तोभ भी स्तुति का ही एक प्रकारान्तर है। स्तोभों का प्रयोग भी यज्ञ यागों में होता है। इनका विशेष वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण में किया है। स्तोम की संख्या नौ है-(1) त्रिवृत्, (2) पच्चदश, (3) सप्तदश, (4)एकविंश, (5) त्रिणव, (6) त्रयस्त्रिंश, (7) चतुर्विंश, (8) चतुष्वत्वारिंश तथा (9) अश्टचत्वारिश। ये स्तोभ प्रायः तृच पर हुआ करते हैं। इन तृचों को तीन पर्याय में गाने का नियम है और प्रत्येक पर्याय में तृचों पर साम के गान की आवृत्ति का नियम है। इस प्रकार तृतीय पर्याय में स्तोभ का स्वरूप निश्पन्न हो जाता है। इस आवृत्ति-जन्य गान के प्रकार की संज्ञा 'विष्टुतित' (= विशेष स्तुति) हैं इन नवों स्तोभों की समग्र विष्टुतियाँ संख्या में 28 की है जिनका विशेष वर्णन ताण्ड्य -ब्राह्मण के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में दिया गया है।

उदाहरणार्थ 'पच्चदशस्तोभ' को लीजिए। इसकी तीन विष्टुतियाँ होती है। प्रत्येक विष्टुति में तृच में प्रत्येक ऋचा का गायन तीन पर्याय में सिद्ध होता है। प्रतिपर्याय में 5 बार गायन होता है, जिससे मिलाकर पूरा गायन 15 बार सम्पन्न होता है। प्रथम पर्याय में पहली ऋचा को तीन बार तथा दूसरी और तीसरी को एक-एक बार गाना पड़ता है। द्वितीय पर्याय में प्रथम तथा तृतीय ऋचा को एक-एक बार और द्वितीय ऋचा को तीन बार गाना चाहिए। तृतीय पर्याय में प्रथम तथा द्वितीय ऋचा एक-एक बार तथा तृतीय ऋचा को तीन बार गाना होता है। इस प्रकार पूरे पर्यायों की सामाप्ति पर पन्द्रह बार गायन होने से इसे 'पच्चदश स्तोभ' का अन्वर्थक नाम दिया गया है। इसी प्रकार अन्य स्तोभों की भी दशा है।

साम के विभाग— साम-गायन की पद्धति बहुत ही कठिन है, उसकी ठीक-ठीक जानकारी के लिये सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता हैं साधारण ज्ञान के लिये यह जानना पर्याप्त है कि सामगान के पाँच भाग होते हैं-

(1) प्रस्ताव— यह मन्त्र का आरम्भिक भाग है जो 'हूँ' से प्रारम्भ है। इसे प्रस्तोता नामक ऋत्विज् गाता है।

(2) उद्गीथ— इसे साम का प्रधान ऋत्विज् उद्गाता गता है। इसके आरम्भ में ऊँ लगाया जाता है।

(3) प्रतीहार— इसका अर्थ है दो को जोड़ने वाला। इसे प्रतिहर्ता नामक ऋत्विज् गाता है। इसी के कभी-कभी दो टुकड़े कर दिये जाते है।

(4) उपद्रव—जिसे उद्गाता गाता है।

(5) निधन— जिसमें मन्त्र के दो पद्यांश या ऊरहता है। इनका गायन तीनों ऋत्विज्-प्रस्तोता, उद्गाता प्रतिहर्ता- एक साथ मिलकर करते हैं। उदाहरण के लिये सामवेद का प्रथम मन्त्र लिजिये-

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिशि।।

इसके ऊपर जिस साम का गायन किया जायेगा उसके पाँचों अंश इस प्रकार है-

(1) हूँ ओग्नाइ (प्रस्ताव)।

(2) ओम् आयाहि बीतये गृणानो हव्यदातये (उद्गीथ)।

(3) नि होता सत्सि बर्हिर्षि ओम् (प्रतिहार)।

इसी प्रतिहार के दो भेद होगें, जो दो प्रकार से गाये जायेंगे-

(4) नि होता सत्सि व (उपद्रव)।

(5) र्हिषि ओम् (निधन)।

इसी साम को जब तीन बार गाया जाता है तब उसे 'स्तोभ' कहते है। साम गायन के लिये स्वर को कभी ह्रस्व और कभी विकृत या परिवर्तित करना पड़ता है, जैसे-पूर्व मन्त्र के अग्न का गायन में परिवर्तित रूप 'ओग्नाइ' हो जाता है। गायन में पूर्ति के लिये कभी-कभी निरर्थक पद भी जोड़ दिये जाते हैं, जैसे-औ, हौ, वा, हा आदि। इन्हें 'स्तोभ' कहते है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम सप्तविध या सात प्रकार का होता है-(1) हिंकार, (2) प्रस्ताव, (3) आदि, (4) उद्गीथ, (5) प्रतिहार, (6) उपद्रव और (7) निधन। ऊपर निर्दिष्ट पच्चविध साम के ही अवान्तर भेद करने से इन सप्तविध सामों की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिये साम के प्रथम मन्त्र के ऊपर तीन साम विहित हैं, जिनमें से प्रथम साम नीचे दिया जाता है। अन्य दो साम गानग्रन्थ में देखे जा सकते हैं -

गान -

(1) गीतमस्य पर्कम्—

ओग्नाई। आया हीऽ3। वोइ तो याऽ2इ। तोयाऽ2इ। गृणानो ह। व्यदा तो या ऽ23इ। तो याऽ2इ। नाइ होता साऽ23। त्साऽ2इ। बाऽ2 3 4 औ हो वा। होऽ2 3 4 वी।।1।।

4.5 सामगान पद्धति

इन्हीं सामयोनि मन्त्रों का आश्रय लेकर ऋषियों ने गान मन्त्रों की रचना की है। गान चार प्रकार के होते हैं-(1) (ग्राम) गेय गान (जिसे 'प्रकृतिगान' तथा 'वेय गान' भी कहते है); (2) आरण्यक-गान, (3) ऊहगान और (4) ऊह्य (या रहस्य-गान)। इन गानों में गंय-गान पूर्वार्चिक के प्रथम पाँच अध्याय के मन्त्रों के ऊपर होता है। अरण्य गान आरण्यक पर्व में निर्दिष्ट मन्त्रों पर ऊह और ऊह्य उत्तरार्चिक में उल्लिखित मन्त्रों पर मुख्यतया होता है। भिन्न-भिन्न शाखाओं में इन गानों की संख्या भिन्न-भिन्न है सबसे अधिक गान जैमिनीय शाखा में उपलब्ध होते हैं। यथा-

	कौथुमीय गान	जैमिनीय गान
गेयगान	1197	1232
अरण्यगान	294	291
ऊहगान	1026	1802
ऊह्यगान	205	356
कुल योग	2722	3681

भारतीय संगीतशास्त्र मूल इन्हीं साम-गायनों पर अवलम्बित हैं भारतीय संगीत जितना सूक्ष्म, बारीक तथा वैज्ञानिक है वह संगीत के समझदारों से अपरिचित नहीं है, परन्तु विद्वज्जनों की अवहेलना के कारण उसकी इतनी बड़ी दुरव्यवस्था आजकल उपस्थित है कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को समझना एक बड़ी विषम समस्या है। साम-गायन की पद्धति के रहस्य का ज्ञान उसी प्रकार दुरुह है। एक तो यों ही साम के जानने वाले कम है जिस पर सामगानों को ठीक स्वरों में गाने वालों की संख्या तो उँगलियों पर गिनने लायक है, परन्तु फिर भी जानने वालों का नितान्त अभाव नहीं हैं यदि गायक के गले में लोच हो और वह उचित मूर्छना, आरोह और अवरोह का विचार कर सामगायन करे, तो विचित्र आनन्द आता है। वह साम मन्त्रार्थ न जानने पर भी हृदय को बरबस खींच लेता है। इसके लिए सामवेदीय शिक्षाओं की षिक्षा परमावश्यक है। नारद शिक्षा के अनुसार साम के स्वरमण्डल इतने हैं-7 स्वर, 3 ग्राम, 21 मूर्छना तथा 49 तान। इन सात स्वरों की तुलना वेणु-स्वर से इस प्रकार है-

साम	**वेणु**
प्रथम	मध्यम। भ
द्वितीय	गान्धार। ग
तृतीय	ऋषभ। रे
चतुर्थ	षड्ज। सा
पच्चम	निशाद। नि
षष्ठ	धैवत। ध
सप्तम	पच्चम। प

सामगानों में ये ही 7 तक के अंक तत्व् स्वरों के स्वरूप को सूचित करने के लिए लिखे जाते हैं। साम-योनि मन्त्रों के ऊपर दिये गये अंकों की व्यवस्था दूसरे प्रकार की होती है। सामयोनि मन्त्रों के सामगानों के रूप में ढालने पर अनेक संगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तन किये जाते है। इन्हें 'सामविकार' कहते हैं, जो संख्या में 6 प्रकार होते है-

(1) विकार = शब्द का परिवर्तन। 'अग्ने' के स्थान पर ओग्नायि।

(2) विष्लेशण = एक पद का पृथक्करण, यथा 'वीतये' के स्थान पर 'वोयितीया 2 यि'।

(3) विकर्शण = एक स्वर का दीर्घ काल तक विभिन्न उच्चारण; ये = या 23 यि।

(4) अभ्यास = किसी पद का बार-बार उच्चारण, यथा 'तोयायि' का दो बार उच्चारण।

(5) विराम = सुभीते के लिए किसी पद के बीच में ठहर जाना, यथा 'गुणनिक हब्दायतये' में 'ह' पर विराम लेना।

(6) स्तोभ = औ, होवा, हाउआ आदि गानाकुकूल पद।

ये विकार भाषाशास्त्र की दृश्टि से भी नितान्त माननीय हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न- 1

(अ) ऋक मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान को कहते है।

(क) साम **(ख)** यजुः

(ग) ऋक **(घ)** अथर्व

(ब) साम का आधार होता है।

(क) ऋकमन्त्र **(ख)** यर्जुमन्त्रः

(ग) येदोनों **(घ)** कोई नहीं

(स) आर्चिक का शाब्दिक अर्थ हैं-

(क) साम समुह **(ख)** अथर्व समुह

(ग) ऋक् समुह **(घ)** ऋग्वेद समुह

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) शष्ठ प्रपाठक को.....की संज्ञा दी जाती है।

(ख) वेदव्यास ने साम की शिक्षा.....को दी थी।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम के.....प्रकार है।

3.निचेकुछ वाक्यों दिये गये है। सही वाक्यों के सामने सही (√) तथा गलत वाक्यों के सामने गलत (×) का निशान लगायें।

(क) साम शब्द का अर्थ कई अर्थो में किया जाता है। ( )

(ख) जैमिनि के पुत्र का नाम सुमन्तु था। ( )

(ग) हिरण्यनाभ कोशल देश के राजपुत्र थे। ( )

(घ) साम गान की रचना सामयोनिमन्त्रों का आश्रय लेकर किया है। ( )

4.6 सारांश

उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए संकलित ऋक् मन्त्र को समूह अर्थात् साम के वृहद् स्वरूप का ग्रहण ही सामवेद है। इस इकाई के माध्यम से आप सामवेद का अर्थ उनके रूप तथा साम वेद की शाखाओं के साथ-साथ उसमें वर्णित विषयों से परिचित हो सकेंगे सामवेद की प्रमुख शाखाऐं कितनी थी आज कितने प्राप्त है तथा जितने प्राप्त है उनमें एक दूसरे से कितना तथा किन कारणों से पृथक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि साम जोकि ऋक-गान के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु उसके गान का स्वरूप क्या है ? इस इकाई के माध्यम से आप साम के मुख्य विषयों के साथ साम-गान की विधि पर प्रकाश डाला गया है।

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1 (अ) (क) (ब) (क), (स) (ग)

2 (क) आरण्य पर्व

(ख) जैमिनि

(ग) सात

3 (क) (ख) (ग) (घ)

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य और संस्कृति

2. श्री पाद सातवाहेकर-सामवेद

4.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास-उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

2. संस्कृत वाड्मय का वृहद् इतिहास (वेदकाण्ड) - पद्मश्री आचार्य बलदेव उपाध्याय

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामवेद का स्पष्ट करते हुए इसके स्वरूप का निर्धारण किजीए।

2. सामवेद के वर्ण्य-विषय पर प्रकाश डालिए।

3. सामगान का सविस्तार वर्णन कीजिए।

इकाई. 5 अथर्ववेद - परिचय एवं समय

इकाई की रूपरेखा
5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 अथर्ववेद-अर्थ, स्वरूप, शाखाएँ
    5.3.1 अथर्ववेद का अर्थ
    5.3.2 अथर्ववेद का स्वरूप
    5.3.3 अथर्ववेद की शाखाएँ
5.4 अथर्ववेद का वर्ण्य विषय
5.6 सारांश
5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

वेदों को भारतीय साहित्य का आधार माना जाता है अर्थात् परवर्ती संस्कृत में विकसित प्रायः समस्त विषयों का श्रोत-वेद ही है। काव्य दर्शन, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि सभी दोनों पर वेदों की गहरी क्षाप है। इन सभी विषयों का अनुशीलन वैदिक ऋचाओं से ही आरम्भ है। वेद से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण हमारे संस्कारों, की दशा बताने वाली पद्धति, हमारे मस्तिष्क को प्रेरित करने वाली विचारधारा इन सबका उद्भव स्थान वेद ही हैं अतः हमारे हृदय में वेद के प्रति यदि प्रगाढ़ श्रद्धा है तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, परन्तु वेदों का महत्त्व इतना संकिर्ण तथा सीमित नहीं है। मानव जातियों के विचारों को लिपिबद्ध करने वाले गौरवमय ग्रन्थों से सबसे प्राचीन है।

इन वेदों में अथर्ववेद एक भूयसी विशिष्टता से संवलित है। अन्यतीन वेद परलोक अर्थात् स्वर्गलोक के प्राप्ति के साधन है वही अथर्ववेद इहलोक फल देने वाला है। मनुष्य जीवन को सुखमय तथा दुःख से रहित करने के लिए जीन साधनों की आवश्यकता है उनकी सिद्धि ही अथर्ववेद का मूल प्रतिपाद्य विषय है। यज्ञ के निश्पादन में जिन चार ऋत्विज की आवश्यकता होती है उनमें अन्यतम-ब्रह्मा का साक्षात् सम्बन्ध इसी वेद से है। उनमें अन्यतम-ब्रह्म का साक्षात् सम्बन्ध इसी वेद से है। यह ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष होता है। इसके लिये उसे मानस बल से पूर्ण होना आवश्यक है। वे चारों वेदों का ज्ञाता होता है। परन्तु प्रधान वेद अथर्ववेद ही होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ के दो मार्ग है-वाक् तथा मन। वचन के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत बनानी है दूसरे पक्ष का संस्कार ब्रह्मा करता है और मन के द्वारा करता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि अथर्ववेद की आवश्यकता हमारे जीवन के लिए कितनी है ? इस इकाई के माध्यम से आप अथर्ववेद के विभिन्न पक्षों का अध्ययन बड़ी ही सरलता, सुगमता से कर सकेगें, तथा अथर्ववेद की महत्ता को जान सकेगें।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- अथर्ववेद के अर्थ तथा स्वरूप को जान सकेंगे।
- अथर्ववेद की शाखाओं तथा वर्ण्य विषय से परिचित हो सकेंगे।
- अथर्ववेद विषयक अनेक पक्षों से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर सरलता के साथ दे सकेंगे।

5.3 अथर्ववेद-अर्थ, स्वरूप, शाखाएं

5.3.1 अथर्ववेद का अर्थ—

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक अभिधानों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद, अथर्वाश्रिस वेद आदि नाम मुख्य है। 'अथर्व' शब्द की व्याख्या तथा निर्वचन निरूक्त (11/2/17) तथा गोपथ-ब्राह्मण (1/4) में मिलता है। 'पर्व' धातु कौटिलय तथा हिंसावाची है। अतएव 'अथर्व' शब्द का अर्थ है अकुटिलता तथा अंहिसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि में योग के प्रतिपादक अनेक प्रसंग स्वयं इस वेद में मिलते है (अथर्व 6/1;10/2/26-28)। होता वेद आदि नामों की तुलना पर ब्रह्मकर्म के प्रतिपादक होने से अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' कहलाता है ब्रह्मवेद नाम का यही मुख्य कारण है। ब्रह्मज्ञान का अंशतः प्रतिपादन है, परन्तु वह बहुत कम है।

'अथर्वांगिश्रस' पद की व्याख्या करने से प्रतीत होता है कि यह वेद दो ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का समुदाय प्रस्तुत करता हैं अथर्व-दृष्ट मन्त्र शान्ति पुष्टि कर्मयुक्त है तथा अश्रिस-दृष्ट मन्त्र आभिचारिक है। इसलिए वायुपुराण (65/27) तथा ब्रह्माण्ड पुराण (2/1/36) में अथर्ववेद को घोर कृत्याविधि से युक्त तथ प्रत्यंगिरस योग से युक्त होने से कारण 'द्विशरीर शिराः' कहा गया है। 'प्रत्यश्रिसयोग' का तात्पर्य अभिचार का

प्रतिविधान अर्थात् शान्तिपुष्टि कर्म है। इन अभिधान से स्पष्ट है कि अथर्ववेद में दो प्रकार के मन्त्र संकलित हैं- शान्ति-पौष्टिक कर्मवाले तथा आभिचारिक कर्मवाले। 'आंगिरसकल्प' में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि प्रख्यात षट्कर्मों का विधान बतलाया गया है; ऐसा नारदीय पुराण का कथन है (5/7)

आंगिरसे कल्पे शट्कर्माणि सविस्तरम्।
अभिचार-विधानेन निर्दिश्टानि स्वयंभुवा।।

एक तथ्य विचारणीय हैं अवेस्ता का 'अर्थवन्' शब्द अर्थवन् का ही प्रतिनिधि है और बहुत सम्भव है दोनों का समान अर्थ है-ऋग्नि का परिचारक ऋत्विक्। फलतः उसके द्वारा दृष्ट मन्त्रों में शान्ति तथा पुष्टिकारक मन्त्रों का अन्तर्भाव होना स्वाभाविक है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/12/9/1) में 'अथर्वणा-मश्रिसां प्रतीची' में दोनों के मिलित स्वरूप का वर्णन है। सम्भवतः इन दोनों ऋषियों के द्वारा दृश्अ मन्त्रसमूह पृथक् सत्ता भी धारण करता था। इस दृष्टि से गोपथब्राह्मण के एक ही प्रकरण में 'आथर्वणी वेदोऽभवत्' और 'आंगिरसो वेदोऽभवत्' वाक्य मिलते है (11/5,11/18) शतपथ ब्राह्मण (13/4/3/2) में भी इन दोनों का पृथक्-उल्लेख किया गया है। सर्वत्र हो 'अथर्वाश्रिस' अभिधान उपलब्ध है जिससे अथर्वा ऋषि के अभ्यर्हित होने का संकेत मिलता है। इससे यह तथ्य निकाला जा सकता है कि इस वेद में शान्तिक पौष्टिक मन्त्रों की सत्ता प्रथमतः थी जिनमें आभिचारिक मन्त्रों का योग पीछे किया गया।

5.3.2 अथर्ववेद का स्वरूप

अथर्ववेद के स्वरूप की मीमांसा करने से पता चलता है कि यह दो धाराओं के मिश्रण का परिणतफल है। इनमें से एक है अथर्वधारा और दूसरी है अश्रिधारा। अथर्व द्वारा दृष्ट मन्त्र शान्ति पुष्टि कर्म से सम्बद्ध है। इसका संकेत भागवत 3/24/24 में भी उपलब्ध होता है-'अथर्वणेऽदात् शान्ति यया यज्ञो वितन्यते।' यह अभिचारिक कर्म से सम्बन्ध रखती है और यह इस वेद के जन-सामान्य में प्रिय होने का संकेत है। शान्तिक कर्म से सम्बद्ध होने से अथर्व का सम्बन्ध श्रौतयाग से आरम्भ से ही है। पीछे आभिचारिक कर्मों का भी सम्बन्ध होने से यह राजा के पुरोहित वर्ग के लिए नितान्त उपादेय वेद हो गया। ऋग्वेदत्रयी तथा अथर्व का पार्थक्य स्पष्टतः ग्रन्थों में किया गया हैं वेदत्रयी जहाँ 'पारत्रिक' पारलौकिक फलों का दाता है, वहाँ अथर्व 'ऐहलौकिक' है। एक विशेष तथ्य ध्यातव्य हैं जयन्तभट्ट ने न्यायमंज्जरी में अथर्ववेद को 'प्रथम वेद' माना है-'तत्रवेदाश्चत्वारः, प्रथमोऽथर्ववेदः'। नगर खण्ड भी इसे आद्य वेद बतलाता है तथा युक्ति देता है कि सार्वलौकिक कार्यसिद्धि में अथर्व ही मुख्यरूपेण प्रयुक्त होता है और इसीलिए वह 'आद्य' कहलाता है। जयन्त भट्ट ने अथर्ववेद के प्राथम्य पर विस्तार से विचार किया है।

राजा के लिए अथर्ववेद का सविशेष महत्त्व है। राजा के लिए शान्तिक पौष्टिक कर्म तथा तुलापुरुशादि महादान की महती आवष्यकता होती है ओर इन सबका विधान अथर्ववेद की निजी सम्पत्ति है। इस विषय में पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों का प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता हैं विश्णु पुराण का स्पष्ट कथन है कि राजाओं को पौरोहित्य, शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्म अथर्व-वेद के द्वारा कराना चाहिए। मत्स्यपुराण का कथन है कि पुरोहित को अथर्व मन्त्र तथा ब्राह्मण में पारंगत होना चाहिये (पुरोहितं तथा अथर्व-मन्त्र-ब्राह्मण-पारगम्) कालिदास के वचनों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है। कालिदास ने वसिष्ठ के लिए 'अथर्व निधि' का विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि रघुवंशियों के पुरोहित वसिष्ठ अथर्व मन्त्रों तथा क्रियाओं के भण्डार थे (रघु॰ 1/59)। राजा आज अथर्ववेद के वेत्ता गुरु वसिष्ठ द्वारा अभिषेक संस्कार किये जाने पर शत्रुओं के लिए दुर्धर्ष हो गया (8/3)। यहाँ पर कालिदास ने वसिष्ठ को अथर्व-वेत्ता कहा है (स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथ्र्ववेदा कृतिक्रियः 8/3) 'अथर्वपरिशिष्ट' में लिखा है कि अथर्ववेद का ज्ञाता शान्तिकर्मका पारगामी जिस राष्ट्र में निवास करता है वह राष्ट्र उपद्रवां से हीन होकर वृद्धि को प्राप्त करता है। इस सब प्रमाणों का निष्कर्ष है कि

राजपुरोहित को अथर्ववेद के मन्त्रों का तथा तत्सम्बन्धों अनुष्ठानों का ज्ञाता अवष्य होना चाहिए। इन्हीं कारणों से अथर्ववेद ऐहलौकिक माना जाता है, जहाँ अन्य तीनों वेद पारलौकिक (पारत्रिक) माने गये है।

5.3.3 अथर्ववेद की शाखाएं

अथर्ववेद को छोड़कर अन्य तीन वेदों की केवल एक ही संहिता पाई जाती है जो मुद्रित और प्रकाषित है। परन्तु अथर्ववेद की तीन संहिताओं का पता चलता है। अथर्ववेदीय कौषिक सूत्र के दारिल भाष्य में इने त्रिविध संहिताओं के नाम तथा स्वरूप का परिचय दिया गया हैं इन संहिताओं के नाम है (1) आर्षी संहिता (2) आचार्य संहिता (3) विधिप्रयोग संहिता। इन तीनों संहिताओं में ऋषियों के द्वारा परम्परागत प्राप्त मन्त्रों के संकलन होने से इस संहिता कहा जाता है। अथर्ववेद का आजकल जो विभाजन काण्ड, सूक्त तथा मन्त्र रूप् में प्रकाशित हुआ है इसी शौनकीय संहिता को ही ऋषि-संहिता कहते है। दूसरी संहिता का नाम आचार्य संहिता है जिसका विवरण दारिलभाष्य में इस प्रकार पाया जाता है। ''येन उपनीय शिष्यं पाठयति सा आचार्य-संहिता''। अर्थात् उपनयन संस्कर करने के पश्चात गुरु जिस प्रकार से शिष्य को वेद का अध्यापन करता है वही आचार्य-संहिता कही जाती हैं उदाहरण के लिए अथर्ववेद का यह मन्त्र लिया जा सकता है। शौनकीय अथर्वसंहिता के प्रथम काण्ड के तृतीय सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है:-

''विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृश्ण्यम्। तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निशेचनं वहिष्टे अस्तु बालिति। 1/3/1'' परन्तु इसी सूक्त का दूसरा मन्त्र यह है-**विद्या शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्। ते ना ते तन्वे.....अस्तु बालिति।** तीसरा मन्त्र भी ऐसा ही है जिसमें **'विद्या शरस्य पितरं''** तो आदि **तेना ते तन्वे.....अस्तु बालिति''** अन्त में है। इन तीनों मन्त्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि प्रथम मंत्र में **'पर्जन्यं शतवृष्णयम'।** दूसरे मन्त्र में **'मित्रे शतवृष्णयम'** और तीसरे मन्त्र में **'वरुर्ण शतवृष्णयम'** अंश ही केवल नवीन है। इसके अतिरिक्त इन मन्त्रों के **'विद्या शरस्य पितर'** आदि में ओर **''ते ना ते तन्वे शंकरं पृथिव्यां तो निशेचनं बहिष्टे वालिति'** यह मन्त्र का अंश अन्त में प्रत्येक मन्त्र में आवृत्त किया गया है। अतः आचार्य अपने शिष्यों को पढ़ाते समय केवल मन्त्र में आये हुए नवीन अंशों का ही अध्यापन करता था। इन्हीं नवीन मन्त्रों का संग्रह आचाग्र संहिता है। इस आचार्यसंहिता के पदपाठ से युक्त हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है।

विधि-प्रयोग संहिता वह है जिसमें मन्त्रों के प्रयोग किसी विशिष्ट विधि के अनुष्ठान के लिए किये जाते हैं। इस अनुष्ठान के अवसर पर एक ही मन्त्र के विभिन्न पदों के विभक्त करके नये-नये मन्त्र किये जाते हैं। यथा-

आर्षी संहिता का मन्त्र यह है-

''ऋतुभ्यष्ट्ऽऽर्तवेभ्यो, माद्भ्यो संवत्सरेभ्य:।
धात्रे विधात्रै समृधे भूतस्य पतये यजे।।''

अब इस मन्त्र को विभक्त करके आठ मन्त्र अनुष्ठान के लिये तैयार किया जाते हैं। जैसे-

(1) ऋतुभय: त्वा यजे स्वाहा।

(2) आर्तवेभ्य: त्वा यजे स्वाहा।

(3) माद्भ्य: त्वा यजे स्वाहा।

(4) संवत्सरेभ्य: त्वा यजे स्वाहा।

इसी प्रकार से धात्रे, समृधे, ओर भूतस्य पतये के बाद भी 'तवा यजे स्वाहा' जोड़ा जायेगा। विधि में प्रयुक्त होने वाले इन मन्त्रों का समुदाय 'विधि-प्रयोग संहिता' कहा जाता है।

विधि-प्रयोग संहिता का यह पहिला प्रकार है। इसी भाँति से इसके चार प्रकार और भी होते हैं। दूसरे प्रकार में नये शब्द मन्त्रों में जोड़े जाते है। तीसरे प्रकार में किसी विशिष्ट मन्त्र का आवर्तन उस सूक्त के प्रति मन्त्र के साथ किया जाता है। इस प्रकार से सूक्त के मन्त्रों की संख्या द्विगुणित कर दी जाती हैं चौथे प्रकार में

किसी सूक्त में आये हुए मन्त्रों के क्रम का परिवर्तन कर दिया जाता है। पाँचवें प्रकार में किसी मन्त्र के अर्ध भाग को ही सम्पूण मन्त्र मानकर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आर्षी संहिता के मन्त्रों का विधि-प्रयोग संहिता में पाँच प्रकार से प्रयोग या उपयोग किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि ऋषिसंहिता ही मूल संहिता है। आचार्य संहिता में इसका संक्षेपीकरण कर दिया जाता है जबकि विधि-प्रयोग संहिता में इसका विस्तृतीकरण प्राप्त होता है। आचार्य दारिल के कौशिक सूत्र के भाष्य के अनुसार अथर्व संहिता के उपर्युक्त तीन प्रकारों का यह विश्नेषण किया गया है।

अथर्व में विज्ञान—

अथर्ववेद के भीतर आयुर्वेद के सिद्धान्त तथा व्यवहार की अनेक महनीय जिज्ञास्या बातें भरी हुई हैं, जिनके अनुशीलन से आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा व्यापकता का पूरा परिचय हमें मिलता है। रोग, शारीरिक प्रतीकार तथा औषध के विषय में अनेक उपयोगी एवं वैज्ञानिक तथ्यों की उपलब्धि अथर्ववेद की आयुर्वेदिक विशिष्टता बतलाने के लिये पर्याप्त मानी जा सकती है। तक्म रोग (ज्वर) का सामान्य वर्णन (6/21/1-3), सतत-शारद-ग्रैष्म-शीत-वार्षिक-तृतीय आदि ज्वर के प्रभेदों का निर्देश (1/25/4-5), बलास रोग का अस्थि तथा हृदय की पीड़ा करना (6/14/1-3), अपचित (गण्डमाला) के एनी-श्येनी-कृष्णा आदि भेदों का निदर्शन (6/83/1-3) यक्ष्मा, विद्रव, वातीकार आदि नाना रोगों का वर्णन (9/13/1-22) इस संहिता में स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रतीकार के विषय में आधुनिक प्रणाली की शल्यचिकित्सा का निर्देश अतीव विस्मयकारी प्रतीत होता है, जैसे-मूत्रघात होने पर शरशलाका आदि के द्वारा मूत्र का निःसारण (1/3/19) सुख प्रसव के लिए योनिभेदन (1/11/1-6) जल-घावन के द्वारा व्रण का उपचार (5/17/1-3) आदि। नाना कृतियों के द्वारा नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्राचीन आयुर्वेद को आधुनिक वैद्यकशास्त्र के साथ सम्बद्ध कर रहा है। रोग कारक नाना कृमियों का वर्णन (2/31/1-5), नेत्र, नासिका तथा दाँतों में प्रवेश करने वाले कृमियों के नाम तथा निरसन का उपाय (5/23/1-13) तथा सूर्य-किरणां के द्वारा इनका नाश (4/37/1-12) आदि अनेक विषय वैज्ञानिक आधार पर निर्मित प्रतीत होते हैं। रोगों के निवारणार्थ तथा सर्पविष के दूरीकरणार्थ नाना ओषधियों, औषधों तथा मणियों का निर्देश यहाँ मिलता है। आश्चर्य की बात है कि 'विषस्य विषमौषम्' का सिद्धान्त भी अथर्व के एम मन्त्र में (7/88/1) पाया जाता है। इसीलिए तो आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है।

अनेक भौतिक विज्ञानों के तथ्य भी यहाँ यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। उन्हें पहचानने तथा मूल्यांकन करने के लिए वेदज्ञ होने के अतिरिक्त विज्ञानवेत्ता होना भी नितान्त आवष्यक है। एक दो पदों या मन्त्रों में निगूढ़ वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। जिसे वैज्ञानिक की शिक्षित तथा अभ्यस्त दृष्टि ही देख सकती है। एक विशिष्ट उदाहरण ही इस विषय-संकेत के लिए पर्याप्त होगा। अथर्ववेद के पच्चम काण्ड के पच्चम सूक्त में लाक्षा (लाख) का वर्णन है, जो वैज्ञानिकों की दृष्टि में नितान्त प्रामाणिक तथ्यपूर्ण तथा उपादेय है। आजकल राँची (बिहार) में भारत सरकार की ओर से 'लाख' के उत्पादन तथा व्यावहारिक उपयोग के विषय में एक अन्वेषण-संस्था कार्य कर रही है। उसकी नवीन वैज्ञानिक खोजों के साथ इस सूक्त में उल्लिखित तथ्यों की तुलना करने पर किसी भी निष्पक्ष वैज्ञानिक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान के द्वारा समर्पित और पुष्ट की गई सूक्त-निर्दिष्ट बातें संक्षेप में ये हैं-

(1) लाह (लाख, लाक्षा) किसी वृक्ष का निस्यन्द नहीं है, प्रत्युत उसे उत्पन्न करने का श्रेय कीट-विशेष को (मुख्यतया स्त्री-कीट को) हैं। वह कीट यहाँ 'शिलाची' नाम से व्यवहृत किया गया है। उसका पेट लाल रश का होता है और इसी से वह स्त्री (कीट) संखिया खाने वाली मानी गयी हैं यह कीट अश्वस्य, न्यग्रोध, घव, खदिर आदि वृक्षों पर विशेषतः रह कर लाक्षा को प्रस्तुत करता है 4/5/5।

(2) स्त्री कीट के बड़े होने पर अण्डा देने से पहिले उसका शरीर क्षीण हो जाता है और उसके कोश में पीलापन विशेषतः आ जाता है। इसीलिए यह कीट यहाँ 'हरिण्यवर्णा' तथा 'सूर्यवर्णा' कही गई है (5/5/6)। इसके शरीर के ऊपर रोंये अधिक होते है। इसीलिए यह 'लोमश वक्षणा' कही गई हैं लाह की उत्पत्ति विशेष रूप से वर्षा काल की अँधेरी रातों में होती है और इसी लिए इस सूक्त में रात्रि माता तथा आकाश पिता बतलाया है (1/5/1)।

(3) कीड़े दो प्रकार के होते हैं-(क) सरा = रेंगनेवाले; (ख) पतत्रिणी = पंखयुक्त, उड़ने वाले (पुरुश कीट)। शरा नामक (स्त्री) कीड़े वृक्षों तथा पौधों पर रेंगते हैं और इससे वे 'स्परणी' कहलाते हैं।

5.4 अथर्ववेद का वर्ण्य विषय

अथर्ववेद का विषय-विवेचन अन्य वेदों की अपेक्षा नितान्त विलक्षण है। इसमें वर्णित विषयों का तीन प्रकार से विभाजन किया जा सकता है-(1) अध्यात्म, (2) अधिभूत् और (3) अधिदैवत। अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म, परमात्मा के वर्णन के अनन्तर चारों आश्रमों का भी पर्याप्त निर्देश है। अधिभूत प्रकरण में राजा, राज्यशासन, संग्राम शत्रुवाहन आदि विषयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया हैं अधदेवत प्रकरण में नाना देवता, यज्ञ तथा काल के विषय में पर्याप्त ज्ञातव्य सामग्री है। इस स्थूल विवेचन के बाद विस्तृत विवरण नीचे दिये गया है-

(1) भैषज्यानि सूक्तानि—

इस प्रकरण के अन्तर्गत रोगों की चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र तथा विधि-विषयों का अन्तर्भाव होता है। रोगों की उत्पत्ति नान प्रकार के पीड़ा वाले राक्षसों तथा भूत-प्रेतों के कारण होती है। इसलिए अनेक मन्त्रों में इन्हें दूर करने का उपाय वर्णित है। कौशिकसूत्र में इन मन्त्रों की सहायता से किये जाने वाले जादू टोनों का भी विशेष वर्णन है। रोगों के लक्षण तथा उनके कारण उत्पन्न शारीरिक विकारों का विशद वर्णन आयुर्वेद की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। अथर्ववेद में तक्मन ज्वर का ही नाम है, इसके विषय में अथर्ववेद में तक्मन ज्वर का ही नाम है, इसके विषय में अथर्ववेद का वर्णन है कि ज्वर मनुष्यों को पीला बना देता है, तथा आग के समान तीव्रगमी से लोगों को जला डालता है। इसलिए उससे प्रार्थना की जाती है कि या तो वह गायत हो जाय अथवा यह मूजवत्, वह्लिक, तथा महावृश नामक सुदूर प्रान्तों में भाग जाय (5/25/7/8) बलास रोग (क्षय) (6/14), गण्डमाला (6/83), यक्ष्मा (6/85) जिसे दूर करने के लिए वरुण नामक औशधि के सेवन का उपयोग), खाँसी दन्त-पीड़ा (6/140) आदि रोगों तथा उनकी ओषधि का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से अथर्ववेद में किया गया हैं सर्प-विश को दूर करने के भी अनेक उपाय वर्णित हैं। सूक्त 5/13 में असित तैमात, आलिगी, विलिंगी, उरुगूला आदि साँपों के नाम उल्लिखित हैं, जिन्हें लोकामन्य तिलक ने विदेशी प्रभावों का सूचक बतलाया है। अनेक औषधियों तथा वृक्षों की प्रशंसा में भी अनेक मन्त्र मिलते हैं। डाक्टर विन्टरनित्स ने अथर्ववेद में उल्लिखित अप्सरा तथा गन्धर्व-विषयक भावनाओं की जर्मनदेशीय भावनाओं से तुलना की है।

(2) आयुष्याणि सूक्तनि—

दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना करने वाले मन्त्रो का सम्बन्ध इस विभाग से है। इन सूक्तों का विशेष प्रयोग पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर होता था, जैसे बालक का मुण्डन, युवक का गोदान (प्रथम क्षौरकर्म) तथा उपनयन संस्कार। इन सूक्तों में एकदशत शरद् तथा एकशत हेमन्त तक जीवित रहने के लिए, सौ प्रकार के मृत्युओं से बचने के लिए, प्रत्येक प्रकार के रोग से रक्षा के निमित्त प्रार्थनायें उपलब्ध होती है। अथर्व में आयु की दर्घता के लिए हाथ में 'रक्षासूत्र' धारण करने के विशेष विधान मिलता है। इस रक्षासूत्र के धारण करने से प्राणी को पूर्ण स्वास्थ्य तथा चिरजीवन की सद्यः प्राप्ति होती है। 17 वें कांड का एकमात्र सूक्त इसी के अन्तर्गत आता है।

(3) पोष्टिकानिसुक्तानि—

इन विभाग के अन्तर्गत घर बनाने के लिए, हल जोतने के लिए, बीज बोने के लिए, अनाज उत्पन्न करने के लिए, पुष्टि के लिए, विदेश में व्यापार करने के लिए जानेवाले वणिक् के लिए, नाना प्रकार के आशीर्वाद की प्रार्थना की गई हैं इस विषय में सबसे सुन्दर वृष्टि सूक्त (अथर्व 4/15), है, जिसमें वृश्टि का बड़ा ही रमणीय, साहित्यिक तथा उज्ज्वल वर्णन उपलब्ध होता है।

(4) प्रायश्चित्तानिसुक्तानि—

इन सूक्तों में प्रायश्चित का विधान पाया जाता है। प्रायश्चित का विषय है। चारित्रिक त्रुटि या धार्मिक विरोध तथा अन्य विधिहीन आचरणों का विधान-जैसे ज्ञात और अज्ञात अपराध के हेतु धर्मशास्त्र द्वारा अर्जित विवाह के कारण, ऋण का प्रतिषोध न करने के कारण, बड़े भाई के विवाह करने के कारण जो अपराध मानवों से होता है उसे दूर करने के लिए यहां प्रायश्चितों का विधान है। इनसे संबंध रखनेवाले ऐसे उत्सव, गीत तथा मंत्र पाये जाते है, जिनके द्वारा शारीरिक दुर्बलता, मानसिक त्रुटि, दुःस्वप्न, अपशकुन आदि वस्तुएं निराकृत तथा दूरीकृत की जाती हैं। इस युग में अशुभ शकुनों में भी विश्वास था- पक्षियों के उड़ने का स्वप्न, युग्म बालक के जन्म का स्वप्न, बालक का अषुभ नक्षत्र में जन्म। आज की भांति उस युग में भी इन अपशकुनों के द्वारा मानव अपने कल्याणय की भावना से भयभीत तथा त्रस्त होता था और दूर करने के निमित्त अनेक उपायों को करता था, जिनका यहां बहुल विवरण मिलता है।

(5) स्त्रीकर्माणि—

विवाह तथा प्रेम से संबंध रखनेवाले बहुत से सूक्ति तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करने के लिए सहायक है। इन सूक्तों में पुत्रोत्पति के लिए तथा सद्योजात षिषु की रक्षा करने के लिए भव्य प्रार्थना की गई है। 14 वां कांड विशेषतः इसी प्रसंग से संबंध है। दूसरे प्रकार के मंत्रों में अपनी सपत्नों को वश में करने के लिए तथा अपने पति के स्नेह का सम्पादन करने के लिए अनेक जादू-टोनों का वर्णन है। कौषिक-सूत्र से पता लगता है कि किसी स्त्री के प्रेम सम्पादन के लिए किस प्रकार उसकी मिट्टी की मूर्ति बनाई जाती है, तथा बाण के द्वारा उसके हृदय को विद्व किया जाता है, तथा उस समय अथर्व (3।25) के मंत्रों का पाठ भी किया जाता है। इसी प्रकार पति के वषीकरण के निमित्त स्त्री उसकी मूर्ति बनाकर गरम बाणों के सिरे से उसके मस्तक को बेधती है। साथ ही साथ अथर्व वेद के 6।130, 6।138 सूक्त के मंत्रों का पाठ भी करती है। इन सूक्तों में देवताओं से पति को पागल बनाने का प्रर्थना है जिससे वह दिन-रात उसी के ध्यान में आसक्त रहे- ''हे मरूत्! मेरे पति को उम्नत बना दो, हे अन्तरिक्ष ! तथा हे अग्नि ! उसे पागल बना दो जिससे वह मेरा ही चिन्तन किया करे'' (6।130।4)। यदि वह भागकर तीन या पांच योजना भी अन्यत्र चला गया हो तो वह लौट आवे (अ॰ 6।131।4)। सबसे भयानक तो वह प्रार्थना है जिसमें एक स्त्री अपनी प्रतिस्पर्धिनी स्त्री को ध्वस्त तथा परास्त करने के लिए आग्रह करती है (अ॰ 1।14। इन मंत्रों तथा क्रियाओं केा 'आभिचारिक' नाम से पुकारते है, क्योंकि, विशेषतः मारण, मोहन (वशीकरण) तथा उच्चाटन आदि फलो को सिद्ध के निमित्त ही इनका बहुल प्रयोग होता है।

(6) राजकर्माणि—

राजाओं से संबंध बहुत से सूक्त अर्थवेद में पाये जाते है जिनके अध्ययन से तत्कालीन अध्ययन से तत्तकालीन राजनैतिक दशा का विषद चित्र उपलब्ध होता है। शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ-साथ संग्राम तथा पदुपयोगी साधनों- जैसे रथ, दुन्दुभि शंख आदि का विशेष विवरण संग्रामिक दृष्टि से अर्थव की महता घोषित कर रहा है। अर्थव के 'क्षेत्रवेद' नाम का यही कारण प्रतीत होता है। उस युग में प्रजा ही राजा का संवरण (चुनाव) करती थी। अर्थव 3।4 सूक्त में मनुष्यों के साथ ही साथ अश्विन, मित्रावरूण, मरूत् तथा वरूण के द्वारा भी राजा के संवरण करने का वर्णन किया गया है। अन्घ सूक्त (अथर्व॰ 3।3) से पता चलता है कि देश से

निश्कासित राजा पुनः राज्य में बुलाया जाता था, तथा सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा पाता था। संग्राम के लिए वीरों के हृदयसा में उत्साह फूंकनेवाले नागड़े (दुन्दुभि) का वर्णन नितान्त साहित्यिक तथा वीर रस से पूर्ण है। पांचवे काण्ड का दशमसूक्त कवित्व तथा मनोहर भावों के प्रदर्शन के कारण बड़ा ही रोचक, सरस तथा अभिव्यअनात्मक है। बुन्दुभि की गड़गड़ाहट सुनकर शत्रु की नारी को भयानक अस्त्रों के संर्घश के बीच में अपने पुत्र की छाती से चिपका कर भाग जाने की यह प्रार्थना संग्राम के प्रांगण में कितना करूणाजनक दृश्य उपस्थित करती है- (अथर्व 5।20।5) दुन्दुभिसूक्त (5।12) में सुंदर उपमा तथा भाव-सौष्ठव का योग उसे वीर रस के आदि काव्य होने की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। दुन्दुभि से शत्रुओं के आसन तथा मोहन की प्रार्थना करते समय मालोपमा का यह सौन्दर्य नितान्त अभिराम तथा श्लाघनीय है (वही, 5।21।6)-

यथा श्येनात् पतब्रिणः संविजन्ते अहदिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।

एवा त्वं दुन्दुभेअमित्रानभिकन्द प्रत्रासयाथो चितान्ति मोहय।।

मंत्र का आशय है कि जिस प्रकार बाजपक्षी से अन्य पक्षी उद्विग्न हो जाते हैं और जिस प्रकार सिंह की गर्जना सुनकर प्राणी भयभीत हो उठते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि! तुम हमारे शत्रुओं के प्रति अपनी गड़गड़ाहट करो, उन्हे खूब डरा दो और उनके चित्त को मोहित कर दो, जिससे युद्ध में उनकी शक्ति का ह्रास हो तथा वे शीघ्र ध्वस्त हो जाय।

पृथिवी सूक्त—

भाषा तथा भाव की दृष्टि से नितान्त उदात्त, भावप्रवण तथा सरस है। पृथ्वी की महिमा का यह वर्णन स्वतन्त्रय के प्रेमी स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्गार है। इस शैली के प्रौढ़ काव्य की उच्च कल्पना तथा भव्य भावुकता वैदिक साहित्य में भी अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्रात्य—

अर्थवेद की शौनक शाखा की जो संहिता हो पूर्णतया उपलब्ध है, तथा आजकल प्रचलित है उसका 15 वां काण्ड 'व्रात्यकांड' के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इसमं व्रात्यका ही समग्रतया विवरण है। इस काण्ड में दो अनुवादक है, जिनमें प्रथम अनुवादक में 7 सूक्त में अनेक गद्यात्मक मंत्र है। पैप्पलाद शाखा की उपलब्ध अपूर्ण संहिता में 18 वें काण्ड के 27 वें सूक्त में व्रात्य- विषयक केवल 9 मंत्र ही मिलते है, षेश मंत्र लुप्त हो गये है। विचारणोय प्रश्न यह है कि 'व्रात्य' कौन है ? साधारणतः व्रात्य उस मनुष्य को कहते हैं जिसका जन्म तो द्विजकुल में हुआ हो, पर जिसका उपनयनादि संस्कार न हुआ हो। जान पड़ता कि प्राचीन काल में आर्यों की कुछ अर्धसभ्य शाखाओं थी जो बस्तियों के बाहर रहती थीं और धीरे-धीरे वे आर्य-समाज मे मिले गई, परन्तु उस आदिम काल में उनकाय रहन-सहन अन्य लोगों से भिन्न था। संम्भवत वे वैदिक संस्कारों को नहीं मानती थी। ताण्ड-ब्राहण्ड (17।1) में इनकी वेशभूशा का बड़ा ही विस्तृत तथा सजीव वर्णन किया गया मिलता है। जिससे इनकी जाति-गत विशिष्टता, आचार-व्यवहार और रहन-सहन का रोचक चित्र नेत्रों के सामने झलक उठता है, परन्तु अर्थवेदीकय' ब्रात्यकाण्ड' में निर्दिष्ट व्रात्य का तात्पर्य क्या है ? आचार-विचार के कारण 'व्रात्य' शब्द का श्रृंखला में बद्ध न होने वाले व्यक्तिज का घोतक होन के कारण 'व्रात्य' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ - ब्रह्मा, जो जगत के नियमों की श्रृंखला में न बद्ध है और न जो कार्यकारिणी की भावना से ही ओतप्रोत है। इसीस ब्रह्मा के स्वरूप का तथा उससे सृष्टिक्रम का व्यवस्थित वर्णन इस काण्ड में विस्तार के साथ किया गया है।

'व्रात्यों वा इदम् अग्र आसीत्-पैप्पलाद शाखा के इस वाक्य से स्पष्ट है कि जगत् के आदि में 'व्रात्य' ही केवल विद्यमान था। फलतः 'व्रात्य' शब्द का ही यहां संकेत है। यह व्रात्य गतिमान् होकर प्रजापति को प्रेरित करता है। यहां सकेत है। यह व्रात्य गतिमान् होकर प्रजापति को प्रेरित करता है। यहां प्रजापति से तात्पर्य हिरण्गर्भ से है- ''स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्यपश्यत् तत्प्राजनयत्। यहां जीवों के शभाशुभ कर्मों के संस्कार को

सुवर्ण कहा गया है। जिस प्रकार सोने से नाना रूप वाला जगत बनता है। इन्हीं के आधार पर होने के कारण प्रजापति हिरण्यगर्भ के भी नाम से प्रख्यात है। हिरण्यगर्भ के द्वारा सृष्टि के क्रम का वर्णन यहां किया गया है। इसके अंनन्तर वह व्रात्य किस प्रकार दिशाओं में जाता है, तत्संबंध जीवों की सृष्टि में समर्थ होता है ? इसका विशद विवरण इस काण में है। इस प्रकार व्रात्यकाण्ड भी उच्छिष्ट सूक्त के समान आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादक है जिसका विपुल वर्णन उपनिषदों में किया गया है।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों में निदिष्ट तत्व उपनिषदों की पूर्वपीठिक माने जा सकते हैं। इन्ही सूक्तों की महती व्याख्या उपनिषदों में उपलब्ध होती है। इसी प्रकार अथर्ववेद के विषयों की यह आलोचक उसके ऐहिक तथा आमुश्मिक रूप में परिचयय देने के लिए प्रर्याप्त मानी जा सकती है।

ऋग्वेद का पूरक अथर्ववेद—

काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक माना जा सकता है। ऋग्वेद को प्राचीनतम काव्य का निदर्शन मानना एक स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु वह गौरव अथर्ववेद को भी प्रदान करना चाहिए, क्योंकि यदि ऋग्वेद अधिकांश में आधिदैविक तथा अध्यात्मक-विषयक मनोरम मंत्रां कमा एक चारू समुच्चय है, तो अथर्ववेद आधिभौतिक विषयों पर रचित मंत्रों का एक प्रशंसनीय संग्रह है। काव्य की दृष्टि से दोनों में उदात भावना से मंडित तथा मानव-हृदयों को स्पर्श करनेवाले सुचारू गीतिकाव्यों का बृहत संग्रहों है। दोनो मिलकर आर्यो के प्राचीनतम् काव्यकला के रूचिर दृष्टान्त प्रस्तुत करते है, यह संशयहीन सिद्धांत है।

किसी देश या समाज में दो स्तरों के मनुष्य पाये जाते हैं- एक तो है निम्नस्तर के पुरूष, जिनके आचार-विचार एक विचित्र धारा में प्रवाहित होते रहते हैं। साधारणय जनता' के नाम से ये ही पुकार जाते है। दूसरे है उच्च स्तर के पुरूष, जिनकी विशेष शिक्षा-दीक्षा होती है और अपनी शिक्षा के प्रभाव से जिनकीर विचारधारा एक विशिष्ट मोड़ लेकर प्रवाहित होती है। दोनों की रूचि भिन्न होती है और दोनों के लिए कविता भी भिन्न प्रकार की होती है। कविता के ये विभिन्न प्रकार का निःसंदेह एक दूसरे के पूरक होते है। अर्थव तथा ऋग्वेद की कविता का पार्थक्य इसी कारण सिद्ध होता है अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जनजीवन है तो ऋग्वेदा का विशिष्ट जनवजीवन है। साधारण जनता के अनेक विश्वास विचित्र तथा विलक्षण हुआ करते हैं। किसीस रोग का निदान करते समय वे आधिदैविक कारणों की उपेक्षा नहीं करते है। उनके जीवन पर भूत-दूत, प्रेत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी जैस अदृश्य प्राणियों का अस्तित्व। उनकी दृष्टि में ये पदार्थ अदृश्य जगत के निवासी न होकर इस ठोस धरातल पर उसी प्रकार रहते है। जिस प्रकार मनुष्य तथा पशु। फलतः उनके विचार में इन प्राणियों का अस्तित्व उनके जीवन की घटनाओं को प्रभावित करने में सर्वथा समर्थ होता है। कोई कुमारी अपने लिए योग्य पति पाने में यदि असमर्थ है, तो इसका कारणय वह न तो अपने सौदर्य के अभाव को मानती है, और न अपने माता-पिता के प्रयत्नों के शैथिल्य को, प्रस्तुत वह किसी अदृष्य जीव को अपने ऊपर प्रभावशाली मानकर उसके प्रभाव को ध्वस्त करने की प्रयत्न करती है। साधारणय जीव अपने शत्रु को परास्त करने के लिए टोना टोटका की शरण में जाता है। ऐसे प्राकृत जन के विश्वासों तथा आचारों की जानकारी के लिए अथर्ववेद सबसे महत्वपूर्ण साधन है। इस वेद के अध्ययन से पता चलता है कि अभिचार दो प्रकार का होता था- एक तो मंगलसाधक, जिससे साधक अपने कल्याण की कामना करता था- दूसरा होता था अमंगलसाधक जिससे शत्रुओं को परास्त तथा धवस्त करने की भावना प्रबल होती थी। पवित्र अभिचार (अथर्व) में हमे रोग की चिकित्सा के हेतु मंत्र मिलते है तो अमांगलिक अभिचार (आंगरिस) में शत्रुओं तथा विद्रोहियों के प्रति अभिशाप युक्त मंत्र मिलते हैं। इन दोनों प्रकार के अभिचार मंत्रों का संग्रह के होने के कारण ही तो यह समग्र वेद 'अर्थर्वाड्गिरस' के नाम से प्रसिद्ध है।

कतिपय उदाहरणों के द्वारा इन अभिचारों के स्वरूप का यहां प्रदर्शन किया जा रहा है। यदि कोई व्यक्ति किसी सुंदरी का प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये अथर्व में अनेक विधान

मिलते है। 'कौशिकसूत्र' में एक विधान का प्रकार इस प्रकार है- प्रेमी अपनी सुंदरी की मिट्टी की मूर्ति बनाता है। अपने हाथ में वह सन की डोरी वाले धनुष केा लेता हैं, जिसके बाण का अग्रभाग तीक्षण कंटक से विधा रहता है। इसी वाण से अपनी प्रेयसी के हृदय को बेधता है। और साथ में अथर्व के मंत्रों का (3।24।1-5 और 6) उच्चारण करता है, जिससे उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी बड़े और अभिचार का प्रयोग हमत पाते ह। जब किसी स्त्री का बन्ध्या बनाना अभीष्ट होता है अथवा किसी पुरूष केा पुंस्त्वशक्त से विहीन बना कर नंपुसक बनाने की भावना प्रबल होती है। (अथर्व 6।128; 9।90)। दुःस्वप्नों को दूर हटाने के लिए कहीं भूतापसरणविध दी गई है, तो कहीं संग्राम में शत्रु की प्रबल होना को धवस्त करने के लिए राजा को विजयी बनाने के लिए अनेक अभिचार मंत्र है। रोगों को दूर करने के नाना प्रकार की ओशधियों का प्रयोग मंत्रों के साथ दिया गया है। साधारण ज्वर (तक्मन्) किलास (श्रेवत कुश्ठ), क्षेत्रिय रोग (कुलक्रमागत रोग), यक्ष्मा (क्षय रोग), विश (शरीर में किसी भी प्रकार से प्रविश्ट विश) आदि के निवारण के लिए ओषधियों का प्रयोग नाना विधान के साथ यहां उपलब्ध होता है। जिससे मानव के कल्याण की भावना सर्वतोमुखी प्रतीत होती है। ताप्पर्य यह है कि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों को, आचार विचारों का, रहन-सहन का, अलौलिक, शक्ति में दृढ़ विश्वास का, भूतप्रेस आदि का अदृष्य जीवों में आस्था का एक विराट् विश्वसनीय कोश है, जिसकी सहायता से हम उस प्राचीन युग की एक भव्य झांकी देख सकते है। इसके मंत्रों की भाषा भी अपेक्षाकृत सरल तथा सुबोध है।

उधर ऋग्वेद संस्कृतजन के विचारों की झांकी प्रस्तुत करता है। उसके आचार-विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, सुस्कृत तथा शिष्ट है। समाज के उच्चस्तर के विचारों की विचार-धारा मंत्रों के माध्यम से यहां प्रविाहित होती है। मात्र जीवन को सुखमय बनाने वाले तथा प्राकृत दृश्यों के प्रतीकरूप देव हमारे जीवन में सर्वथा प्रभविश्णु तथा महत्वपूर्ण शक्तियां है। इसीलिए पुरोहितवर्ग अपने लिए, अपने यजमान के लिए अपने आश्रयदाताओं के लिए बड़ी सुष्लिष्ट स्तुतियां सुनाकर उन्हें कृपाशील बनाने के लिए प्रार्थना करता है। वे सर्वदा अपने पुत्रपौत्रों के सुख-समृद्धि आदि के निमित देवों के प्रार्थना करने में कभी नहीं चूकते। देवों को साक्षात् करने तथा श्रद्धामयी पूजा देने का प्रधान उपकरण यज्ञ माना है। इन्हीं को लक्ष्य कर ऋग्वेद के अधिकांश मंत्र प्रवर्तित होते हैं। अनेक सूक्त यज्ञ के संबंध से सर्वथा विहीन आततः प्रतीत होते है। परन्तु भीतर कोई याज्ञिक उद्देष्य अवष्यमेव विद्यामान रहती है। यज्ञीय उपकरण नितान्त उदात तथा विषुद्ध होते है। घृत, यव तिल तथा सोमरस- ये देवता के उद्देष्य से अर्पित किये जानेवाले प्रधान पदार्थ हैं। इनमें भी सोमरस का प्रामुख्य है। सोमयाग में सोमरस तीन बार पत्थरों से कूटकर चुलाया जाता था, जिसे 'सवन' कहते थे। तदनन्तर उसके वस्त्र से उसे छानकर द्रोण कलश में रखते थे, तथा उसमें दूध पिलाने की भी विधि थी, इसी का नाम था 'पावमान सोम' जिसके विशिष्ट मंत्रों के लिए ऋग्वेद का एक विशिष्ट मंडल ही पृथक कर दिया गया है। फलतः यज्ञ के अवसर पर इन्द्र, वरूण, सूर्य, सविता, अश्विन आदि देवताओं के लिए सोमरस का समर्पण ऋग्वेदीय युगा का आवश्यक धार्मिक कृत्या था। इसी के लिए यजु तथा साम का भी प्रयोग होता था। फलतः ये तीनो-ऋक, यजुः तथा सामन एक ही यज्ञ को ध्यान में लक्ष्य कर प्रवृत होने वाले मंत्रपुंज है। समाज का उच्चस्तरीयय भाग इस पूजा-विधान का अधिकारी था तथा इसके लिए प्रयुक्त होने वाली संस्कृत भाषा अपने विषुद्ध उदात्त रूप में हमारे सामने आती है। फलतः ऋग्वेद तथा अथर्व के मंत्रों दोनो मिलकर वैदिक युग के धार्मिक विधि-विधान का स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ है। प्राकृतजन तथा संस्कृतजन दोनों जानों का विचार धरातल इन ग्रंथों के स्पष्टतः दृश्टिगोचर होता है। अतएव ये दोनों एक दूसरेस के परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।

ऊपर के वर्णन में यह न समझना चाहिए कि अथर्व में यज्ञ के विधान का स्थान नगण्य और उपेक्षणीय है। ऋग्वेदीय यज्ञ-याग का विधान यहां भी किया गया था, परन्तु यज्ञ का संबंध अभिचार के साथ विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया। उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति के साथ ही साथ सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रुओं का पराजय भी

था। यज्ञ का एक प्रकार माया शक्ति का आश्रय माना जाने लगा और इस माया शक्ति से संपन्न होने के कारण यज्ञ का नाम ही 'ब्राह्मन' पड़ गया। इस प्रकार अथर्व में हम यज्ञ का भावना में भी एक विकासस का परिचय पाते है। यह विकास भौतिक रूप से मानस स्तर तक पहुंचने का सूचक है। यज्ञ प्रतीकात्मक रूप से होकर मानस विधान की कोटि में आता है, अर्थात् यज्ञ के वास्तविक विधान से आगे उठकर यजमान केवल मानसिक किया के द्वारा अब यज्ञ का निष्पादन करता हैं। इस प्रकार यज्ञ की यह आध्यात्मिक भावना हमें औपनिषद कल्पना के पास पहुचा देती है। अब यज्ञ बहुत सीधे-सादे विधान थे, जिनकाय सम्पादन थोड़े से खर्च में और थोड़े ही दिनों में होना शक्य हो गया। इस प्रकार अथर्ववेद में हम यज्ञ के स्वरूप विधान में पूर्ववेदों की अपेक्षा मौलिक परिवर्तन पाते हैं।

अथर्ववेद में कौटुम्बिक अभिचार—

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहां अन्य के देवताओं की स्तुति को ही प्रतिपाद्य विषय बनाते है, वहां अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। आदिम मानव की नाना प्रकार की विचित्र क्रियाओं, आचार-विचार की पूरी जानकारी के लिए अथर्ववेद से पुराना ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है। जैसे शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, क्लेशदायी दीर्घ रोगों के निवारण के लिए, सद्योजात शिशु तथा उसकी माता (जच्चा बच्चा) को सन्तप्त करने वाले भूत प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेदस के सूक्तों में पाया जाता है, जिसके कारण यह वेद 'नृतत्व' (ऐनथ्रोपोलाजी) के अभ्यासियों के लिए एक बहुमूल्य विश्वकोश का काम करता है। जादू टोना का प्रचार आथर्वण सभ्यता की एक विशिष्ट घटना है।

जादू टोना सदा बुरा ही नहीं हुआ करता है। इसके द्वारा प्राचीन मानव अपने कुटुम्ब की रक्षा अपने शत्रुओं से तथा रोगों के आक्रमणय से किया करता था। 'आत्म सरंक्षणय' की भावना ही जादू-टोना जैसी क्रियाओं की पृष्ठभूमि है। प्राण इस पृथ्वीतल पर अपना अस्तित्व बनायें रखना चाहता है। उसकी कामना यही रहती है कि वह भी दीर्घ काल तक सुख भोगे, तथा उसकाय कुटुम्ब, उसका परिवार तथा उसकी संतान भी कल्याणमय जीवन बितावे। इसे ही कहते है आत्म-सरंक्षण की सहज प्रवृति। मानव प्रथमतः अपनी रक्षा अपने की भौतिक उद्योगों के बल पर करता है। परन्तु जब अफलता उसे दूर खदेड़ कर उसके प्रयासों का विफल बना देती है तब वह आधिदैविक क्रियाओं तथा प्रयासों की ओर अग्रसर होता है और इन्हीं प्रयासों के अंतगर्त जादू-टोना भीसय गणना की जाती है। जादू (संस्कृत नाम यातु) इस तरह दो प्रकार का होता है- शोभन तथा अशोभन, भला और बुरा। शोभन प्रकार में किसी दूसरे के द्वारा किये गये अनिष्ट से अपने को बचाने की भावना प्रबल होती है। अशोभन प्रकार से शत्रुविशेष के ऊपर मारण, मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं। प्राश्चात्य जगत् कितना भी सभय क्यों ने हो गया हो, परन्तु वहां भी इन दोंनो की सता विद्यमान है। (हाइट मैजिक ब्लैक मैजिक) इनमें में से प्रथम प्रकार 'श्वेतजादू' के नाम से प्रसिद्ध है, तो दूसरा 'काला जादू' के नाम से प्रख्यात है। शेक्सपीयर ने अपने अनेक नाटकों में विशेषतः 'मैक्बेथ' में इस दूसरे प्रकार के जादू का साहित्यक विवरण प्रस्तुत कर यूरोप की मध्ययुगी न धारणाओं का एक भव्यरूप प्रस्तुत किया है।

अथर्ववेद ऐसे विश्वासों की जानकारी के लिए मानव-इतिहास में सबसे प्राचीन ग्रंथरत्न है। अथर्व संहिता में भी अन्य संहिताओं के सामन मंत्रों का ही संग्रह है, परन्तु इन मंत्रों का उपयोग कब तथा किस उद्देष्य से किया जाता था, इसका पता हमे कौषिक-गृहसूत्र की सहायताय से ही लगता है। कौषिक गृहसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र गृहासूत्र है जिसमें 14 अध्याय है। इसका सम्पादन न्यूहावेन (अमेरिका) से डा. ब्लूमफील्ड ने किया है। (1890), तथा इसका पुनमुर्दण हिन्दी अनुवाद के साथ किया है मुजफ्फर पुर से उदयनारायण सिंह ने (1942 ई में)। मानव विज्ञान के इतिहास में कौषिक-सूत्र नितान्त उपादेय, प्रमाणिक तथा रोचक ग्रंथ है जिसमें उन अभिचारीयय क्रियाकलापों का विचित्र वर्णन है जो मंत्रों के साथ प्रयुक्त होते थे।

अथर्ववेद के केवल विवाह संबंधी सूक्तों का एक संक्षिप्त अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जाता है। विवाह से संबंध अनेक सूक्त अथर्ववेद में उपलब्ध होते है, जिनके अनुशीलन से उस युग के समाज का चित्र हमारे नेत्रों के सामने बलात् प्रस्तुत हो जाता है। इन सूक्तों में कही तो पुत्र की उत्पति के लिए प्रार्थना है, तो कहीं सद्योजात शिशु की रक्षा के लिए देवाताओं की स्तुति है। अथर्वदेव का 14 वां कांण्ड 'विवाह काण्ड' है जिसके दो अनुवाकों में 139 मंत्र है, जिनका उपयोग विवाह के अवसर पर किया जाता है। इनमें से अनेक मंत्र ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में भी उपलब्ध है। नीचे के मंत्र में अग्नि तथा सूर्य से प्रार्थना की गई है कि वे कुटुम्ब के नाना क्लेशों को दूर करे (**अथर्व 12।2।62)-**

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वागृहेषु
निष्ठितमघ - कृदिभ्रघं कृतम्।
अनिष्ठवा तस्मादेनसः
सविता च प्रमुच्यताम्।।

इसी प्रकार नव वधू अपनेय नवीन घर- पतिगृह में आती है, तब उसे दीर्घ जीव पाने के लिए भव्य प्रार्थना इस मंत्र में की गई है (वही मंत्र 75)-

प्रबुध्यस्व सुसुधा बुध्यमाना
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो
दीर्घ त आयुः सविता कृणाते।।

विभाग द्वारा खुदाई में मिली मूर्तियों के केशसज्जा की परीक्षा आवष्यक हैं मोहन-जोदड़ों और बक्सर की मृण्मयी मूर्तियों के सिर पर जो केशरचना दीख पड़ती है वह इस वैदिक-विधि की परम्परा से बहुत साम्य रखती है।

अथर्व वैदिककाल में यातायात के साधन—

यातायात का प्रधान साधन रथ था। वैदिक युग में रथ संचरण, क्रीड़ा तथा युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे। राज्य की सेना में रथियों का प्रधान स्थान था। उत्सवों में रथों की दोड़ हुआ करती थी। उसमें सम्मिलित होने वाले रथ एक चक्राकार रंगस्थल में तेजी से दौड़ाये जाते थे। उस युग मेकं रथ की निर्माणविधि का भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है। रथ लकड़ी का बनता था जिसमें उसका 'अक्ष' (दोनों पहियों को जोड़ने वाला डंडा) 'अरटु' नामक लकड़ी का बनता था। अक्ष तथा युग (जुये) को जोड़ने वाला डंडा भी लकड़ी का बनता था और 'ईशा दण्ड' कहलाता था। ईशा को जूये में किये गये छेद ('तद्यन') में बैठाया जाता था और उसे योक्त्रक से बाँध दिया जाता था ईषा का जो भाग जूये से आगे की ओर निकला रहता था 'प्रउग' कहलाता था। घोड़े या बैल जूआ कन्धे पर रखने के समय इधर-उधर भाग न जाँय, इसलिए जूए के दोनों ओर छोटे-छोटे डंडे पहिना दिये जाते थे। इनका नाम था 'शम्या'। अक्ष के दोनों ओर पहिये ('चक्र') मजबूती से कसे जाते थे। चक्र की बाहरी गोलाई को 'प्रघि' तथा भीतरी भाग को 'पवि' और दोनों को मिलाकर 'नेवि' कहते थे। तीलियों को 'अर' या 'अरा' कहते थे। अक्ष के ओर उन्हें मजबूत बनाने ओर दौड़ते समय खिसकने न देने के लिए लगाई गई छोअी लकड़ियाँ 'आणि' कहालती थी। अक्ष के ऊपर रथ का मुख्य भाग होता था, जो कोश या 'बन्धुर' कहा जाता था। कोश के भीतरी भाग को 'नीड़' तथा अगल-बगल के हिस्से को 'पक्ष' कहते थे। रथ में योद्धा के बैठने का स्थान 'गर्ता' (कभी-कभी 'बन्धुर' भी) कहा जाता था, वह सारथि के दाहिने पार्श्व में बैठता था। रथ के ऊपरी भाग को 'रशशीर्ष' कहते थे। रथ के बेग को घटाने के लिए या आवश्यकता पड़ने पर रथ को सहारा देने के लिए भी इशादण्ड से एक भारी सी लकड़ी नीचे की ओर लटकाई जाती थी जिसे 'कस्तंभी' या 'अपालम्ब' कहते थे।

बहुधा रथ में दो या चार घोड़े जोते थे। कभी-कभी तीन घोड़े भी जोते जाते थे। इस तीसरे घोड़े का नाम 'प्रष्टि' था, कभी-कभी एक घोड़े से भी काम चलाना पड़ता था। सारथी लगाम तथा चाबुक (प्रतोद) से रथ का संचालन करता था। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि रथों का वर्गीकरण तथा के सिकी वैषिष्टय के आधार पर किया जाता था। वाहकों के आधार पर वृशरथ, शडश्व पंचवाही आदि; रथभागों के आधार पर त्रिबन्धुर, सप्त-चक्र, हिरण्यचक्र, हिरण्यप्रउग आदि नाम होते थे।

रथ से भिन्न एक प्रकार का और भी यान होता था, जो 'अनस्' (गाड़ी) शब्द के द्वारा व्यवहृत किया जाता था। रथ तथा गाड़ी की बनावट प्रायः एक प्रकार की ही होती थी। गाड़ी में बैल और कभी-कभी गौएँ भी जोती जाती थीं। इन गाड़ियों के ऊपर आच्छादन भी रहता था। सूर्य की कन्या 'सूर्या' को विवाह के समय जिस गाड़ी में बैठाया गया था वह आच्छादित थी। गाड़ी खींचने वाले जानवर को 'धूर्शद' कहते थे। गाड़ियाँ साधारणतया दो प्रकार की होती थीं-(1) मनुश्यवाही-जो 'वृक्षरथ' कहलाती थी, तथा (2) भारवाही-अनाज ढोने वाली बड़ी-बड़ी गाड़ी को 'शकट' 'सगड़' (आजकल का 'संगड़) कहते थे, तथा छोटी गाड़ी 'गोलिश्' या 'लघुमान' कहलाती थीं।

इस युग में जलयान का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता में सौ डाँडों से चलाये जाने वाले जहाज का उल्लेख है। पतवार को 'अरित्र' तथा नाविक को 'अरितृ' कहते थे। शतपथ-ब्राह्मण में पतवार को 'मण्ड' तथा परवर्ती काल में 'कर्ण' कहा जाता था। वैदिक युग में भी जलयान के द्वारा सामुद्रिक व्यापार का स्पष्ट निर्देश मिलता है। पिछले युग के साहित्य में बड़े-बड़े व्यापारी जहाज, युद्ध पोत, क्रीड़ा-नौका आदि अनेक प्रकार के, जलयानों का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के युग में समुद्र कसे आर्यो का पूर्ण परिचय था; बड़ी-बड़ी नौकाओं को वनाकर उस युग के आर्य लोग समुद्री व्यापार करने में प्रवीण थे।

बोध प्रश्न—

बहु विकल्पीय प्रश्न

(अ) अथर्व शब्द की व्याख्या हमें प्राप्त होती है

(क) गोपथ ब्राह्मण **(ख)** शतपथ ब्राह्मण

(ग) ऐतरीय ब्राह्मण **(घ)** तैत्तिरियोपनिषद्

(ब) तीन संहिताऐं प्राप्त होती हैं

(क) यजुर्वेद **(ख)** ऋग्वेद

(ग) सामवेद **(घ)** अथर्ववेद

(स) दिर्घायु के लिए प्रार्थना है।

(क) आयुष्यानि सुक्त में **(ख)** भैषज्यानि सुक्त में

(ग) पोष्टिकानि सुक्त में **(घ)** स्त्रीकर्माणि सुक्त में

2.निचे वाक्य दिये गये हैं सही वाक्यों को सामने सही (√) तथा गलत वाक्यों के सामने गलत (×) का निशान लगाऐं-

(क) काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पुरक है। ( )

(ख) भौषज्यानि सुक्त के अन्तर्गत घरवनाने के लिये उपाय बताऐं गये है। ( )

(ग) पोष्टिकानि सुक्त में सबसे सुन्दर वृष्टि सूक्त है। ( )

3.रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) अथर्वाश्रिस के नाम से.....प्रसिद्ध है।

(ख) दुन्दुभिसूक्त में मुख्यरस.....है।

(ग) राजसम्बन्धी विषयों की चर्चा.....सूक्त से सम्बन्धित

5.6 सारांश

वेद चतुष्टय में अथर्ववेद की महत्ता स्वतः ही स्थापित है। इसको जानने वाला अथवा ज्ञाता को ब्रह्मा कहा जाता है जिससे इसके स्वरूप का स्वतः ही पता चल जाता है। इस इकाई की माध्यम से अथर्ववेद के अर्थ, इसके स्वरूप इसकी मुख्य शाखाऐं तथा इसके वर्ण्य विषय के साथ-साथ तत्कालीन समाज पर प्रकाश डाला गया है। जिसकी सहायता अथर्ववेद का परिचयात्मक स्वरूप आप के प्रतिभा तक पहुँचाया जा सकें। इसके अध्ययन के उपरान्त आप उन सभी साधारण विषयों को जान होगें की अथर्ववेद आज के परिवेश के लिए कितना महत्त्व स्वान्तर्गत समेटे हुए है।

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

(अ) (क) (ब) (घ) (स) (क)

(क) (√) (ख) (×) (ग) (√)

(क) अथर्ववेद (ख) वीर (ग) राजकर्माणि

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य और संस्कृति
2. कन्हैयालाल पोद्दार - संस्कृत साहित्य का इतिहास

5.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास - उमाशंकर शर्मा 'ऋर्षि'
2. अथर्व संहिता एण्डट्स फार्म्स - डॉ॰ एच॰ आर दिवेकर
3. काश्यम संहिता - राजगुरु पण्डित हेमराज शर्मा

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अर्थवेद का अर्थ बताते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण किजिए।
2. अथर्ववेद के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालिये।

संस्कृत साहित्य का परिचय
खण्ड – दो (Section-B)

इकाई-1 महर्षि वाल्मीकि एवं रामायण का परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का परिचय एवं समय
1.4 रामायण का मूल्यांकन
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

वैदिक एवं लौकिक साहित्य के सन्धिकाल पर विराजमान आदि काव्य की संज्ञा से विभूषित रामायण एवं उसके रचयिता आदि वाल्मीकि के परिचय वर्णन से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस इकाई के अन्तर्गत आप वाल्मीकि का जीवन और रामायण के बारें में जानेंगे। रामायण आदि काव्य महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित है। यह ग्रन्थ राम कथा के समस्त परवर्ती काव्यों एवं नाटकों का स्रोत है। इसको 'उपजीव्य काव्य' कहा गया है। अन्य सभी को उपजीवी। इस महाकाव्य में नायकत्व राम का है, नायिका चित्रण की केन्द्र बिन्दु सीता है। सम्पूर्ण महाकाव्य का अंगीरस करूण है। शेष अन्य रस सहायक रस के रूप में पदे – पदे दृष्टिगोचर है। राम और रावण के युद्ध का विस्तृत वर्णन इसी महाकाव्य में प्राप्त है। अत: इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप वाल्मीकि का परिचय बताते हुये रामायण में वर्णित घटनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से बता सकेंगे कि रामायण की महत्ता अन्य महाकाव्य की अपेक्षा अधिक क्यों है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- रामायण को आदि काव्य क्यों कहा जाता है, यह बताने में समर्थ हो सकेंगे।
- महर्षि वाल्मीकि ने किस घटना के आधार पर राम कथा का चित्रण किया, यह बता सकेंगें।
- वैदिक और लौकिक साहित्य की विशेषता के विषय में जान सकेंगे।
- रामायण में वर्णित नायक का चरित्र किस कोटि का है, इसका उल्लेख कर सकेंगे।
- रामायण का अंगी रस के विषय में जान सकेंगे।

1.3 आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का परिचय एवं समय

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत के आदिकवि के आदिकवि हैं तथा उनका रामायण आदिकाव्य है। उनकी कविता देश तथा काल की अवधि के द्वारा परिच्छिन्न नहीं की जा सकती। वे उन विश्व-कवियों में अग्रणी है जिनकी वाणी एक देश विशेष के प्राणियों का ही मंगल साधन नहीं करती और न किसी काल-विशेष के जीवों का मनोरंजन करती है। काल-क्रम से संस्कृत साहित्य के विकास में आदिम होने पर भी वाल्मीकि की अमृतमयी वाणी में सौन्दर्य – सृष्टिका चरम उत्कर्ष है तथा महनीय काव्य-कला का परम औदात्य है। वाल्मीकि का रामायण 'महनीय कला' के लिए जिस आदर्श को काव्य-गोष्ठी में प्रस्तुत किया है वह वाल्मीकि के इस काव्य में सुचारू रूप से अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। फ्लाउबेर की मान्यता में 'ग्रेट आर्ट (महान् कला) इन वस्तुओं की साधना तथा प्रसारणसे मण्डित होती है 2 – मानव सोख्य की अभिवृद्धि, दीन-आर्त जनों का उद्धार, परस्पर में सहानुभुति का प्रसार, हमारे और संसार के बीच सम्बन्ध के विषय में नवीन या प्राचीन सत्यों का अनुसन्धान, जिससे इस भूतल पर हमारा जीवन उदात्त तथा ओजस्वी बन जाय या **ईश्वर की महिमा झलके।** ' यह लक्षण वाल्मीकि के रामायण के ऊपर अक्षरश: घटित होता है। जीवन को ओजस्वी तथा उदात्त बनाने के लिए रामायण में जिन आदेशों की वाल्मीकि ने अपनी अमर तुलिका से चितत्रत किया, वे भारतवर्ष के लिए ही मान्य और आदरणीय नहीं है, प्रत्युत् महर्षि वाल्मीकि अपनी मानव-मात्र के सामने उच्च नैतिक स्तर तथा सामाजिक उदात्तता की भावना को प्रस्तुत करते हैं।

1.4 रामायण का मूल्यांकन

(क) जीवन के अस्थायी तत्वों के संगठन द्वारा निर्मित काव्य—

इस प्रकार की साहित्यिक रचना किसी काल-विशेष के लिए ही रोचक और उपादेय होती है, उस काल या युग का परिवर्तन होने पर नई आर्थिक स्थिति या सामाजिक ढॉचा आने पर वह केवल पुरानी ही नहीं पड जाती,

बल्कि वह अनावश्यक, अनुपादेय, निश्प्राण तथा निर्जीव बन जाती है। प्रत्येक युग में कतिपय समस्याएँ अपना विशिष्ट समाधान चाहती जैसे मध्ययुगीन यूरोप में 'फ्युडल सिस्टम' (सामन्तीय प्रथा), वर्तमान युग में वर्गों का परस्पर संघर्ष, मालिक और मजदूर का परस्पर विद्रोह, जमीदार तथा किसान का मनोमालिन्य, जो किसी विशेष आर्थिक ढॉचे की उपज है। इन समस्याओं का समाधान अनेक मूल्यवान् कृतियों का प्रेरक रहा है, परन्तु उस युग-विशेष के परिवर्तन के साथ ही साथ ये कला-कृतियॉ भी विस्मृति के गर्त में विलीन हो जाती हैं।

(ख) जीवन के स्थायी मूल्यवान् तत्वों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों पर आधारित काव्य—

कृतियॉ मानव-जीवन बालू की भीत के समान शीध्र ही ढहकर गिर जाने वाली वस्तु नहीं है। उसमें स्थायित्व है, पीछे आने वाली पीढियों को राह दिखाने की क्षमता है। और यह सम्भव होता है महनीय शोभन गुणों के कारण, जैसे उदात्तता, अर्थ और काम की धर्मानुकूलता, संकट के समय दीन का संरक्षण, विपत्ति के अघात से प्रताड़ित मानव को अपने बाहु-बल से बचाना, शरणागत का रक्षण आदि। इन्हीं गुणों की प्रतिष्ठा जीवन में स्थायिता तथा महनीयता की जननी होती है। ऐसे काव्यों को हम शाश्वत काव्य का अभिधान दे सकते हैं। वाल्मीकि का काव्य इस शाश्वत काव्य का समुज्जल निदर्शन है, क्योंकि वह मानव-जीवन के स्थायी मूल्यवान् तत्वों को लेकर निर्मित किया गया है। संस्कृत की आलोचना-परम्परा में रामायण 'सिद्धरस' प्रबन्ध कहा जाता है। कथा- वस्तु की विवेचना के अवसर पर आनन्दवर्धन का यह प्रख्यात श्लोक है (पृष्ठ148):-

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादय:।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी।

अभिनव गुप्त की व्याख्या से 'सिद्धरस' का अर्थ स्पष्ट झलकता है –सिद्ध: आस्वादमात्र - शेष:, नतु भावनीयो रसो यस्मिन्- अर्थात् जिस में रस की भावना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत रस आस्वाद के रूप में ही परिणत हो गया रहता है, वह काव्य 'सिद्धरस' कहलाता है, जैसे रामायण। श्रीरामचन्द्र का नाम सुनते ही प्रजावत्सल नरपति, आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही भ्राता, विपद्ग्रस्त मित्रों के सहायक बन्धु का कमनीय चित्र हमारे मानस-पटल के ऊपर अंकित हो जाता है। जनकनन्दिनी जानकी का नाम ज्यों हमारे श्रवण को रससिक्त बनाता है, त्यों ही हमारे लोचनों के सामने अलोकसामान्य पातिव्रत की मंजुल मूर्ति झूलने लगती है। उनके कथन-मात्र से हमारा हृदय आनन्दविभोर हो उठता है। उनसे आनन्द की स्फूर्ति होने के लिए क्या राम के आदर्शचरित्र के अनुशीलन की आवश्यकता पड़ती है ? हमारा हृदय राम-कथा से इतना स्निग्ध, रस-सिक्त तथा धुल-मिल गया है कि हमारे लिए राम और जानकी किसी अतीत युग की स्मृति न रहकर वर्तमान काल के जीवन्त प्राणी के रूप में परिणत हो गये हैं। इसीलिए रामायण को 'सिद्धरस' काव्य कहा गया है। वाल्मीकि विमल प्रतिभा से सम्पन्न, दैवी गुणों से मण्डित,आर्षचक्षु रखनेवाले एक महनीय 'कवि' थे। 'कवि' के वास्तविक स्वरूप की झलक आलोचकों को वाल्मीकि के दृष्टान्त से ही मिली। कवि की कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का भी मन्जुल सामरस्य रहता है। महर्षि को वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था, परन्तु जब तक 'वर्णन' का उदय नहीं हुआ तब तक उनकी कविता' का प्राकटय नहीं हुआ। समालोचकशिरोमणि भट्टतौत का यह कथन यथार्थ है :-

उतथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुने।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।।

संस्कृत की काव्य-धारा रसकूल का आश्रय लेकर प्रवाहित होगी– इसका परिचय उसी मिल गया जब प्रेमपरायण सह्चर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौन्ची के करूण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था- शोक: श्लोकत्वमागत:। काव्य का जीवन रस है; काव्य का आत्मा रस है- यह आदि- कवि की आलोचना-जगत को महती देन है। वाल्मीकि के काव्य की सबसे बड़ी विशिष्टता है- उदात्तता।पात्रों के चित्रणमें, प्रसंगों के वर्णन में, प्रकृति के चित्रण में तथा सौन्दर्य की

स्फूर्तिमें सर्वत्र उदात्तता स्वाभाविक रूप से विराजती है। आदिकवि के इस काव्य-मन्दिर की पीठस्थली है राम तथा जानकी का पावन चरित्र। राम शोभन गुणों के भव्य पुन्ज हैं। वाल्मीकि ने ही हमें रामराज्य की सच्ची कल्पना देकर संसार के सामने एक आदरणीय आदर्श प्रस्तुत किया राम कृतज्ञता की मूर्ति हैं- वे किसी प्रकार किये गए एक भी उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं; परन्तु सैकड़ो अपकारों का भी वे स्मरण नहीं रखते (2।1।11)

कथन्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मकतया ।।

वे सदा दान देते हैं, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते, सत्यपराक्रम राम अपने प्राण बचाने के लिए भी इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते।

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किन्चिदप्रियम्।
अपि जीवितह्वतोर्वा राम: सत्यपराक्रम: ।।

राम पूर्ण मानव हैं। वे आदर्श पति हैं।सीता के प्रतिराम का सन्ताप चतुर्मुखी है। स्त्री (अबला) के नाश होने से वे कारूण्य से सन्तप्त हैं। आश्रिता के नाश से दया (आनृशंसय) के कारण, पत्नी (यज्ञ से सहधर्म-चारिणी) के नाश से शोक के कारण तथा प्रिया (प्रेमपात्री) के नाश से प्रेम (मदन) के कारण वे सन्तप्त हो रहे हैं(5।15।49)

स्त्री प्रणष्टेति कारूण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यत:।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेने च ।।

राम के भातृ-प्रेम का परिचय हमें तब मिलता है, जब वे लक्ष्मण को शक्ति लगने पर अपने अनूठे हृद्गत भाव की अभिव्यक्ति करते है:-

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा:।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्रातासहोदर: ।।

प्रत्येक देश में स्त्रियॉं मिल सकती हैं तथा बन्धुजन भी प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु मैं तो ऐसा देश ही नहीं देखता जहाँ सहोदर भ्राता मिल सके।अनूठी उक्ति है राम की यह। शत्रु के भ्राता विभीषण को बिना विचार किये ही शरणगति प्रदान करना राम के चरित्र का मर्मस्थल है, परन्तु मेरी दृष्टि में उनकी उदात्तता का परिचय रावण-वध के प्रसंग में हमें मिलता है। राम का यह औदार्य आज तो कल्पना के भी बाहर है:-

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं न प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।।

हे विभीषण, वैर का अन्त होता है शत्रु के मरण से। रावण की मृत्यु के साथ ही साथ हमारी शत्रुता भी समाप्त हो गई। उसका दाह-संस्कार आदि क्रिया करो। मेरा भी वह वैसा ही है जैसा तुम्हारा। 'मामाप्येष यथा तव'- रामचरित्र की उदात्तता का चरम उत्कर्ष है। भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता और शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का शील वाल्मीकि की प्रतिभा का विलास है, पातिव्रत धर्म का उत्कर्ष है आर्य-ललना की विशुद्धि का प्रतीक है रावण को सीता की यह भर्त्सना कितनी उदात्तता है (5।37/62)

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं कि पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्।।

इस निन्दनीय निशाचर रावण से प्रेम करने की बात दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से – नहीं, बाएँ पैर से – भी नहीं छू सकती। अपनी पीठ पर बैठकर राम के पास पहुँचा देने के हनुमान के प्रस्ताव को ठुकराती हुई सीता

कह रही हैं कि मैं स्वयं किसी भी परपुरूष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती। रावण का तो स्पर्श अनाथ तथा असमर्थ होने से ही मुझे करना पड़ा था। सीता की यह चिर स्मरणीय उक्ति विशुद्धि के चरम की सूचिका है (5/37/62)

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम।।

परित्याग के समय भी सीता का धैर्य तथा उनका उदार चरित्र वाल्मीकि की लेखनी का चमत्कार है जिसे कालिदास और भवभूति ने अपने ग्रन्थों में अक्षरश: चित्रित किया है।

रामायण का कला पक्ष—

रामायण में हृदयपक्ष का प्राधान्य होने पर भी कलापक्ष की अवहेलना नहीं है। वाल्मीकि की भाषा उदात्त भावों की अभिव्यक्ति का समर्थ माध्यम है। छोटे-छोटे, प्राय: समासविहीन पदों में महर्षि ने बड़े ही सरस तथा सरल शब्दों के द्वारा अपने भावों की अभिव्यंजना की है। शाब्दी सुषमा की ओर महर्षि का ध्यान स्वत:आकृष्ट हुआ है तथा उन्होंने इसका प्रकटीकरण बड़ी सुन्दरता तथा भावुकता के साथ किया है। आनुप्रासिक शोभा के लिए एक पद्य का दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

तस्य संदिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च ।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव।।

अलंकार से विहीन, सुषमा से हीन सीता को देखकर हनुमान जी ने बड़े कष्ट से पहचाना कि यही सीता है, जिस प्रकार संस्कार से हीन तथा अर्थान्तर (भिन्न अर्थ) में प्रयुक्त वीणा को सुनकर श्रोता बड़ी कठिनता से उसके स्वरूप को पहचानता है (सुन्दर काण्ड 15/37):-

दु:खेन बुबुधे सीतां हनुमान् अनलंकृताम्।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्।।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा का प्रदर्शन भी बड़ा चमत्कारपूर्ण है। लंका-दाह के अनन्तर हनुमान अरिष्ट पर्वत के ऊपर जब चढ़ते हैं (सर्ग 56) तब वाल्मीकि ने उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है- एक से एक नवीन चमत्कारी उत्प्रेक्षा जिसे कवि की वाणी ने स्पर्श कर उच्छिष्ट नहीं बना डाला है। पर्वत के श्रृड्गों से लटकने वाले मेघों के द्वारा प्रतीत होता है कि वह पहाड़ चादर ओढ़े हुए है:-

सोत्तरीयमिवाम्भोदै: श्रृड्गान्तर विलम्बिभि।

जल की बाढ़ की गम्भीर गड़गड़ाहट के कारण वह पर्वत अध्ययन-सा प्रतीत होता है तथा अनेक झरनों के शब्दों से वह गीत गाता–सा मालूम पड़ रहा है (सुन्दर काण्ड 56/28)

तोयौघनि:स्वनैर्मन्द्रै: प्राधीतमिव सवर्त:।
प्रगीतमिव विस्पष्टं नानाप्रस्रवणस्वनै:।।

अलंकारो का यह विन्यास पाठकों के हृदय में केवल कौतुक तथा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं किया है, प्रत्युत यह रसानुकूल है- मूल रस का पर्याप्त रूप से पोषक, संवर्धक तथा परिवृंदक है। रूपक की भी छटा कम सुहावनी नहीं है। तात्पर्य यह है कि रामायण में कला-पक्ष का विकास भी बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है। तथ्य यह है कि रसमग्न कवि जान-बूझकर किसी शाब्दी शोभा या आर्थी छटा से अपने काव्य को चमत्कृत बनाते हैं। इस तथ्य को हमारे आलंकारिकों ने खूब पहचाना है और इसीलिए आनन्दवर्धक रसपेशल अलंकार के लिए 'अपृथक् यत्ननिर्वर्त्य' होना नितान्त आवश्यक गुण मानते हैं। रसात्मक अलंकार के लिए कवि को कोई प्रयत्न अलग से नहीं करना पड़ता। रसाविष्ट दशा में वे स्वत: आविर्भूत हो जाते हैं, यह तथ्य हमारे आलोचकों ने वाल्मीकि की काव्य-कला के विश्लेषण से अवगत किया।

वाल्मीकि की प्रतिभा तथा योग्यता की एक महती दिशा अभी तक सामान्य आलोचकों की दृष्टि से ओझल रही है। वाल्मीकि हमारे आदिकवि ही नहीं है, प्रत्युत् आदि आलोचक भी हैं। काव्य का नैसर्गिक रूप क्या होता है, महाकाव्य के भीतर किन मौलिक उपादानों का ग्रहण होता है? आदि प्रश्नों का प्रथम उत्तर हमें 'वाल्मीकि –रामायण' में उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य में 'महाकाव्य' की कल्पना रामायण के साहित्यिक विश्लेषण का निश्चित परिणाम है। रामायण के अन्तरंग तथा बहिरंग की समीक्षा करके संस्कृत साहित्य को वर्धिष्णु तथा समृद्ध बनाया। काव्य के अन्तरंग के अन्तरंग की समीक्षणके प्रसंग में महर्षि की सबसे बड़ी देन आलोचना-जगत् को है- शोक तथा श्लोक का समीकरण(शोक: श्लोकत्वमागत)। इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संस्कृत के मूर्धन्य आलोचक आनन्दवर्धन ने तथा महाकवि कालिदास ने समभावेन इंगित किया है। कालिदास की स्पष्ट उक्ति है (रघुवंश) :-

विषादविद्दाण्डजदर्शनोत्य: श्लोकत्वमापद्यत् यस्य शोक:।

आनन्दवर्धन की रूचिर आलोचना है (ध्वन्यालोक 1/5):-

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।।

इस समीकरण का तात्पर्य बड़ा गम्भीर है। रसाविष्ट हृदय होने पर ही कविता का उद्गम होता है। जब तक कवि के हृदय को तीव्र भावना आक्रान्त नहीं करती, तब तक वह विशुद्ध कविता का निर्माण नहीं कर सकता। काव्य अन्तश्चेतना की बाह्य अभिव्यक्ति है। जो हृदय स्वत: किसी भाव का अनुभव नहीं करता, वह किसी भी दशा में दूसरों के ऊपर उस भाव को प्रकटीकरण नहीं कर सकता। अतएव रसात्मक कविता के उन्मेष के लिए हृदय को रस दशा में पहुँचाना ही पड़ता है। तीव्र भाव के अन्त:जागरण के साथ ही साथ उसकी शाब्दी अभिव्यक्ति बाहर अवश्यमेव होती है। आलोचना के इस मर्म को वाल्मीकि का महत्वपूर्ण तथ्यसंकेत है। यह तक हुई काव्य की अन्त:स्फूर्ति की चर्चा। काव्य के बहिरंग रूप के विषय में वाल्मीकि में बहुत-सी उपादेय सामग्री अपने विश्लेषण की अपेक्षा रखती है। लव-कुश के द्वारा मधुर स्वरों में रामायण का गायन वाल्मीकि की इस मार्मिकआलोचना का भाजन है (बालकाण्ड 4/17) :-

अहो गीतस्य माधुर्य श्लोकानां च विशेषत:।

चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।।

प्राचीन काल में बहुत पूर्व निवृत्त होने वाली घटना को प्रत्यक्ष के समान दिखलाने वाला काव्य ही हमारी श्लाघा का पात्र होता है। यह पद्य केवल माधुर्य गुण तथा भाविक अलंकार के काव्य में आवश्यक प्रसाधन होने की ओर ही संकेत नहीं करता, प्रत्युत यह पद्य अभिनवगुप्त के साहित्य –शास्त्रीय गुरू भट्टतौत के उस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का भी आधार है जिसके द्वारा रस की अनुभूति के लिए उसका 'प्रत्यक्षायमाण' होना एक आवश्यक साधन होता है। इसी प्रकार किष्किन्धा काण्ड में हनुमान जी के भाषण की प्रशंसा में रामचन्द्र ने जो उपादेय बातें कहीं हैं वे साहित्य की दृष्टि से मार्मिक है। (किष्किन्धा काण्ड 3 सर्ग 30-32 श्लोक) । इस प्रकार समीक्षा करने पर वाल्मीकि का आलोचक रूप भी हमारे सामने भली –भॉति प्रकट होता है।

तथ्य तो यह है कि वाल्मीकि की प्रतिभा ने रामायण में जिस अमृत रस का सन्निवेश किया है वह सदा कविजनों को आप्यायित करता रहेगा। हजारों वर्षो से भारतीय पाठकों का हृदय रामायण के पाठ से स्पन्दित होता आया है और आगे भी स्पन्दित होता रहेगा। मानव-मूल्यों के अंकन में, काव्य के सुचारू आदर्श के चित्रण में, जीवन को उदात्त बनाने की कला में, सत्यं तथा शिवं के साथ सुन्दरं के मधुमय सामान्जस्य में वाल्मीकि की वाणी विश्व के सामने एक भव्य आदर्श उपस्थित करके जनता के हृदय को सदा आप्यायित करती रहेगी-इस चिरन्तन सत्य का कथमपि अपलाप नहीं हो सकता।

रामायण का अंगी रस—

इस विषय में आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है कि रामायण के आरम्भ में 'शोक: श्लोकत्वमागत:' इस कथन के द्वारा वाल्मीकि ने स्वयं ही करूण रस की सूचना दी है और सीता के आत्यन्तिक वियोग तक अपने प्रबन्ध का निर्माण कर उन्होंने करूण रस का पूर्ण निर्वाह किया है। फलत रामायण का अंगीरस 'करूणा' ही है (ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृष्ट 237) अन्य रस जैसे श्रृंगार और वीर अंग रस हैं। वाल्मीकि के अनुसरणकर्ता कवियों ने भी अपने काव्यों में करूण रस का परिपोष किया है।

वाल्मीकि समग्र कविसमाज के उपजीव्य है, विशेषत: कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का श्रृंगार रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करूण' रस कम प्रभावशाली नहीं हैं कालिदास ने उभयविध 'करूण' को उपस्थित कर उसे सांगोपांग रूप से दिखलाया है। पत्नी की करूणा का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते है और पति के निमित्त पत्नी की करूण परिवेदना 'रति-विलाप' के रूप में हमें रूलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल मानव-चित्त सन्ताप से मृदु बन जायगा- क्या इस विषय में संदेह के लिए स्थान है ? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु? कालिदास के इन करूण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है परन्तु भवभूति के उत्तर -रामचरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रूलाया है और वज्र के हृदय को भी विदीर्ण होते दिखाया है – अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदय। भवभूति ने करूण को 'एको रस:' –मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उनकी विकृति माना है। एको रस: करूण एव निमित्तभेदात्' - इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये। वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतलों को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वटवृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए खडा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभि का गर्जन तथा सैनिकों का माहात्म्य प्रदर्शित होता है परन्तु रामायण माहात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं हैं। किसी देवचरित के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा ,तब नारद ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया-'तैर्युक्त: श्रूतयां नर:' रामायण नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य -जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति , आदर्श पत्नी -आदि जितने आदर्शो को इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी-पति-पत्नी- की परस्पर विशुद्-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा गृहस्थाश्रम है। अत: यदि इस गार्हस्थ्य धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

रामचरित्र

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है-मर्यादा-पुरूषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदिकवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता, तो हमे मंजुल गुणों के सामन्जस्य का परिचय कहॉ से मिलता ?इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव के कान और नेत्र इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठती हैं। रामायण को जितनी बार पढा जाय, उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बाते सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढनेवालों का चित्त आनन्द से गद्गद् हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित होता आ रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अंकन में यह लेखनी प्रवृत्त हो ? उनकी कृतज्ञता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय ? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते है; और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो। उनके क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ है। अपने अपराधों के कारण हनन-योग्य व्यक्ति◌ायों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण कभी उनकी ऑख भी लाल नहीं होती (2/4/6)-

नास्य क्रोध: प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति।।

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते है, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय
कभी नहीं बोलते। साधारण स्थितिकी बात नहीं, प्राणसंकट उपस्थित होने की विषय दशा में भी सत्य पराक्रम वाले राम इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते। अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूति पूर्ण है ! सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मनस-तत्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत कियाहै। राम सीताके वियोग के चार कारणों से सन्तप्त हो रहे है[1]।–सीता के प्रति उनके परिताप का कारण चतुर्मुखी है। धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश होता है , परन्तु राम से यह न हो सका, अत: वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकते के कारण 'कारूण्य' से सन्तप्त हैं। बन में सीता राम की आश्रिता थी, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की,अत: 'आनृशंस्य' –आश्रित जनोंके संरक्षक –स्वभावसे सन्तप्त हैं। सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरी। उनके नष्ट होने पर श्रीराम के धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अत: शोक से; वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरी, परम सुख की साधिका ठहरी। उस परम लावण्यमयी पत्नी के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है- इस कारण' प्रेम' से। इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं।

वाल्मीकि की दृष्टि में मानव-जीवन में सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है और इसी चरित्र से युक्त व्यक्ति की खोज करने पर नारद जी ने वाल्मीकि को इक्ष्वाकुवंशी रामचन्द्र को सबसे श्रेष्ठ आदर्श मानव बतलाया। ब्रह्म को साक्षात् करने वाले, अनुष्टुप् छन्द के प्रथम अवतार के कारणभूत आदिकवि वाल्मीकि की परिणत प्रज्ञा का फल है यह वाल्मीकि रामायण मानव समाज, मानव-व्यवहार तथा मानव-सदद्गुणों की पराकाष्ठा का पूर्ण निर्वाह हम राम के जीवन में पाते हैं। राम शारीरिक सुषुमा तथा मानसिक सौन्दर्य- दोनों के जीते-जागते प्रतीक थे। राम के सौन्दर्य के वर्णन में वाल्मीकि कह रहे हैं (2/17/13):-

न हि तस्मान्मन: कश्चित् चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नर: शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे।।

रामचन्द्र की अलौकिक सुषमा का अनुमान इसी घटना से लगायाजा सकता है कि राम के अत्यन्त दूर चले जाने पर कोई भी मनुष्य न तो अपने मन को उनसे खींच सकता था और न अपने दोनों नेत्रों को। जो राम को

नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते – ये दोनों संसार में निन्दा के पात्र बनते हैं। इतना ही नहीं , उनकी अपनी आत्मा भी उन्हें निन्दा करती है। रामचन्द्र के दिव्य गुणों की यह झॉकी कितनी मधुर तथा सुन्दर है (2/1/10-14) :-

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं प्रभाषते।
उच्यमानोऽपि परूषं नोतरं प्रतिद्यते।।
बुद्धिमान् मधुरभाषी पूर्वाभाषी प्रियंवद:।
वीर्यवान् न च वीर्येण महता स्वेन विस्मित: ।।
न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजक:।
अनुरक्त: प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ।।

रामचन्द्र सदा शान्त –चित्त रहते थे। वे बड़ी कोमलता तथा मृदुता के साथ बोलते थे। उनसे कोई कितना भी रूखा क्यों न बोले, वे कभी भी कड़ा और रूखा उत्तर नहीं देते थे। किसी प्रकार किये गये एक भी उपकार से वह तुष्ट हो जाते थे, परन्तु सैकड़ों भी अपकारों को कभी स्मरण नहीं करते थे। किसी से भेंट होने पर भी वही पहिले बोलते थे और सदा मीठा बोलते थे। अत्यन्त वीर्यशाली थे, परन्तु इसके कारण उन्हें गर्व छूकर भी नहीं था। वे कभी झूठी बातें नहीं कहते थे । 'रामो द्विर्नाभिभाषते = राम कभी दो बात नहीं कहते थे, एक बार जो कह दिया सो कह दिया- प्रजाओं के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा मीठा था। आसक्ति उभयमार्गी थी। राम का अनुराग प्रजाओं के लिये वैसा था जैसा उनका राम के लिए था।

इन गुणों का अनुशीलन किसी भी व्यक्ति को मानवता के ऊँचे पद पर पहुँचने तथा प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। व्यक्ति के लिये मृदुभाषी होना; सत्य-वचन होना तो आवश्यक है ही ,परन्तु राम में वाल्मीकि ने एक विलक्षणगुण की सत्ता बतलाई है; वह है उपकारकी स्मृति तथा उपकार की विस्मृति । रामचन्द्र के इस उदार हृदय ,विशाल चित्त तथा महनीय आशय का पूर्ण परिचय उसी एक वाक्य से चलता है जिसे उन्होनें सीता की सुधि लानेवाले, अलौकिक उपकार करने वाले हनुमान जी से कहा था। जनकन्दिनी का सन्देश सुनकर विह्वलचित होकर राम ने यह वचन कहा था-

मय्येव जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं हरे।
नर: प्रत्युपकारार्थी विपत्तिम् अभिकांक्षति।

हे कपिकुलनन्दन ! आपने जो मेरे साथ उपकार किया है वह मेरे में ही जीर्ण हो जाय, मिलकर पच जाय, बाहर अभिव्यक्ति का कोई अवसर ही न आवे, क्योंकि प्रत्युपकार करनेवाला व्यक्ति अपने उपकारी के लिये विपत्ति की कामना करता है, जिससे उसे अपने प्रत्युपकार के लिए उचित अवसर मिले। कितनी उदात्त है वाल्मीकि की यह सूक्ति और कितना उदार है राम का हृदय वह कभी सोचते भी नहीं कि हनुमान के ऊपर विपत्ति आवे जिससे उनके साथ प्रत्युपकार करने का कभी अवसर मिले। रावण से युद्ध के समय रामचन्द्र की शौर्यभावना पूर्णतया अभिव्यक्ति पाती है। वे रावण की भर्त्सना इन शब्दों में करतेहैं (युद्ध0 105/13-14) –

स्त्रीषु शूर घिनाथासु परदाराभिमर्शक।
कृत्वा कापुरूषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे ।।
भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थित।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे।।

शूरता की यही सच्ची कसौटी है- स्त्रियों का आदर, मर्यादा का पालन, निर्लज्ज कार्य –कलापों से उपरम तथा शुभ चरित्र का व्यवस्थित रूप से पालन। रावण में इन सबका एकदम अभाव था। इसीलिये तो वह अन्याय तथा अधर्म का प्रतीक माना जाता है। पराक्रमी शत्रु से चित्र-विचित्र युद्ध के परिणाम रूप ही राम ने

रावण पर विजय पाया। रावण कोई साधारण शत्रु नहीं था। कैलाश को उखाड़ने वाला, ब्रह्मा को परास्त करने वाला तथा देवताओं से भी अपनी सेवा कराने वाला रावण कोई सामान्य मानव नहीं था। जगत् को अपने घोर कार्यो से रूलाने के कारण ही तो वह 'रावण' कहलाताथा। ऐसे शत्रु को मारकर राम ने उसके साथ जो सद्व्यवहार किया वह शूरजगत् की एक आलोकसामान्य घटना है।

रावण की मृत्यु पर शोक करते हुए विभीषण ने ठीक ही कहा (युद्ध0 122/5-8)-

गत: सेतु: सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रह: ।
गत: सत्तवस्य संक्षेप: प्रस्तावानां गतिर्गता।।
आदित्य: पतितो भूमौ मग्नतमसि चन्द्रमा:।
चित्रभानु: प्रशान्तार्चि: व्यवसायो निरूद्यम: ।
अस्मिन् निपतिते भूमौ वीरे शस्त्रभृतां वरे ।।

रावण का यह नितान्त यथार्थ चरित्र-चित्रण है । युद्ध में निहत रावण भूमि पर गिरनेवाले आदित्य, अन्धकार में धँसे हुए चन्द्रमा, शान्त ज्वाला वाले अग्नितथा उद्यमहीन उत्साह के समान है। राम ने भी रावण की उचित प्रशंसा की तथा उसमें वर्तमान गुणों के महत्व को समझाया और अन्त में अपने हृदय की विशालता को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया-

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं न: प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ।।

मरण ही वैर की समाप्ति है। रावण के मर जाने पर हमारा प्रयोजन सम्पन्न हो गया। अब इसका उचित दाह-संस्कार करो । जैसे यह तुम्हारा है, वैसे ही मेरा भी है ।शत्रु के प्रति इतनी उदार भावना रखना तथा तदनुसार व्यवहार करना युद्ध के इतिहास में अश्रुतपूर्व घटना है ।

सीता चरित्र—

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के हेलनासूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा। 'इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रहीं, मैं तो इसे अपने पैर से – नहीं- नहीं,बायें पैर से –भी नहीं छूसकती (5/26/10) ।

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं विगर्हितम् ।
रावणं कि पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ।।

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्रकी विशुद्धि सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटुवचन कहे । उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गदगद् हो जाता है । 'मेरे चरित्र पर लांछन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है- उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है- उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर-शार्दूल ! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषरोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहणकिया, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है-

त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता ।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ।।

न प्रमाणीकृत: पाणिर्बाल्ये बालेन पीड़िता ।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठत: कृतम् ।।

कितनी आजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में ! अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-वेधक है! सुनते ही सहृदय मनुष्य की ऑंखों में सहानुभूति के ऑंसू छलक पड़ते हैं।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य-प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है। सामायण हमारा जातीय महाकाव्य है। वह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है। यह मानव-जीवन राम –दर्शन के बिना निरर्थक है – 'राम-दर्शन' उभय अर्थमें – राम-कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक दर्शन (राम को देखना। राम जिसको नहीं देखते,वह लोक में निन्दित है और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका भी जीवन निन्दित है। उसका अन्त:करण स्वयं उसकी निन्दा करने लगता है-

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्चति।
निन्दित: सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ।।(2/17/14)

मानवता की कसौटी: वाल्मीकि की दृष्टि में-

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में 'चरित्र' ही मानवता की कसौटी है। चरित्र से युक्त मनुष्य की खोज तथा उसका विशद वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। वाल्मीकि ने महर्षि नारद से यही जिज्ञासा की है- 'चारित्रेण च को युक्त:?' चरित्र ही मानव को देवता बनाता है। इस चरित्र का पूर्ण विकास मर्यादा-पुरूषोत्तम रामचन्द्र में दृष्टिगोचर होता है। रामचरित्र ही आर्यचरित्र का आदर्श है और वह मानवता की चरम अभिव्यक्ति है। राम में मानसिक विकास की ही पूर्णता लक्षित नहीं होती है; अपि तु शारीरिक सौन्दर्य का भी मंजुल पर्यवसान उनमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य- सुन्दर काण्ड , अध्याय 35)। राम में धैर्य का चूडान्त दृष्टान्त हमें मिलता है।

साधारण मनुष्य जीवन के साफल्यभूत राज्य से बहिर्भूत होने पर कितना व्यथित तथा आर्त होता है? यह अनुभव से हमें भली-भॉति पता चलता है, परन्तु राम के ऊपर इस निर्मम घटना का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़त। वे महनीय हिमालय के समान अडिग तथा अडोल खडे होकरविपत्ति के दुर्दान्त तरंगों को अपने विशाल वक्ष:स्थल के ऊपर सहते हैं, और उनके चित्त में किसी प्रकार का विकार लक्षित नहीं होता :- (2/19/33)

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ।।

इसका कारण यह था कि उनमें ममत्व बुद्धि का विलास दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवद्गीता के अनुसार आदर्श मानव में जिन गुणों का सद्भाव रहता है, रामचन्द्र उन समग्रगुणों की जीवन्त मूर्ति थे। विषमबुद्धि व्यक्ति ही परिस्थिति के विपर्यय से परिताप का आश्रय बनता है, परन्तु समबुद्धि व्यक्ति विषम विपर्यय में भी परिताप को अपने पास फटकने नहीं देता। समबुद्धि तथा समदर्शी राम परिताप करने से इसीलिए कोसों दूर हैं। राम क्षात्र धर्म के साकार विग्रह हैं। भारतवर्ष का क्षत्रियत्व राम के नस-नस में व्याप्त हो रहा है। ऋषियों के विशेष आग्रह करने पर राम राक्षसों के मारने की विकट प्रतिज्ञा करते हैं। सीता क्षात्रधर्म के सेवन से बुद्धिके मलिन होने की बात सुनाकर उन्हें इस कार्य से विरत करना चाहती हैं (3।958), परन्तु राम इस प्रेममय उपालम्भ का तिरस्कार कर डंके की चोट क्षत्रियत्व के आदर्श को प्रकट करते हैं:- क्षत्रियैर्धार्यर्ते चापो नार्त-शब्दो भवेदिति (10/3)। क्षत्रियों के द्वारा धनुष धारण करने की यही आवश्यकता है कि पीड़ितों का शब्द ही कहीं न हो। जगत् की रक्षा का भार धनुर्धारो क्षत्रियों के ऊपर सर्वदा रहता ही है।

राम सत्य तथा प्रतिज्ञा-पालन के महनीय व्रती हैं। सत्यनिष्ठा तथा प्रतिज्ञा-निर्वाह के महनीय व्रत के कारण वे संसार में महिमा –सम्पन्न माने जाते हैं। जाबालि ने राम को अयोध्या लौट जाने तथा सिंहासन पर आसीन होने के लिए किन युक्तियों का व्यूह नहीं रचा, परन्तु राम अपने सत्य से, पिता के सामने की गई प्रतिज्ञा से रंच मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े आग्रह से कहा कि न तो लोभ से, न मोह से, न अज्ञान से मैं सत्य के सेतु को तोड़ूंगा। पिता के सामने प्रतिज्ञा का निर्वाह अवश्य करूँगा (अयोध्या0 109/17)

नैव लोभान्न मोहाद्वा नह्यज्ञानात् तमोऽन्वित:।

सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरो: सत्यप्रतिश्रव:॥

सीता जी के द्वारा बारम्बार क्षात्रधर्मानुकूल प्रतिज्ञा-पालन से पराड़गुख किये जाने पर राम का क्षत्रियत्व उबल उठता है। वे डंकेकी चोट पुकार उठते हैं- मैं अपने प्राणों को भी छोड़ सकता हूँ, हे सीते? लक्ष्मण के साथ तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ परन्तु प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकता, विशेष कर ब्राह्मणों के साथ की गई प्रतिज्ञा तो मेरे लिए नितान्त अपरिहार्य है (अरण्य0 1019)-

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।

न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषत:॥

राजा की महिमा—

वाल्मीकि आर्यधर्म के रहस्य का उद्घाटन करते हैं, जब वे कहते है कि आर्यजीवन धर्मबन्ध से बंधा हुआ है। मानव भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वतन्त्र प्राणी तो अवश्य है, परन्तु समग्र मानव एक दूसरे से धर्मसम्बन्ध में बँधकर एक दूसरे के हित –चिन्तन तथा हिताचरण में संलग्न है तथा अपने निर्दिष्ट नैतिक मार्ग से एक पग भी नहीं डिगता।भरत अपने शुद्ध भावों की सफाई देते हुए कह रहे हैं कि धर्मबन्धन के कारण ही मैं वध करने योग्य भी पापाचारिणी माता को मार नहीं डालता (अयोध्या0 106/8)।

वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक कवि हैं। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। भारतीय राजा पाश्चात्य राजाओं के समान प्रजाओं की इच्छाओं का दलन करने वाला स्वेच्छाचारी नरपति नहीं होता, प्रत्युत वह प्रजाओं का रंजक, प्रकृतिरंजक, उनका हितचिन्तक तथा राष्ट्र का उन्नायक होता है। इस प्रसंग में 'अराजक जनपद' की दुरवस्था का वर्णन पढकर वाल्मीकि की मनोवृत्ति का हम अनुमान लगा सकते हैं। अयोध्याकाण्ड के 67 वें सर्गका 'नाराज के जनपदे' वाला लोकगायन भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का प्रकाशक एक महनीय वस्तु है। राजा राष्ट्र के धर्म तथा सत्य का उद्भव स्थल है (अयोध्या0 67/33/34) । इसीलिए उसके अभाव में राष्ट्र का कोई भी मंगल न सम्पन्न हो सकता है, न कोई कल्याण कल्पित हो सकता है।

वाल्मीकि ने राम के राज्य का जो सुखद तथा शुभग चित्रण किया है वह राजनीति शास्त्र को एक अनुपम देन है। राम राजनीति के महनीय उपासक थे। उनके समान नीतिमान् राजा दूसरा नहीं हुआ। ' रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्' (शुक्रनीति 4/6/1346)। इसलिए उनके द्वारा व्याख्यात तथा आचरित नीति ही राजाओं के लिए मान्य नीति है। अराजक जनपद में कृषि और गोरक्षा से जीने वाले सुरक्षित तथा धनी प्राणी द्वारा खोल कर कभी नहीं सोते थे, दस्यु दानवों के भय से। इसीलिए राजा की नितान्त आवश्यकता होती है (अयोध्या0 67।19)-

नाराजके जनपदे धनवन्त: सुरक्षिता:।

शेरते विवृतद्वारा: कृषिगोरक्ष- जीविन:॥

इस प्रकार वाल्मीकि भारतीय साहित्य के हृदय के ही प्रकाशक आदिकवि नहीं है, बल्कि वे भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी भी हैं। कमनीय काव्यलता उनके रामायण के पद्यों में स्वत: नाचती है और भारत की भव्य संस्कृति उनके पात्रों के द्वारा अपनी वाल्मीकि मनोरम झाँकी दिखलाती है।

इसीलिए कविता –कल्पद्रुम के कमनीय कोकिल रूप वाल्मीकि का कूंजन किसे आनन्द विभोर नहीं करता?

बोध प्रश्न-

अभ्यास प्रश्न-1

निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प चुनकर उत्तर दीजिये -

1. निम्नलिखित में आदि कवि कौन है।

क. कबीरदास ख. तुलसीदास ग. वाल्मीकि घ. इनमें से कोई नहीं

2. रामायण के रचनाकार है।

क. आनन्दवर्द्धन ख. वाल्मीकि ग. तुलसीदास घ. कालीदास

3. रावण का वध किसने किया था।

क. रामचन्द्र ख. कृष्ण ग. ब्रह्मा घ. शिव

4. संस्कृत की आलोचना-परम्परा में कौन 'सिद्धरस' प्रबन्ध कहा जाता है

क. रामायण ख. महाभारत ग. ध्वन्यालोक घ. कोई नहीं

5. निम्नलिखित श्लोक को पूरा कीजिये -

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा:।

..... ॥

क. तं तु देशं न पश्चामि यत्र भ्रातासहोदर: ॥

ख. न प्रमाणीकृत: पाणिर्बाल्ये बालेन पीड़िता।

ग. मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठत: कृतम्

घ. नर: शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे

6. वैर की समाप्ति का कारण किसे माना गया है।

क. जन्म ख. मरण ग. मोक्ष घ. युद्ध

7. 'चरित्र ही मानवता की कसौटी है' किसका कथन है।

क. कालीदास ख. भतृहरि ग. वाल्मीकि घ. तुलसीदास

8. निम्नलिखित में किसे मर्यादा पुरूषोत्तम से सम्बोधित किया गया है।

क. राम ख. कृष्ण ग. वासुदेव घ. तुलसी

9. 'रामो द्विर्नाभिभाषते' का अर्थ है।

क. राम दो बात बोलते थे।

ख. राम कभी दो बात नहीं बोलते थे।

ग. राम हमेशा बोलते थे।

घ. कोई नहीं

10. रामायण महाकाव्य का अंगीरस क्या है।

क. रौद्र ख. श्रृंगार ग. करूण घ. वीभत्स

11. रामायण महाकाव्य की नायिका कौन है।

क. सीता ख. अनुसूया ग. सावित्री घ. कोई नहीं

12. निम्नलिखित में राष्ट्र का नायक होता है।

क. राजा ख. रानी ग. कवि घ. मन्त्री

1.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपने जाना कि रामायण को आदिकाव्य कहा जाता है। इसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि है। यही भारतीय काव्य जगत का उद्गम स्रोत भी माना जाता है। रामायण अपने परवर्ती विशाल काव्य एवं नाट्य साहित्य का उद्गम ग्रन्थ है। राम और सीता के आदर्श चरित्र के वर्णन से संबलित तो है ही किन्तु इसमें वर्णित समस्त घटनायें राम और सीता द्वारा आचरित हैं। रामायण की प्रशंसा समस्त साहित्य जगत् करता है। वाल्मीकि को कविकोकिल की संज्ञा से विभूषित किया गया है। रामायण का अंगी रस करूण है। जिसकी नायिका सीता है। उत्तम नायक और नायिका के समस्त लक्षण इन दोनों में घटित होते हैं। करूण रस की विविधता इस ग्रन्थ में प्रतिपद दृष्टिगोचर है। चरित्र चित्रण के लिये रामायण में वर्णित पात्रों की चारित्रिक विशेषतायें मानदण्ड के रूप में परिलक्षित है। सीता का चरित्र एक स्त्री सुलभ मर्यादा की शिक्षा सम्पूर्ण परवर्ती समाज को प्रदान करता है। एक आदर्श पत्नी का प्रतिबिम्बन इनके चरित्र में प्रतिपद अनुकरणीय है। इसी प्रकार नायक राम एक पत्नीव्रत नायक है। वह विषम परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होता। यद्यपि प्रजा पालन कर्तव्यनिष्ठा आदि सभी तत्वों का चित्रण एक महाकाव्य के नायकत्व के रूप में तो हैं ही किन्तु इतना होने पर भी अन्य सभी महाकाव्यों में वर्णित नायक के गुणों से कुछ अतिरिक्त राम का नायकत्व है। इसीलिये भारतीय मनीषा कहती है कि – राम तुम्हारा चरित्र स्वयं ही काव्य है। जो कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है। अत: इस इकाई का अवलोकन कर आप रामायण महाकाव्य के साहित्यिक, सामाजिक तथा अन्य वैशिष्ट्य को बता सकेंगे।

1.6 शब्दावली

क्षात्रधर्मानुकूल – क्षत्रिय धर्म के अनुकूल
रामायण – राम और अयन दो शब्दों से मिलकर रामायण शब्द बनता है। अयन का अर्थ है घर, निवास।
नायक- ग्रन्थ के वर्णन गौरव के लिये कथावस्तु का श्रेष्ठ संचालक नायक कहलाता है।
नायिका, - स्त्री सुलभ मर्यादा की पालिका नायक की सहधर्मिणी
सम्भाव्य – सम्भव होना
नीतिमानभूत – नियम के अनुरूप
पापाचारिणी – पाप का आचरण करने वाली स्त्री पापाचारिणी कहलाती है।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नोत्तर—

1. ग. **वाल्मीकि** 2. ख. **वाल्मीकि** 3. क. **रामचन्द्र** 4. क **रामायण** 5. क. **तं तु देशं**
2. **न पश्यामि यत्र भ्रातासहोदर:** 6. ख. **मरण** 7. ग. **वाल्मीकि** 8. क. **राम** 9. ख. **राम कभी दो बात नहीं बोलते थे।** 10. ग. **करूण** 11. क. **सीता** 12 क. **राजा**

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय – चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
2 . संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ वाचस्पति गैरोला – चौखम्भासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वाल्मीकि का परिचय अपने शब्दों में लिखिये।
2. राम का विस्तृत चरित्र चित्रण कीजिये।
3. सीता की चारित्रिक विशेषतायें लिखिये।

इकाई-2 महर्षि व्यास एवं महाभारत का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 महर्षि व्यास परिचय एवं समय
2.4 महाभारत का परिचय
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने आदिकवि बाल्मीकि एवं उनकी रचना रामायण के बारे में जाना। वैदिक सनातन परम्परा में धर्म की स्थापना करने हेतु धर्मग्रन्थ के रचनाकार वेदव्यास का परिचय, समय एवं महाभारत का परिचय वर्णन से सम्बन्धित यह दूसरी इकाई है। महाभारत धर्मग्रन्थ के साथ–साथ मानवीय सभ्यता की मर्यादा एवं आदर्श स्थापित करने वाला एक महासूत्र है, जिसको अपनाकर मानव अपना एवं अपने राष्ट्र का सर्वतोमुखी विकास करने में सफल हो सकता है। इस इकाई में आप महाभारत एवं उसके रचयिता वेदव्यास से सम्बन्धित विषय का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेगें कि महाभारत के रचयिता वेदव्यास जी सत्यवती के पुत्र थे, जो स्वयं महाभारत के एक महत्वपूर्ण पात्र थी। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा यज्ञीय उपयोग के लिए चारों वेदों को संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- महर्षि व्यास के विषय में जान सकेंगे।
- शान्त रस को महाभारत में किस कारण से अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित किया है, इसे निरूपित कर सकेंगे।
- महाभारत की साहित्यिक विशेषताओं का विस्तृत वर्णन कर सकेंगे ।
- महाभारत का परिवर्द्धन कितनी श्रेणियों में हुआ है, इसका वर्णन कर सकेंगे।
- महाभारत में जीवन से सम्बन्धित सामान्य और विशिष्ट प्रकार की शिक्षायें को जानने में समर्थ हो सकेंगे।

2.3 महर्षि व्यास परिचय एवं समय

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्य रूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास– वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षो से करता आ रहा है। इसलिए इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मगन्थ मानते आये हैं, जिसका पठन-पाठन श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ इसी के अंश हैं। इन्हीं पॉच ग्रन्थों को 'पंचरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण महाभारत 'पंचम वेद' के नाम से विख्यात है।

वाल्मीकि के समान व्यास भी संस्कृत कवियों के लिए उपजीव्य हैं। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य, नाटक, गद्य, चम्पू, पद्य , कथा, आख्यायिका आदि नाना प्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों ? जावा,सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहॉ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहणकरते हैं तथा पाण्डव-चरित के अभिनय से उसी प्रकार मनोरंजन करते हैं जिस प्रकार भारतवासी। महाभारत इतना विशाल है कि व्यासजी का यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होता है- 'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह

अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।[1] प्राचीन राजनीति को जानने के लिए हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति, जिसमें आचार तथा लोकव्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण है, महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक , राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था। मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा यज्ञीय उपयोग के लिए एक को वेद चार संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही नहीं थे, प्रत्युत पाण्डवों का विपत्ति के समय छाया के समान अनुगमन करने वाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढस तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहने की शिक्षा दिया करते थे। कौरवों को युद्ध से विरत् करने के लिए इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषय –भोग के पुतले इन कौरवों ने इनके उपदेशों को लात मारकर अपनी करनी का फल खूब ही पाया। इनसे बढकर भारतीय युद्ध के वर्णन करने का अधिकारी कोई दूसरा विद्वान् नहीं था। इन्होंने तीन वर्षो तक सतत परिश्रम से – सदा उत्थान से –इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की (आदिपूर्व-56/52):-

त्रिभिर्वर्षै: सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनि:।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ।।

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्षो के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्य-प्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है। आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसलिए इसे 'शतसाहस्र-संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से पुराना अवश्य है, क्योंकि गुप्त –कालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियो में विकसित हुआ। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे, जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्यवैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरूषों की बातें उल्लिखित मिलतीहैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने जिस काव्य का रूप दिया है वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है।

2.4 महाभारत का परिचय

महाभारत के विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं- (1) जय, (2) भारत, (3) महाभारत। इस ग्रन्थ का मौलिक रूप (1) 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में नारायण[1] , 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था।[2] पाण्डवों के विजय-वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया है।

(2) भारत – 'जय के अनन्तर विकसित होने पर इस ग्रन्थ का अभिधान पड़ा - भारत। नाम से प्रतीत होता है कि यह भारतवंशी कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन परक ग्रन्थ था। उस समय उसका परिणाम केवल चौबीस सहस्र श्लोक था और यह आख्यानों से रहित था। (3) उपाख्यानों के समावेश ने इसे भारत से 'महाभारत' का रूप प्रदान किया, जो अपने 'खिल पर्व '(अर्थात् परिशिष्ट रूप) 'हरिवंश' से संयुक्त होकर परिमाण में चतुर्गुण हो गया –एक लाख श्लोक वाला।

(3) **महाभारत** - लगभग पॉच सौ वर्ष ईस्वी पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही

निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना-प्रधान हैं, कतिपय तत्कालीन लोक –कथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्मतथा नीति की विशद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। डाक्टर सुखठणकर का प्रमाणपुष्ट मत है[4] कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल महाभारत का वर्तमान वृद्धिंगत रूप है। कुलपति शौकन स्वयं भार्गव थे, उनकी जिज्ञासा भार्गववश की कथा सुनने की थी। तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्। महाभारत के नाना उपाख्यानों का सम्बन्ध स्पष्टरूप से भार्गवों के साथ है। और्व (आदि) कार्तवीर्य (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग) ,विपुला (शान्ति), उर्त्तक (अश्व0) इन समग्र विख्यात् आख्यानों का सीधा सम्बन्ध भार्गवों के साथ है। आदि पर्व के प्रथम 53 अध्याय (पौलोम तथा पौष्यपर्व) भार्गववंशीय कथा से अपना सम्बन्ध रखता है।

महाभारत का रचना काल—

आज उपलब्ध महाभारत लक्ष श्लोकात्मक हैं। यह स्वरूप अठारह पर्वो का न होकर हरिवंश से संयुक्त करने पर ही सिद्ध होता है। परिशिष्ट होनेसे हरिवंश भी महाभारत का अविभाज्य अंग माना जाता था और इन दोनों को मिलाने पर ही एक लाख श्लोक की संख्या निर्णीत होती है। इस 1 महाभारत के काल-निर्णय के निमित्त कतिपय प्रमाण उपस्थित किये जाते है:-

(क) अठारह पर्वो का यह ग्रन्थ तथा हरिवंश संवत् 535 और 635 के बीच जावा तथा बाली द्वीपों में विद्यमान थे। कविभाषा में अनूदित समग्र ग्रन्थ के आठ पर्व-आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आरमवासी, मुसल,प्रस्थानिक और सवर्गरोहण-बाली में इस समय उपलब्ध हैं और कुछ प्रकाशित भी हुए हैं। अनुवाद के बीच-बीच में मूल श्लोक भी दिये गये है, जो महाभारत के श्लोक से मिलते हैं। फलत: 535 सं0 से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व भारत में महाभारत का प्रामाण्य अंगीकृत था।

(ख) गुप्त शिलालेखों में एक शिलालेख (चेदि संवत् 197 विक्रमी 502=445 ईस्वी) में महाभारत का उल्लेख 'शतसाहस्री संहिता' अभिधान द्वारा किया गया है। अत: इस समय से दो सौ वर्ष पूर्व महाभारत को वर्तमान रूप में होना अनुमान सिद्ध है।

(ग) महाकवि अश्वघोष ने अपने 'वज्रसूची उपनिषद्' में हरिवंश के श्राद्ध माहात्म्य में से 'सप्तव्याधा दशार्णेषु' (हरिवंश 24/20, 21) इत्यादि श्लोक तथा महाभारत के ही अन्य श्लोक (शान्तिपर्व 261/17) पाये जाते हैं। इससे प्रकट है कि प्रथम शती से पूर्व हरिवंश को मिलाकर वर्तमान महाभारत प्रचलित था।

(घ) आश्वलायन गृह्यसूत्रों में (3/4/4) भारत और महाभारत का पृथक –पृथक उल्लेख किया गया है। बौधायन धर्मसूत्रों (2/2/26) के एक स्थान पर महाभारत वर्णित ययाति उपाख्यान का एक श्लोक मिलता है (आदि 78/10) तथा बौधायन गृह्य सूत्र में 'विश्णुसहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत् इसमें (2/22/9) गीता का 'पत्रं पुष्पं फलं तोय' श्लोक (गीता9/26) उद्धृत है। बौधायन ईस्वी सन् से लगभग चार सौ वर्ष पहिले हुए थे- ऐसा डॉ0 बूलर ने प्रमाणित किया है।

(ड़) महाभारत में जहॉ विष्णु के अवतारों का वर्णनकिया गया है, वहॉ बुद्धका नाम तक नहीं है। नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व 339/100) में दश अवतारों के भीतर हंस को प्रथम अवतार माना गया है और बुद्ध का उल्लेख न कर 'कल्कि'का निर्देश कृष्ण के तुरन्त बाद में किया गया है। फलत: बुद्ध से अनभिज्ञ महाभारत बुद्धपूर्वयुग की नि:संदिग्ध रचना है।

(च) चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आनेवाल यूनानी राजदूत मेगस्थानीज ने अपने भारत-विषयक ग्रन्थ में लिखा है कि हिरेक्लीज अपने मूल पुरूष डायोनिसस से पन्द्रहवॉ था और उसकी पूजा मथुरा के निवासी शौरसेनीय लीग आदर के साथ करते थे। हिरेक्लीज से श्रीकृष्ण का ही बोध होता है, जो महाभारत के

अनुसार दक्ष प्रजापति से पन्द्रहवें पुरूष थे (अनुशासन 14/7/25-33)। इतना ही नहीं, मेगास्थनीज ने विचित्र लोगों-कर्ण प्रावरण, एकपाद , ललटाक्ष आदि- का और सोना निकालनेवाली चीटियों का जो वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है वह महाभारत के ही आधार पर है (सभापर्व 51 और 52 अ0)। फलत: वह केवल महाभारत से ही परिचित नहीं था, प्रत्युत् उस युग में प्रचलित कृष्ण-चरित तथा कृष्ण पूजा से भी अवगत था।

इन प्रमाणों के साक्ष्य पर यह निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान महाभारत का निर्माण बुद्ध के पूर्व युग से सम्बद्ध है। ईस्वी पूर्व पन्चम अथवा षष्ठ शती में उसकी रचना हुई।

ग्रन्थ परिचय—

महाभारत के खण्डों को पूर्व कहते हैं। ये संख्या में 18 अठारह हैं-

(1) आदि, (2) सभा, (3) वन, (4) विराट, (5) उद्योग, (6) भीष्म , (7) द्रोण, (8) कर्ण, (9) शल्य, (10) सौप्तिक, (11) स्त्री, (12) शान्ति, (13) अनुशासन, (14) अश्वमेघ, (15) आश्रमवासी, (16) मौसल, (17) महाप्रस्थानिक, (18) स्वर्गारोहण। आदि पर्व में चन्द्रवंशका विस्तृत इतिहास तथा कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में द्यूतक्रीडा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराटपर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना,भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश ,युद्ध का आरम्भ , भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना; द्रोण पर्व में अभिमन्यु –वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; कर्ण का युद्ध और वध; शल्य पर्व शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध; सत्रीपर्व में स्त्रियों का विलाप; शान्तिपर्व में भीष्म पितामह का युधिष्ठिर को मोक्षधर्म तथा राजधर्म का उपदेश; अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ ; अश्वमेघ पर्व में युधिष्ठिर का अश्वमेघ यज्ञ करना; आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना; मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश; महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णितहै। इनके अतिरिक्त महाभारत में अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद उपाख्यान भी है, जिनमें निम्नलिखित आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं-

(1) **शकुन्लोपाख्यान** - यह उपाख्यान महाभारत के आदिपर्व में है (आ0 71), जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि कालिदास के 'शकुन्तलां नाटक का आधार यही आख्यान है।

(2) **मत्स्योपाख्यान-** यह वनपर्व में है। इसमें मत्स्यावतार की कथा है, जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का विवरण है। यह कथा 'शतपथ ब्राह्मण' में भी उपलब्ध होती है तथा भारत से भिन्न देशों के इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(3) **रामोपाख्यान**- यह भी कथा वनपर्व के 18 अध्यायों में वर्णित है (अ0 274-291)।

(4) शिवि उपाख्यान- यह सुप्रसिद्ध कथानक वन पर्व में ही है जिसमें उशीनर के राजा शिवि ने अपना प्राण देकर शरण में आये कपोत की रक्षा बाज से की थी (अ0 130) यह कथा जातकों में भी आती है।

(5) सावित्री उपाख्यान- भारतीय ललनाओं के लिए आदर्शरूप सावित्री की कथा वनपर्व में मिलती है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् तथा सावित्री का उपाख्यान पातिव्रत्य धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा शायद ही किसी अन्य साहित्य में प्राप्त हो (अ0 239)।

(6) नलोपाख्यान- राजा नल और दमयन्ती की कमनीय कथा इसी पर्व में मिलती है (अ0 52-79)। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' महाकाव्य का यही आधार है।

हरिवंश

महाभारत के खिल पर्व होने के कारण हरिवंश की आलोचना अब प्रसंग प्राप्त है। हरिवंश में श्लोकों की संख्या सोलह हजार तीन सौ चौहत्तर (16, 374 श्लोक) श्रीमद्भागवत् की श्लोक –संख्या से कुछ ही अधिक है। डॉ0 विन्टरनित्स के कथनानुसार यूनानी कवि होमर के दोनों महाकाव्यों 'इलियड' और 'ओडिसी' की सम्मिलित पद्य संख्या से भी यह अधिक है, परन्तु यह एक लेखक की रचना न होकर अनेक लेखकों के संयुक्त प्रयास का फल है। हरिवंश का अन्तिम पर्व (ग्रन्थ का तृतीय भाग) तो परिशिष्ट भूत हरिवंश का भी परिशिष्ट है और काल क्रम से सबसे पीछे का निर्मित भाग है। हरिवंश में तीन पर्व या खण्ड हैं-

(क) हरिवंश पर्व

(ख) विष्णुपर्व

(ग) भाविष्यपर्व

महाभारत के टीकाकार—

महाभारत के टीकाकारों की एक दीर्घ परम्परा है जिसके अन्तर्गत बड़े विद्वानों तथा अध्यात्मवेत्ता की गणना है। डॉ0 सुखठणकर के अनुसार महाभारत के टीकाकारों के नाम निम्नलिखित हैं:- अनन्तभट्ट, अर्जुन मिश्र, आनन्द, चतुर्भुज मिश्र, जगदीश चक्रवर्ती, देवबोध , नीलकण्ठ , महानन्द पूर्ण , यज्ञनारायण, रत्नगर्भ, रामकिंकर, रामकृष्ण, रामानुज, लक्ष्मण, वरद, वादिराज, विद्यासागर, विमलबोध, शंकराचार्य श्रीनिवास, सर्वज्ञनारायण, सृष्टिधर (22) इन बाइस टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य टीकाकार भी हैं- गदानन्द ('भारत-ज्ञान-दीपक' नामक टीका के कर्ता, जिनकी टीका का हस्तलेख वर्गीय साहित्य परिषद् में उपलब्ध है) , जगद्धर,जनार्दनमुनि और विद्यानिधिभट्ट (जिन चारोंका निर्देश आनन्द-पूर्ण ने अपनी भारत-टीका में किया है), वैशम्पायन तथा शान्डिल्य माधव (30) –(जिनमें प्रथम का निर्देश विमलबोध ने तथा अन्तिम दो का अर्जुन मिश्र ने अपनी टीकाओं में किया है), किसी रामकृष्ण की विरोधार्थभंजिनी व्याख्या तथा अज्ञातनामा लेखक का 'विषमपद-विवरण' विराटपर्व के ऊपर प्रकाशित हैं । आठ टीकाओं के 'लक्षाभरण' की कुछ टिप्पणियॉ विराट तथा उद्योग पर्व पर प्रकाशित हैं। आठ टीकाओं के साथ विराट पर्व को 1915 ई0 में तथा पॉच टीकाओं के साथ उद्योग पर्व को 1920 में गुजराती प्रिटिंग प्रेस ने प्रकाशित कर महाभारत के अनुशीलन कार्य में विशेष योगदान दिया है। 'निगूढ़पदबोधिनी' तथा 'भारतटिप्पणी' नामक अज्ञातनामा लेखकों की व्याख्या के अतिरिक्त उत्कल के कवीन्द्र (लगभग 1600 ई0) की 'भारत-व्याख्या' मिलती है। वादिराज की व्याख्या का नाम 'लक्षश्लोकालंकार' भी है । श्रीधराचार्य ने मोक्षधर्म के ऊपर अपनी व्याख्या लिखी है । इस प्रकार महाभारत के 36 टीकाकारों का पता पूर्णरूप से चलता है । इन टीकाकारों में से अनेक के तो नाम ही यत्र-तत्र निर्दिष्ट हैं तथा कतिपय टीकाकारों की टीका एक पर्व पर अथवा अनेक पर्व पर मिलती है। ऐसे श्लाध्य टीकाकार भी हैं जिनकी टीका भारत के 18 पर्वो पर उपलब्ध होती है इनमें प्रख्यात कतिपय टीकाकारों का कालक्रम से संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:-

(1) देवबोध या देवस्वामी- महाभारत के सर्वप्राचीन उपलब्ध टीकाकार है, जिनका उल्लेख पिछले टीकाकारों ने बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है । इनकी टीका आदि, सभा[1] 'भीष्मपर्व[1] तथा उद्योग पर्व के ऊपर प्रकाशित भी हो चुकी है। टीका की पुष्पिका में ये परमहंस परिव्राजकाचार्य कहे गये हैं। फलत: ये अद्वैतवादी सन्यासी थे। इनके गुरू का नाम सत्यबोध मिलता है। यह विस्तृत नहीं है;कठिन शब्दों का अर्थ देकर यह विषम स्थलों का तात्पर्य भी देती है। यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है । इसका प्रभाव पिछले टीकाकारों पर प्रचुर मात्रा में है। और मतभेद होने पर भी टीकाकारों ने इसका उल्लेख बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है। अर्जुनमिश्र के द्वारा यह श्लाघ्य स्तुति टीकाकारों के हार्दिक भाव को प्रकट करती है-

वेदव्यासमुखाम्भोजगलितं वाड़मयामृतम्।
संभोजयन्तं भुवनं देवबोधं भजामहे।।

विमलबोध ने इनके मत का उल्लेख अपनी टीका में किया है। फलत: इनका समय 1150 ईस्वी से पूर्व होना चाहिए।

(2) वैशम्पायन- मोक्षधर्म, अर्थात् शान्तिपर्व, के ऊपर लिखी इनकी व्याख्या उपलब्ध है। विमलबोध ने अपनी 'विषम-श्लोकी' नामक महाभारत-व्याख्या में इनके नाम का उल्लेख किया है-

वैशम्पायन-टीकादिदेवस्वामिमतानि च।
वीक्ष्य व्याख्या विरचिता दुर्घटार्थप्रकाशिनी ।।

अत: इनका भी आविर्भावकाल 1150 ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। देवबोध तथा विमलबोध के बीच की व्याख्याश्रृंखला वैशम्पायन के द्वारा निश्चित रूप से निर्मित की गई है।

(3) विमलबोध- इनकी व्याख्या अठारहों पर्वो के ऊपर उपलब्ध होती है। फलत: इनका महत्व प्रौढ़ टीकाकारों में समधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है। इन्होने अपनी टीका में धर्मनिबन्धकार के रूप में धारेश्वर (भोज) का, उनके प्रख्यात ग्रन्थ 'सरस्वती-काण्ठा-भरण' का तथा उनके अज्ञातपूर्व धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ 'व्यवहार-मन्जरी' का सप्रमाणउल्लेख किया है। भोजराज का समय 1010 ई0 से लेकर 1055 तक साधारणतया माना जाता है।1062ई0 के पीछे इनका समय कथमपि नहीं है। इस उल्लेख के कारण विमलबोध का समय धारेश्वर भोज तथा आनन्दपूर्ण के बीच में है। इनकी टीका का नाम- ' विषमश्लोकी' या 'दुर्घटार्थ-प्रकाशिनी या 'दुर्बोधपदभंजिनी' है और यह विराट तथा उद्योगपर्व के ऊपर प्रकाशित हुई है (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस)।

(4) नारायण सर्वज्ञ-यह टीकाकार कहीं सर्वज्ञ नारायण या केवल नारायण नाम से भी निर्दिष्ट किया गया है। मनुस्मृति के टीकाकारों में भी 'सर्वज्ञ नारायण' अन्यतम है, जिसका समय काणे के अनुसार 1130-1300 ई0 है। मनु की टीका का नाम 'मन्वर्थवृत्ति-निबन्ध' है, जो मनु की प्रख्यात टीका मानी जातीहै। ये दोनों सर्वज्ञ नारायण अभिन्न वयक्ति माने जाते हैं। इनकी टीका के विस्तार का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि वह कितने पर्वो के ऊपर विशेष पड़ा। विराट तथा उद्योग पर्व की टीका प्रकाशित है। इस टीका का प्रभाव टीकाकारों के ऊपर विशेष पड़ा। उद्योगपर्व की टीका के परिशिष्ट के रूप में अर्जुन मिश्र ने निम्न कूट श्लोक का व्याख्यान सर्वज्ञ नारायण के मतानुसार किया है।

विषं भुड्क्ष्व सहामात्यैर्विनाशं प्रान्नुहि धुवम्।
विना केन विना नाभ्यां स्फीतं कृष्णाजिनं वरम्।।

अत: अर्जुन मिश्र के ऊपर इनके प्रकृष्ट प्रभाव का संकेत इससे स्पष्ट है। इनकी टीका का नाम 'भारतार्थ-प्रकाश' है।

(5) चतुर्भुज मिश्र- ये भी महाभारत के एक मान्य टीकाकार हैं। इनके समय का परिचय अनेक साधनों से मिलता है। इन्होंने अपनी टीका में 'मेदिनी कोष' को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। मेदिनी का समय 1200 ई0- 1275 ई0 के बीच माना जाता है। उधर आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने (1350 ई0) अपनी 'विद्यासागरी' टीका में चतुर्भुज मिश्र का नाम निर्देश किया है। फलत: इनका समय दोनों के मध्य में कभी मानना होगा। 1300 ई0 के आसपास सर्वज्ञ नारायण के अनन्तर इन्हें स्थान देना समुचित होगा। टीका का नाम 'भारतोपाय-प्रकाश' है; जो केवल विराट पर्वपर प्रकाशित है।

चतुर्भुज मिश्र के द्वारा रचित'अमरूशतक' की एक व्याख्या (भाव-चिन्तामणि) का पता चलताहै, जिसमें ये अपने को 'काम्पिल्य' बतलाते हैं। फलत: ये कंपिला (उत्तर प्रदेश के फतेहगढ़ के पास) के निवासी थे। अर्जुनवर्मदेव (1211 ई0 -1215 ई0 के द्वारा रचित अमयशतक की व्याख्या से वे परिचय रखते हैं। फलत:

इनका समय 1250 ई के अनन्तर तथा 1660 ई0 के पूर्व (जब इनकी टीका का हस्तलेख मिलता है) होना चाहिए। मेरी दृष्टि में महाभारत के टीकाकार चतुर्भुज मिश्र ही 'अमयशतक' के भी टीकाकार हैं और इनका समय 13 वीं शती के अन्तिम भाग में मानना कथमपि अनुचित न होगा।

(6) आनन्दपूर्ण 'विद्यासागर'- ये 14वीं शती के मध्य में एक प्रख्यात सन्यासी थे। विद्यासागर इनका उपनाम था। इनके गुरू का नाम था परमहंस परिव्राजकाचार्य अभयानन्द। अद्वैत वेदान्त के इतिहास में आनन्दपूर्ण एक महिमाशाली प्रौढ़ ग्रन्थकार है जिनकी दार्शनिक कृतियॉं ये है- (1) पंचपादिका टीका,(2) न्यायकल्पलतिका (सुरेश्वराचार्य की बृहदारण्यवार्तिका की टीका), (3) भावशुद्धि(मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि की टीका), (4) खण्डन खण्डखाद्य की टीका (विद्यासागरी), (5) महाविद्या-विडम्बन टीका(1225 ई0 के आसपास लिखितवादीन्द्र के प्रौढ़ ग्रन्थ की व्याख्या), (6) समन्वय-सूत्र-विवृति(ब्रह्मसूत्र 1।1।4 की टीका), (7) न्यायचन्द्रिका (चार परिच्छदों मे न्याय, मीमांसा तथा वैशेषिक मतों का खण्डन) , (8) वेदान्त–विद्यासागर (वेदान्त का मौलिक ग्रन्थ), (9) प्रक्रियामंजरी। इनकी महाभारत पर टीका बहुत ही विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्णहै, जिसमें प्राचीन टीकाकारों के मतों का उल्लेख विस्तार के साथ है।पॉंच पर्वो की टीका उपलब्ध है- आदि पर्व (जयकौमुदी), सभा,भीष्म, शान्ति तथा अनुशासन पर्व (व्याख्या रत्नावली)। इनके समय का निर्धारण किया जा सकता है। ऊपर के छठे ग्रन्थ का हस्तलेख 1405 ई0 का तथा दूसरे ग्रन्थ का हस्तलेख 1434 ई0 का है। फलत: 1400 ईस्वी से इन्हें प्राचीन होना ही चाहिये। नौवें ग्रन्थ की रचना कामदेव[1] नामक राजा के समय की गई। ये कामदेव गोवा में राज्य करने वाले कदम्बवंशी नरेश थे, जिनका शिलालेख 1315 ई0 का उपलब्ध होताहै। फलत: आनन्दपूर्ण का समय 1350 ई0 में, अर्थात् 14वीं शती का मध्यभाग मानना उचित होगा। इन्होंने आदिपर्व की टीका(संस्कृत साहित्य परिषद् में उपलब्ध) में सात नये महाभारत के टीकाकारों का उल्लेख किया है, जिनमें से अनेक टीकाकार एकदम नये हैं। इन व्याख्याकारों के नाम है- अर्जुन, जगद्धर, जनार्दन, मुनि लक्ष्मण (टीका का नाम 'विषमोद्धारिणी' जो सभा तथा विराट पर्व पर उपलब्ध है), विद्यानिधि भट्ट तथा सृष्टिधर। विद्यासागर के द्वारा उद्धृत होने से उन सभी का समय 14 शती के मध्यकाल से निश्चित रूप से प्राचीन है।

(7) अर्जुन मिश्र- इनकी टीका का नाम 'भारतार्थदीपिका' और 'भारतसंग्रही-दीपिको' है। इसका केवल एक अंश (विराट तथा उद्योग की टीका) अब तक प्रकाशित हुआ है। टीका की पुष्पिका में ये अपने को 'भारताचार्य' की महनीय उपाधि से विभूषित करते है। इनके पिता का नाम था- ईशान, जो भारत के पाठक या पाठकराज थे और अपने पुत्र के समान ही 'भारताचार्य'की उपाधि धारण करते थे। ये बंगाल के निवासी तथा गंगा के तीरस्थ किसी नगर या ग्राम के वासी थे। अपने कुल को 'चम्पाहेटीय' या 'चम्पाहेठि' के नामक स्थान का निवासी था। कलकत्ते से 15 मील दक्षिणपश्चिम में 'चम्पाहाटी' नामक एक स्थान है। सम्भव है कि अर्जुन मिश्र का कुल यहीं का मूल निवासी था। इन्होंने अपने से प्राचीन टीकाकारों में देवबोध, विमलबोध, शाण्डिल्य तथा सर्वनारायण का उल्लेख किया है और ये स्वयं नीलकण्ठ (17 शती का उत्तरार्ध) के द्वारा उद्वृत हुए हैं। इनकी 'अर्थदीपिका' देवबोध की प्रख्यात टीका के आदर्श पर निर्मित है। इसका संकेत इन्होंने अपनी टीका(उद्योगपर्व की) में स्पष्टत: किया है। मोक्षधर्म पर इनकी टीकाके हस्तलेख का समय 1534 ईस्वी है। इन्होंने मेदिनी कोष (1200ई0 -1275) को उद्धृत तथा सर्वज्ञ नारायण (13वी शती) का निर्देश किया है। फलत: इनका समय 14वीं शती का उत्तरार्ध (1350ई0-1500 ई0) माना जा सकता है। इनकी टीका अल्पाक्षर होने पर भी सारगार्भितहै। सनत्सुजातीय पर्व की व्याख्या में अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्तों का बड़ा ही प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्णविवेचन है। ये हरिवंश को भी महाभारत का अविभाज्य अंग मानते है। इसीलिए इनकी टीका हरिवंश के ऊपर भी उपलब्ध है।

(8) नारायण- पर्व निर्दिष्ठ सर्वज्ञ नारायण आवन्त रकालिन भिन्न टीका कार है; क्योकि इन्होंने स्पष्त: नारायण सर्वज्ञ के मत की आलोचना कर अपनी व्याख्या की रचना की ।' इन्होने अर्जुनमिश्र का पूर्व टीकाकारों की गणना में उल्लेख किया है। फलत: इनका समय 14वीं शती के अनन्तर कभी होना चाहिए। इनकी टीका का नाम 'निगुद्धार्थ पदबोधिनी ' है।

(9) **वादिराज-** यह टीकाकार दक्षिण भारत के निवासी थे, परन्तु इनके पाठ दक्षिणि कोष से पूर्णत: नही मिलते है न उत्तरीयकोष से मिलते है। इनके पाठ दोनो के बीच नहीं है। विराट पर्व की टीका के अन्त में अपने मध्वगुरू को इन्होंने प्रणाम अर्पित किया है। वादिराज का समय तथा कार्य माध्व सम्प्रदाय के इतिहास में नितान्त महत्वपूर्ण है। अपने 'तीर्थप्रबन्ध काव्य ' (हस्तलेख भण्डार कर संस्थान में) में इन्होंने पण्डरपूर के विढोवा (विट्ठल) की मूर्ति के तुंगभद्रा तीरस्थ विजयनगर के स्थानन्तरण का उल्लेख किया है। कृष्ण देव राम के समय में (1509-1530 ई0) इस स्थानतरण की घटना की संभावना है। इन्हें अग्रहार देने का उल्लेख 1493 शक वर्ष के (1571ईव) एक शिलालेख में मिलता है। इनके प्रधान शिष्य कर्नाटक के प्रख्यात संत कनकदास का समय 1550 ई0 – 1570 ई0 के आसपास है। फलत: वादिराज का समय 16वीं शती का मध्यभाग लगभग 1525 ई0 -1575 ई0 मानना उक्त शिलालेख के स्पष्ट आधार पर सुनिश्चित है। अपने नाम का अर्थ इन्होंने स्वयं लिखा है' – वादी (माध्वाचार्य) राजा है जिसके वह व्यक्त, अर्थात् माध्वाचार्य का दास। वादिराज द्वैतमतानुयायी आचार्यों में अन्यतम प्रौढ नैयायिक थे। इनकी महाभारत – टीका का नाम 'लक्षाभरण' या लक्षालंकार भी है। विराट तथा उद्योग पर्व पर यह प्रकाशित है(गुजराती प्रैस)।

(10) नीलकण्ठ – इनका पूरा नाम नीलकण्ठचतुर्धर (चौधरी) है और इनके वंशज आज भी महाराष्ट्र में विद्यमान है। इनकी टीका नितान्त प्रख्यात , 'भारतभाव भावदीप' बहुश: प्रकाशित हुई है।[2] यह महाभारत के 18 पर्वो पर उपलब्ध है। नीलकण्ठ के पूर्वज महाराष्ट्र कूर्पर ग्राम (आजकल कोपर गॉव, बम्बई प्रान्त का अहमदनगर जिला) के मूल निवासी थे, परन्तु इस टीका की रचना काशी में की गयी, जहॉ वे आकर बस गये थे। **नीलकण्ठ ने मन्त्र** - रामायण तथा मन्त्र – भागवत नामक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है, जिसमें रामयण और भागवत की कथा से संबद्ध मन्त्र ऋगवेद से क्रमबद्ध संग्रहीत है तथा नीलकण्ठ ने इनके ऊपर अपने सिद्धान्तानुसार टीका भी लिखी है। नीलकण्ठ चतुर्धर के पिता का नाम 'गोबिन्द ' था तथा पुत्र का भी नाम 'गोबिन्द' था, जिनके पुत्र (अर्थात् नीलकण्ठ के पौत्र) शिव ने पैठण मे रहते हुए 'धर्मतत्व -प्रकाश' ग्रन्थ का निर्माण 1746 ई0 में किया। नीलकण्ठ की 'शिवतान्डव-टीका' का रचनाकाल 1680 ई0 तथा गणेश गीता की टीका का रचना काल 1693 ई0 है। 'भारत-भाव द्वीप ' के नानाहस्तलेखों का समय 1687 ई0 से लेकर 1695 ई0 है, अत: इनका समय 1650 ई0 1700 ई0 मानना उचित प्रतीत होता है

महाभारत में राष्ट्रभावना—

व्यासजी की राष्ट्रभावना बड़ी ही उदात्त, विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। राजा राष्ट्र का केन्द्र होताहै। तथा स्वेच्छाचारी राजाओं के दोषों से भी विहीन होता है। वह होता है प्रजा का सर्वभावेन हितचिन्तक तथा मंगलसाधक। भारतीय धर्म ही राजमूलक होता है, अर्थात् धर्म की व्यवस्था तथा संचालन का उत्तरदायित्व राजा के ही ऊपर एकमात्र रहता है। यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करे,तो प्रजा ही एक दूसरे को न खा डालेगी, प्रत्युत वेदत्रयी का भी अस्तित्व लुप्त हो जायेगाऔर विश्व को धारण करने वाला धर्म ही रसातल में डूब जायेगा। राजधर्म के बिगड़ने पर राज्य तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाताहै। राजनीतिक नेता के लिए महाभारत एक विलक्षण आदर्श उपस्थित करता है, जो आज भी उतने ही सुन्दर रूप से अनुकरणीय तथा ग्राह्य है। भारत कृषि-प्रधान राष्ट्र है। अत: व्यास जी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि नहीं करता,खेत नहीं जोतता-बोता, उसे नेता बनकर राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता।

न नः समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिस् । (उद्योग0 36/31)

ठीक ही है, किसानों का नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ, कुर्सीतोड़, बकवादी नेता किसानों का कौन –सा मंगल कर सकता है ?

महाभारत में अध्यात्म तत्व—

व्यासजी अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्म बारीकियों में न पड़कर हमें सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा देने पर आग्रह करते हैं। मानव का आध्यात्मिक कल्याण इन्द्रिय- निग्रह से ही होता है। मनुष्य इन्द्रियों का दास बनकर पशुभाव को प्राप्त होता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है। एक स्थान पर व्यास की यह सारगर्भित उक्ति है कि वेद का उपनिषद् अर्थात् रहस्य है- सत्य। सत्य का भी उपनिषत् है-- दम और इसी दम-- इन्द्रिय-दमन का-रहस्य है मोक्षा।समग्र अध्यात्म-शास्त्र का यही निचौड़ है (शान्ति0 299/13)-

वेदोस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषद् मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ।।

'करनी बड़ी है कथन से' - व्यासजी की यही मान्य शिक्षा है मानवों के लिए महाभारत में किसी बोध्य ऋषि के द्वारा कही गई यह प्राचीन गाथा इसी तथ्य पर जोर देती है (शान्ति0 178/6) –**उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कन्चन ।** भारतीय संस्कृति आर्जव-ऋजुभाव- स्पष्ट कथन तथा सीधे आचरण को ही मानव-जीवन में नितान्त महत्व देती है। वह जिह्म मार्ग- टेढ़ा रास्ता- 'मनस्यन्यत वचस्यन्यत्' को मृत्यु का रूप बतलाती है तथा प्राणियों को उसके मानने से सदा दूर भागने का उपदेश देती है(शान्ति0 11/4)- **सर्व जिह्मं मृत्युपपदमार्जवं ब्रह्मण: पदम् । एतावान् ज्ञानविषय: किं प्रलाप: करिष्यति ।** काल के चक्र से कोई बच नहीं सकता । पाण्डवों की विषय तथा समृद्ध दशाओं के आलोचक की दृष्टि में काल की महिमा अपरिमेय है। काल ही कभी बलवान बनता है और कभी दुर्बल । वही जगत् को अपनी इच्छा से ग्रसता है । इसी चक्र के भीतर यह समग्र विश्व अपनी सत्ता धारण किये हुए है। वह देवनिर्मित मार्ग है जिसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पलट नहीं सकता। मानव जीवन का श्रेयस्कर मार्ग है धर्म का आश्रय लेकर आत्मविजय करना । व्यास जी ने आत्म-साक्षात्कार के लिए बडी सुन्दर उपमा दी है। जिस प्रकार मूंज से सींक को अलग किया जाता है,उसी प्रकार पंचकोशों में अन्तर्निहित चैतन्यरूप आत्मा को भी साधक पृथक् कर साक्षात्कार करता है। आनन्दवर्धन की तो यह स्पष्ट सम्मति है कि महाभारत का मुख्य रस शान्त रस है । नाना विकट प्रपंचों में न लिप्त होकर मानव आत्मवस्वरूप का परिचय पाकर मोक्ष का सम्पादन करे। महाभारत की यही अमूल्य शिक्षा है ।

रामायण-महाभारत की तुलनात्मक स्वरूप—

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेकआवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरी उनके रचना-काल को लेकर । रामायण आदिकाव्य माना जाता है और महाभारत इतिहास गिना जाता है । इस पारस्परिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण के काव्यगत चमत्कार महत्व की वस्तु है । महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं के इतिवृत्त का वर्णन करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में राम-रावण की घटना ही सर्वभावेन मुख्य है। अन्य छोटे-मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ-साथ प्राचीन काल की अनेक कथाएँ अवान्तर रूप से दी हुई , जो मुख्य घटना से कम महत्व नहीं रखती । दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न-भिन्न है । रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र

है; परन्तु महाभारत के समय आर्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गंगासागर का संगम है, दक्षिण में चोल तथा मालाबार प्रान्तों की सत्ता है। इतना ही नहीं, लंका के भी अधिपति उपहार लेकर लेकर स्वयं उस यज्ञ में उपस्थित होते हैं। फलत: भारतवर्ष का भौगोलिक विस्तार उस युग में रामायण की अपेक्षा अत्यधिक है।

दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में समरसता, शब्द और अर्थ का मंजुल सामन्जस्य है, जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है; परन्तु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे-धीरे अपने अल्पकलेवर से बढता हुआ वह लक्षश्लोकात्मक विशालकाय ग्रन्थ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नही है, प्रत्युत लव तथा कुश के द्वाराउसके गाये जाने के तथ्य से हम परिचित है 1, परन्तु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रन्थरत्न है,जिसके लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यास जी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डाक्टर वेबर ने सर्वप्रथम यह कहना प्रारम्भ किया कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई। रामायण में सुन्दर पदविन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता मानते थे। भारत के भी कतिपयविद्वानों ने इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय परम्परा उक्त मत के अत्यन्त विरूद्ध है। वाल्मीकि आदिकवि और महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेतायुग में होने वाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापरयुग में उत्पन्न होनेवाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि कालक्रम में वाल्मीकि-रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके पोषक प्रमाण मुख्यत: नीचे दिये जाते है:--

(1) महाभारत के पात्रों के चरित्र में तथा घटनाओं में व्यवहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिए युद्ध करना आदि घटनायें व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं है; पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपनाविश्वास नहीं जमा पाता। सन्तान के लिए पुत्रेष्टि याग करना रीछ और बानरों की सहायता से लड़ना, समुन्द्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बॉधना, रावण का दश सिर होना आदि घटनाएँ मानव-संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

(2) रामायण में आर्य-सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का, जो सम्भवत: भिन्न वर्ग तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नही दीख पड़ता, परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था, वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेछ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान लोग म्लेच्छो की भाषा से भी परिचत थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ-भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसलिए किया गया कि अन्य सभासद् इसकों समझ न सकें।

(3) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यो की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी, परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित सुशासित तथा

सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है कि महाभारत की रचना रामायण से पीछे हुई।

(4) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पडती है। द्रौपदी के स्वयंबर में सीता-स्वयंवर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मापदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध में सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख-रेख में लड़ते हैं। व्युह की रचना इस युद्धकी महती विशेषता है, जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में समर्थ होता हैं। युद्धकला का यह महाभारत –कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है।

(5) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अन्तर है रामायण का समाज आदर्शवाद कर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र है, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। ऊपर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है। भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, तो वे उनका घोर विरोध(अश्वत्थामा द्वारा) करने पर तुले हैं। विजयकी सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकारका पाप नहीं माना जाता था (अश्वत्थामा हतौ नरो वा कुंजरो वा)।

(6) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परन्तु महाभारत में यह भावना ह्रास पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान सीता को अपनी पीठ पर बैठा कर राम के पास चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर-पुरूष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती हैं। अत: वह इसे तिरस्कार कर देती हैं। रावणवध के अनन्तर सीता कठिन अग्नि-परीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती हैं, परन्तु उसका पुनर्ग्रहण विना किसी रोक-टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(7) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नही है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परिचित है। वनपर्व के तीर्थ-यात्रा प्रसंग में श्रृ ङ्गवेरपुर' (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ, वन पर्व85/65) तथा गोप्रतार' (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट , वनपर्व 85/70) तीर्थ में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वनपर्व के अठारह अध्यायों में (अ0 274-291) रामोपाख्यान पर्व है, जिसमें रामचन्द्र की कथा संक्षेप से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक भी ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमाएँ तथा कल्पनाएँ भी वाल्मीकि से ली गई है।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वो में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ –माया सीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमानजी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरश: प्राप्त होते हैं।

न हन्तव्या: स्त्रिय:इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममत्रिणां यत्तु कर्तव्यमेव तत्।। (युद्ध0 81-28)

महाभारत के द्रोण पर्व में इसका उल्लेख वाल्मीकि के नाम से है-

अति चायं पुरा गीत: श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्या: स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।।

सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्।।

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी निश्पक्ष आलोचक को भारतीय परम्परा की सत्यता पर अविश्वास नहीं हो सकता कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

बोध प्रश्न-1

अभ्यास प्रश्न

निम्नलिखित में सही विकल्प चुनकर उत्तर दीजिये –

1.द्वैपायन किसे कहा जाता है।
क. वाल्मीकि ख. **व्यास** ग. कृष्ण घ. बलराम

2. शतसाहस्री संहिता किसे कहते है।
क. रामायण ख. **महाभारत** ग. सनतकुमार संहिता घ. पुराण

3. महाभारत का प्राचीन नाम है।
क. **जय** ख. महाभारत ग. संहिता घ. कोई नही

4. भारत के साथ महाभारत का नाम किस ग्रन्थ में मिलता है।
क. गौतम धर्मसूत्र ख. पारस्कर गृह्यसूत्र ग. **आश्वलायन गृह्यसूत्र** घ. कोई नहीं

5. महाभारत में कितने श्लोक है।
क. **1 लाख** ख. 2 लाख ग. 3 लाख घ. 4 लाख

6. महाभारत के उपाख्यानों का सम्बन्ध सर्वाधिक किस वंश से है।
क. **भृगु** ख. अंगिरा ग. वशिष्ठ घ. अत्रि

7. यूनानी राजदूत मेगास्थनीज किसके कार्यकाल में आया था।
क. समुद्रगुप्त ख. विष्णुगुपत ग. **चन्द्रगुप्त** मौर्य घ. रामगुप्त

8. महाभारत के खण्डों को क्या कहा जाता है।
क. अध्याय ख. **पर्व** ग. रत्न घ. मरीचि

2.5 सारांश

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आपको ज्ञात हुआ कि रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्य रूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास –वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षो से करता आ रहा है। इसलिए इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं, जिसका पठन-पाठन श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ

ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। रामायण और महाभारत दोनों में बहुत कुछ अन्तर है। फिर भी रामायण में वर्णित तथ्यों के समानान्तर उनके चर्चायें महाभारत में कई पर्वों में पायी जाती है। महाभारत के अनेक पर्वों में रामायणकालीन घटनाओं की वस्तु स्थिति का परिचय प्राप्त है। यह ग्रन्थ जय भारत और महाभारत के नाम से क्रमश: पूर्णता को प्राप्त हुआ। इसमें कुल श्लोकों की संख्या 100000 मानी गयी है। इसकी पुष्पिका में व्यास ने धर्मार्थ काम मोक्ष आदि का वर्णन किया है।

2.6 शब्दावली

1. स्वर्गारोहण – स्वर्ग पर पहुँचना।
2. शरशय्या - बाणों से बनाये हुये शयन स्थान को कहा जाता है।
3. मत्स्य - मछली
4. अनन्तर - बाद में
5. शतसाहस्री – शत का अर्थ होता है सौ तथा सहस्र का अर्थ है एक हजार। अंकानां वामतो गति के अनुसार सौ हजार होकर एक लाख अर्थ कहलाता है।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोधप्रश्नोत्तर—

1. ख. **व्यास** 2. ख. महाभारत 3. क. **जय** 4. ग. **आश्वलायन गृह्यसूत्र** 5. क. **1 लाख** 6. क. भृगु 7. ग. **चन्द्रगुप्त** मौर्य 8. ख. पर्व

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय
2. पुराण विमर्श – आचार्य बलदेव उपाध्याय- चौखम्भा सुरभारती
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ वाचस्पति गैरोला – चौखम्भा प्रकाशन

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. महाभारत के पर्वों का नामोल्लेख कर उनके विषय में संक्षिप्त लेखन करें।
2. व्यास का परिचय देते हुये व्यासोपाधि पर विस्तृत चर्चा कीजिये।
3. महाभारत के अंगीरस पर एक निबन्ध लिखिये।

इकाई.3 प्रमुख कवि परिचय भाग-1
कालिदास, माघ, भारवि, श्रीहर्ष, जयदेव, भवभूति आदि

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 प्रमुख कवि परिचय भाग-1

- 3.3.1 महाकवि कालिदास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- 3.3.2 महाकवि माघ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- 3.3.3 महाकवि भारवि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- 3.3.4 महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- 3.3.5 महाकवि जयदेव का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- 3.3.6 महाकवि भवभूति का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2. 8 उपयोगी पुस्तकें

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत परम्परा एवं संस्कृति से सम्बन्धित यह प्रथम खण्ड की तीसरी इकाई है। इसके पूर्व की इकाईयों में आपने रामायण एवं महाभारत जैसे विशालकाय साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन किया है । प्रस्तुत इकाई में कवि कालिदास, माघ, भारवि, श्रीहर्ष, जयदेव भवभूति एवं उनके कृतियों का वर्णन किया गया है । महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के कविकुलगुरू के रूप में प्रतिष्ठित हैं । ये नाटक महाकाव्य तथा ज्योतिष परम्परा में भी निष्णात माने गयें है । इन्होंने कुल सात ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें तीन महाकाव्य, तीन नाटक और एक ऋतुसंहार नाम का ग्रन्थ रचा था । इसके अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित ज्योतिविदाभरणम् नाम का इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है । परवर्ती कवियों की गणना श्रृंखला में उपमा तथा गौरव एवं पदलालित्य जैसे तीनों गुणों को एक साथ धारण करने वाले कवि माघ के व्यक्तित्व एवं उनके कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। महाकवि माघ संस्कृत साहित्य के प्रतिष्ठित कवि हैं । जिस प्रकार कालिदास उपमा के लिये प्रसिद्ध है, भारवि अपने अर्थगौरव वर्णन के लिये प्रसिद्ध है, दण्डी अपने रचनाओं में लालित्य प्रयोग के लिये प्रसिद्ध है । उसी प्रकार माघ उपर्युक्त तीनों गुणों के लिये समन्वित रूप से प्रसिद्ध है। इनके विषय में कहा जाता है कि – **'नवसर्ग गतेमाघे नव शब्दो न विद्यते' ।** शिशुपालवध महाकाव्य इनकी रचना है जो वृहत्त्रयी में परिगणित है । संस्कृत साहित्य के इतिहास में भारवि का भी महत्व पूर्ण स्थान है । इनका एक मात्र ग्रन्थ किरातार्जुनीयम् प्रसिद्ध है । भारवि एक परम शैव सम्प्रदाय के थे । यह प्रमाण किरातार्जुनीयम् के शैव महात्म्य प्रतिपादक कथानक अवन्ति सुन्दरी कथा से स्पष्ट प्रतीत होता है। भारवि की अमर कीर्ति का आधार उनके प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीयम् पर आधारित है । इस महाकाव्य का मूल स्त्रोत महाभारत के वन पर्व से लिया गया है। इन्द्र तथा शिव को प्रसन्न करने के लिए अर्जुन की तपस्या को आधार बनाकर भारवि के 18 सर्गों में इस महाकाव्य का सृजन किया ।

संस्कृत साहित्य में श्री हर्ष के जीवन चरित्र का वर्णन बाणभट्ट के ग्रन्थ हर्षचरित में प्राप्त होता है । इनके पिता प्रभाकरवर्धन तथा माता यशोमती है। ये अपने पिता के दूसरे पुत्र इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम राज्य वर्धन था। ' राज्य श्री ' नाम की इनकी बहिन योग्य विदुषी थी । बाल्यकाल में इन्हें समुचित शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी । महाराजा हर्ष एक महान कवि थे । उन्होने स्वयं भी अनेक रमणीय और सरद ग्रन्थों की रचना कर सरस्वती के विपुल भण्डार को भरा है । इनका व्यक्तित्व ही महान था। श्री हर्ष एक महान दानी थे । श्री हर्ष ने बड़ी भारी सम्पति कवियों को दे डाली । श्री हर्ष महा उदार और सरल हृदय वाले थे । उन्होंने तीन ग्रन्थों का निर्माण किया है ।

महाकवि जयदेव राजा लक्ष्मणसेन की सभा में रहते थे । जिनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' है, महाकवि जयदेव भक्तिरस में ही लिप्त रहते थे। इनके ग्रन्थ गीतगोविन्द में 12 सर्ग थे । प्रत्येक सर्ग में गीतों का ही वर्णन है । गीतों को परस्पर मिलाने से कहीं कहीं पद्य का भी वर्णन दृष्टिगत् होता है ।

भवभूति एक उत्कृष्टज कोटि के विद्वान थे, उन्हें उनकी विद्वता पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। उनकी अपनी विद्वता पर गर्व भी था जो भाषा पर इनके पूर्ण अधिकार को देखते हुए स्वाभाविक एवं सात्विक प्रतीत होता है। महाकवि भवभूति एक महान् कवि थे उनका हृदय अत्यन्त निर्मल था वह सात्विक प्रेम के पक्षपाती थे । उनमें बाहरी कारणों की कोई अपेक्षा नही थी, उनका हृदय अत्यन्त गंभीर था वह आन्तरिक कारणों में विश्वा स करते थे । महाकवि भवभूति मानव मन को पहचानने में अत्यन्त पारखी थे । इसीलिए उन्होंने भगवान राम की लीलाओं का वर्णन किया है ।

अत: इस इकाई के अध्ययन से आप कवि कालिदास, माघ, भारवि, श्रीहर्ष, जयदेव, भवभूति उनके कृतियों के प्रतिपाद्य के आधार पर उनकी भाषा शैली, काव्य कला तथा संस्कृत साहित्य में उनका स्थान एवं अन्य साहित्यिक समस्त शैलियों, वर्णन प्रकारों का समुचित प्रयोजन बता सकेंगे ।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- कालिदास का परिचय और समय के विषय में परिचित हो सकेंगे।
- कालिदास के महाकाव्यों की क्या विशेषतायें है, इसे जान सकेंगे।
- उपमा के लिये कालिदास क्यों प्रसिद्ध है,इसे बता सकेंगे।
- माघ का संस्कृत साहित्य में क्या स्थान है, यह जान सकेंगे ।
- शिशुपालवध का नायक – नायिका तथा अंगीरस कौन है, बतला सकेंगे।
- भारवि के व्यक्तित्व के विषय में आप अध्ययन करेगें।
- भारवि के कृतियों के विषय में आप अध्ययन करेगें।
- महाकाव्य का नायक के विषय में परिचित होगें।
- श्री हर्ष के व्ययक्तित्व बाता सकेंगे।
- जयदेव कौन थे यह बता पायेगें।
- गीतगोविन्द में किसका वर्णन है , उल्लेख करेंगे।
- भवभूति के व्यक्तित्व एवं कृतियों का ज्ञान करेंगे।
- महाकवि भवभूति के समय का उल्लेख करेंगे।
- महाकवि भवभूति की कृतियों के विषय विस्तार से बताएंगे।

3.3 प्रमुख कवि परिचय भाग-1

3.3.1 महाकवि कालिदास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महाकवि कालिदास का परिचय—

कालिदास भारतीय तथा पश्चात्य दृष्टियों में संस्कृत के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। नाट्यकला की सुन्दरता निरखिये, काव्य की वर्णनछटा देखिये, गीतिकाव्य के सरस हृदयोद्गारों को पढिये, कालिदास की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। उनके काव्यों की जितनी ख्याति निश्चित है, उनकी जीवनी तथा काल-निरूपण उतना ही अनिश्चित है। कालिदास की जन्मभूमि के विषय में बंगाल तथा कश्मीर के नाम लिये जाते है परन्तु यह अभी तक अनिर्णीत ही है। कवि ने उज्जयिनी के लिए विशेष पक्षपात दिखलाया है, जिससे यही इनकी जन्मभूमि प्रतीत होती है। मेघदूत (1/29) में यक्ष रास्ता टेढा होने पर भी 'श्रीविशाला' विशाला (उज्जयिनी) को देखने के लिये मेघ से आग्रह करता है। उज्जयिनी के विशाल महलों और रमणियों के कुटिल-कटाक्षों को देखने से यदि वह वन्चित रह गया तो उसका जीवन ही निष्फल है। कालिदास ने अवन्ती प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का सूक्ष्म वर्णन मेघदूत में किया है- वहॉ की छोटी-छोटी नदियों का भी नाम – निर्देश किया है तथा वर्णन दिया है। उज्जयिनी के प्रति उनके विशेष पक्षपात तथा सूक्ष्म भौगोलिक परिचय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कालिदास वहीं के रहने वाले थे।

कालिदास नि:सन्देह शैव थे। मेरी दृष्टि में वे उज्जयिनी के विख्यात ज्योतिर्लिङ्ग 'महाकाल' के उपासक थे। मेघदूत में महाकाल की उपासनाके प्रति उनका आग्रह इसका आधार माना जा सकता है। महाकालकी शोभा का वर्णन कर यक्ष मेघ से कहता है कि उज्जयिनी में तुम किसी समय चहुँचों, परन्तु सूर्य के अस्त होने तक तुम्हें वहॉ ठहराना होगा। प्रदोष-पूजा के अवसर पर तुम अपना स्निग्ध गम्भीर

घोष करना जो महाकाल की पूजा में नगाड़े का काम करेगाऔर तुम्हें अशेष पुण्यों का भाजन बना देगा (मेघ0 श्लोक 35)। इतनाही नहीं, कालिदास मन्दिर में पूजार्थ नियत की गई देवदासियों से परिचय रखते हें। यह प्रथा दक्षिण के मन्दिरों में आज भी प्रचलित है, यद्यपि उत्तर भारत के मन्दिरों में यह विशेष रूप से नही दीख पड़ती। उज्जयिनी उदयन तथा वासवदत्ता के उदात्त प्रेम की क्रीडास्थली थी। फलत: कालिदास ने इस कथा से सम्बद्ध छोटी-छोटी धटनाओं तथा उनके नियत स्थानों का भी उल्लेख कर नगरी के प्रति पूर्ण पक्षपातप्रदर्शित क्रिया है, जो उसे कवि की जन्मभूमि होने का गौरव प्रदान करने में सचेष्ट है।

महाकवि कालिदास का समय—

भारतीय जन-श्रुति के आधारपर कालिदासराजा विक्रमादित्य के नव-रत्नों के मुखिया थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी विक्रम के साथ रहने की बात सूचित होती है। विश्वविख्यात शकुन्तला का अभिनय किसी राजा की –सम्भवत: विक्रम कि – 'अभिरूपभुयिष्ठा' परिषद् में ही हुआ था। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा के नामक होने पर भी विक्रम का नामोल्लेख नाटक के नाम में है तथा 'अनुत्सेक: खलु विक्रमालङ्कार' आदि वाक्य इस सिद्धान्त की पुष्टिकर रहे है कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। 'रामचरित' महाकाव्य के 'ख्यातिकामपि कालिदासकवयो नीता: शकारतिना' आदि पद्यो से भी इसी सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। अत: एव जब तक इसके विरूद्ध कोई प्रमाण न मिले , तब तक यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कालिदास राजा विक्रम की सभा के रत्न थे। कालिदास ने शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक बनाया है। अत: वे उसके (विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक के) अनन्तर होगे। इधर सप्तम् शताब्दी में हर्षवर्धन के सभा –कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त प्रशंसाकी है। अत: कवि का समय विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम की सप्तम् शतक के बीच में कहीं होना चाहिए। कालिदास के समय विषय में प्रधानतया तीन मत है—

पहला मत- कालिदास को षष्ठ शतक का बतलाता है।

दूसरा मत- गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानता है।

तीसरा मत- विक्रम सं0 के आरम्भ में इनका समय बतलाता है।

षष्ठशतक में कालिदास - भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधिवाले चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है, जिनके समसामयिक होने से कालिदास का भी समय भिन्न-भिन्न सदियों में माना गया है। डॉक्टर हार्नली का मत है कि यशोधर्मन् ने, जिसने कहरूर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से परास्त किया था, 'विक्रमादित्य' की उपाधि भी ग्रहण की थी। अपनी इस महत्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में उसने नवीन संवत् चलाया, जो विक्रम के नाम से व्यवहृत हुआ, परन्तु इसे 600 वर्ष पूर्व , अर्थात् 58 ईस्वी की विजय-घटना की यादगार में उसने अपने नवीन संवत् के 600 वर्ष अर्थात् 58 ईस्वी पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारितकी विक्रम संवत् की यह नवीन कल्पना डॉक्टर फर्गुसन ने की थी । हार्नली ने इसका उपयोग कालिदास के समय-निरूपण के लिए किया। उसने दिखलाया है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्यसीमा से बिल्कुल मिलता-जुलता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अनेक कौतुकपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास भारवि के अनन्तर छठी सदी में विद्यमान थे।

इस मत का खण्डन – परन्तु कालिदास को इतना पीछे मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। हूणों को पराजित करने पर भी यशोधर्मन् 'शकाराति' - शकों का शत्रु नही कहा जा सकता। न उसके शिलालेखों से नवीन संवत् के स्थापना की घटना सच्ची प्रतीत होती है। विक्रम संवत् की स्थापना छठी सदी में

यशोधर्मन् के द्वारा मानना ज्ञात इतिहास पर घोर अत्याचार करना है; क्योंकि 'मालव संवत्' के नाम से यह संवत् अति प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध था। 473 ई0 के कुमारगुप्त की प्रशस्ति के कर्ता वत्सभट्टि कि रचना में ऋतुसंहार के कितने ही पद्यों की झलक दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को पॉचवीं सदी के अनन्तर मानना अनुचित है। अत: इस मत को प्रामाणिक मानकर कितने ही भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास की स्थिति बतलाई है।

गुप्तकाल में कालिदास- गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति माननेवाले विद्वानों में भी कुछ –कुछ भेद दीख पड़ता है। पूना के प्रोफेसर के0बी0 पाठक की सम्मति में कालिदास स्कन्दगुप्त 'विक्रमादित्य' के समकालीन थे, परन्तु डॉक्टर रामकृष्ण भण्डारक, साहित्याचार्य पं0 रामावतार शर्मा तथा अधिकांश पश्चिमीविद्वान् गुप्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय को कालिदासका आश्रयदाता मानते हैं। (क) पाठक ने काश्मीरी टीकाकार वल्लभदेव के निम्नलिखित श्लोक के पाठ को प्रामाणिक मानकर पूर्वोक्त सिद्धान्त निश्चित किया[2] (रघु0 4/67)

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेश्टनै: ।

दुधुवुर्वाजिन: स्कन्धॉल्लग्नकुङ्कमकेसनान्।।

इस पद्य के 'सिन्धु' शब्द के स्थान पर वल्लभदेव ने 'वंक्ष् पाठ माना है। 'वंक्षू' शब्द पाठक की सम्मति में OXUS (आक्सस) शब्द का संस्कृतीकरण है। अत: इस पाठ को प्रामाणिक मानने से यह कहना पड़ता है कि रघु ने हूंणो को आक्सस नदी (जो पामीर से निकलकर अरब सागर में गिरती है) के किनारे उनके भारत आगमन के पहले ही हराया था। यह घटना 455 ई0 के पूर्व की हो सकती है; क्योंकि उस वर्ष स्कन्दगुप्त के प्रबल प्रताप के सामने हार मान भग्न-मनोरथ होकर हूंणों को लौटना पड़ा था। अत: रघुवंश को कालिदास की प्रथम रचना मानकर पाठक ने उन्हें स्कन्दगुप्त का समकालीन माना है। विजयचन्द्र मजुमदार ने कुछ अन्य प्रमाण देकर इन्हें कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त दोनों के समय में मानाहै।

(ख) पश्चिमी विद्वान् शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य उपाधि धारण करने वाले, चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में (जब भारत में चारों ओर शान्ति विराजमान थी और जो भारतीय कलाकौशल के पुनरून्नति का काल माना जाता है) कालिदास को मानते हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु का दिग्विजय समुद्रगुप्त की विजय से सर्वथा मिलता-जुलता है। रघुवंश में वर्णित शान्ति[3] का समुचित काल चन्द्रगुप्त का ही समय था। इसके सिवाय इन्दुमती –स्वयंवर में उपस्थित मगध राजा के लिए जो उपमा या विशेषण प्रयुक्त किये गये है उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है, परन्तु गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति बताना ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम विक्रमादित्य नहीं थे। जब इनसे भी प्राचीन मालवा में राज्य करने वाले विक्रम का पता इतिहास से चलता है, तब कालिदास गुप्तकाल में कैसे माने जा सकते है ?

निष्कर्ष – अपने आश्रयदाता 'विक्रम' की सूचना कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दी है। विक्रमोर्वशीय त्रोटक के अभिधान में नायक के स्थान पर 'विक्रम' शब्द का प्रयोग विक्रम के साथ कालिदास का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करता है। अभिज्ञानप्रस्तावना में रसभाव-विशेष –दीक्षा-गुरू विक्रमादित्य साहसाङ्क नाम्ना निर्दिष्ट किये गये है तथा भरत-वाक्य में 'गणशतपरिवर्तेरेवमन्योन्यकृत्यै:' में राजनीतिक अर्थ में व्यवहृत 'गण' शब्द –गणराष्ट्र' का सूचक स्वीकृत किया गया है। प्राय: अभी तक विक्रमादित्य एकतान्त्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं, परन्तु ऊपर निर्दिष्ट हस्तलेख के प्रामाण्य पर वे गणराष्ट्र (मालव गणराष्ट्र) के गणमुख्य प्रतीत होते हैं। विक्रमादित्य उनका व्यक्तिगत अभिधान था (कथासरित्सागर का पोषक साक्ष्य है) तथा 'साहसाङ्क' उनकी उपाधि थी। उन्होने शकों को उनके प्रथम

बढ़ाव में पराजित कर इस क्रान्तिकारी घटनाके उपलक्ष्य में 'मालवगण-स्थिति' नामक संवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चलकर 'विक्रमसंवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गणराष्ट्र में व्यक्तिविशेष का प्राधान्य नहीं रहता। इसीलिए यह गण के नाम से प्रसिद्ध था। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा समस्त गणराष्ट्र उच्छिन्न कर दिये गये; फलत: अष्टम -नवम शती में सारे देश में निरंकुश एकतन्त्र की स्थापना हो जाने पर गणराष्ट्र की कल्पना ही विलीन हो गई। तभी गणमुख्य का नाम इससे सम्बद्ध कर दिया गया है और यह संवत् 'विक्रम' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। विक्रमादित्य के गुप्त सम्राट् होने के विरूद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियॉ हैं-

(1) गुप्त सम्राटों का अपना वंशगत संवत् है, उनके किसी उत्कीर्ण लेख में मालव अथवा विक्रम संवत् का उल्लेख नहीं है। जब उन्होने ही विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं किया, तब जनता उनके गौरव के अस्त होने पर उनके नाम से इसे 'विक्रम संवत् ' क्यों कहने लगेगी?

(2) गुप्त सम्राट पाटलिपुत्रनाथ थे, किन्तु विक्रमादित्य उज्जयिनीनाथ थे, अनुश्रुतियों के आधार पर ही नहीं प्रत्युत रघुवंश (6/26) के आधार पर भी। यहॉ इन्दुमती-स्वयंवर में अवन्तिनाथ को 'विक्रमादित्य' होने का गूढ संकेत विद्यमान है।

(3) उज्जयिनी के विक्रम का व्यक्तिगत अभिधान ही 'विक्रमादित्य' था , उपाधि नहीं। कथासरित्सागर में लिखा है कि उनके पिता ने जन्म -दिन को ही शिवजी के आदेशानुसार उनका नाम 'विक्रमादित्य' रखा, अभिषेक के समय की यह उपाधि नहीं है। इसके विरूद्ध किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त के विरूद्ध क्रमश: 'विक्रमादित्य' तथा 'क्रमादित्य' (कहीं-कहीं विक्रमादित्य भी) थे। समुद्रगुप्त की यह उपाधि नहीं थी। कुमारगुप्त की उपाधि थी ' महेन्द्रादित्य', कोई नाम नहीं था। उपाधि होने से पहिले यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई पराक्रमी लोकप्रसिद्ध व्यक्ति रहा हो जिसके नाम का अनुकरण पिछले युग के लोग करते है। गुप्त राजाओं की 'विक्रमादित्य' उपाधि अपनी पूर्व किसी लोकख्यात व्यक्ति की सत्ता की परिचायिका है। अत: विक्रमादित्य की स्थिति प्रथम शती में गुप्तों से पूर्व मानना नितान्त समुचित है। इसी विक्रम की सभा के रत्न कालिदास थे।

(ख) बौद्ध कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। कुषाण -नरेश कनिष्क के समकालीन होने से उनका समय ई0 सन् प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके तथा कालिदास के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि, वर्णन की शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव –आदि अनेक विषयों में कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। अश्वघोष प्रधानत: सर्वास्तिवादी दार्शनिकथे। काव्य की ओर उनकी अभिरूचि का होना तथा उसे धर्म प्रचार का साधन मानना काव्यकला के उत्कर्ष का द्योतक है (सौन्दर्यनन्द 18/63) । और यह उत्कर्ष कालिदास के प्रभाव का ही फल है। बुद्ध चरित में अश्वघोष में कालिदास के बहुत से श्लोकों का अनुकरण किया है। रघुवंश के सातवें सर्ग में (श्लोक 5-15) कालिदास ने स्वयंवर से लौटने पर अज को देखने के लिए आने वाली उत्सुक स्त्रियोंका बड़ा ही अभिराम वर्णन किया है। अश्वघोष ने बुद्धचरित (तृतीय सर्ग, 13-24 पद्य) में ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है। कुमारसम्भव मे भी ये ही पद्य मिलते हैं। यदि कालिदास ने इसे अश्वघोष के अनुकरण पर लिखा होता, तो वे दो बार इसका प्रदर्शन कर अपना ऋण नितान्त अभिव्यक्त नहीं करते, उसे छिपाने का प्रयत्न करते । कालिदास की भाव-सुन्दरता अश्वघोष के द्वारा सुरक्षित न रह सकी। तुलना करने से कालिदास का समय अश्वघोष से प्राचीन प्रतीत होता है। अत: कालिदास का समय ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही मानना युक्तियुक्त है।

(ग) शाकुन्तल में सूचित सामाजिक तथा आर्थिक दशा का अनुशीलन सूचित करता है कि कालिदास बौद्ध धर्म से प्रभावित उस युग के कवि थे जब हिन्दू देवी -देवताओं के विषय में श्रद्धाविहीन विचार प्रचलित

थे। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तलम् की नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया है। इस नान्दी में 'प्रात्यक्षभि:' शब्द का प्रयोग कर कवि ने तत्कालिन देवता –विषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया है। जिस शिव की अष्टमूर्तियों का हमें प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है- जिनका साक्षात्कार हमें अपनी ऑखों से हो रहा है, उन देवता के विषय में अश्रद्धा कैसे टिक सकती है? अविश्वास कैसे रह सकता है? इसी प्रकार षष्ठ अंक में कालिदास ने कर्तव्य-कर्म होने के कारण यज्ञयागादि का विधान ब्राह्मण के लिए आवश्यक बतलाया है। बौद्धों ने हिंसापरक होने के कारण यज्ञो की भरपेट निन्दा की, परन्तु शकुन्तला में एक पात्र कहता है कि क्या यज्ञों में पशु मारने वाले क्षेत्रिय का हृदय दयालु नहीं होता? कुल-परम्परागत धर्म का परित्याग क्या कभी श्लाघनीय है? अतएव यज्ञों का अनुष्ठान सर्वदा श्रेयस्कर है; परन्तु उसके हिंसापरक होने पर भी याज्ञिक ब्राह्मणों का हृदय कोमल होता है-

सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयकम्।
पशुमारण-कर्मदारूण: अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रिय: ॥

यहॉ कवि ने बौद्ध धर्म के कारण यज्ञों के विषय में होने वाली निन्दा या अश्रद्धा को दूर करने का उद्योग किया है। अत: कालिदास का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जा रही थी तथा ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हो रहा था। यह समय ब्राह्मणवंशी शुंगनरेशो (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के कुछ ही पीछे होना चाहिये। अत: विक्रम संवत् के प्रथम शतक में कालिदास को मानना सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(घ) कालिदास को प्रथम शताब्दी में रखने के लिए अन्य भी प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं—

(1) कालिदास ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग (श्लोक 36) में 'अवन्तिनाथ' का वर्णन करते समय 'विक्रमादित्य' विरूद का संकेत किया है। कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य मालवगण के संस्थापक, काव्यकला के प्रेमी, शैव थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी उनके शैव होने का संकेत मिलता है। फलत: उनके विक्रमादित्य के सभापण्डितहोने की अधिक सम्भावना है, न कि वैष्णव मतावलम्बी परमभागवत गुप्तनरेशों की सभा में।

(2) रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर के प्रसङ्ग में पांडय नरेश का वर्णन किया गया है (श्लोक 59-64)। चतुर्थ शती में पाण्डवों का राज्य समाप्त हो गया था , परन्तु प्रथम शती में उनका राज्य विद्यमान था। कालिदास ने पाण्डव नरेश की 'उरगपुर' राजधानी बतलाया है, जो 'उरियाउर' का संस्कृत नाम है। पाण्डव नरेशों की यही राजधानी थी।

महाकवि कालिदास का कृतित्व—

कालिदास की सच्ची रचनाओं का निर्णय करना आलोचकों के लिए एक दुष्कर कार्य है , क्योंकि कालिदास की काव्य-जगत् में ख्याति होने पर अवान्तरकालीन बहुत से कवियों ने 'कालिदास' का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपा रखा। कम से कम राजशेखर (10 शतक) ने तीन कालिदासों की सत्ता का पूर्ण संकेत किया है। एक तो परम्परा की अविच्छिन्नता और दूसरे अनेक कालिदासों की सत्ता- दोनों ने मिलकर इस समस्या को जटिल तथा अमीमांस्य बना रखा है।

ऋतुसंहार— 'ऋतुसंहार' कालिदास की प्रथम काव्यकृति है। विद्वानों की दृष्टि में बालकवि कालिदास ने काव्यकला का आरम्भ इसी ऋतु-वर्णन-परक लघुकाव्य से किया। छ: सर्गो में विभक्त यह काव्य ग्रीष्म से आरम्भ कर वसन्त तक छहों ऋतुओं का बड़ा ही स्वाभावि, अकृत्रिम तथा सरल वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु इसे कालिदास की कमनीय शैली या वाग्वैदग्धी का परिचय मिलता है, न इसमें बाल-रचना की पुष्टि में ही कोई प्रमाण मिलता है। भारतीय दृष्टि से ऋतुओं का वर्णन रूढिगत तथा सर्वथा सामान्जस्यपूर्ण है। अलंकार ग्रन्थों में उद्धरण का अभाव भी उक्त सन्देह की पुष्टि-सा करता प्रतीत होता है।

कुमारसम्भव— कालिदास की सच्ची नि:सन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कुमार कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था, परन्तु यह महाकाव्य अधूरा ही हैं। इसके वर्तमान 17 सर्गो में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी के चमत्कार हैं ही। अष्टम सर्ग भी उनका ही नि:संशय निर्माण है। आलङ्कारिकों तथा सुक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गो में से पद्यों को उद्धृत किया है। कालिदासीय कविता के प्रवीण पारखी मल्लिनाथ ने इतने ही सर्गो पर अपनी 'संजीवनी' लिखी। इन आदिमअष्ट सर्गो में विषय की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य है। कविता का चमत्कार सहृदयों के लिए नितान्त हृदयावर्जक है। 'जगत:पितरौ' शिव-पार्वती जैसे दिव्य दाम्पत्य के रूप तथा स्नेह का वर्णन नितान्त औचित्यपूर्ण तथा ओजस्वी है। केवल अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलङ्कारिकों के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है। पंचम सर्ग में पार्वती की कठोर तपश्चर्या का वर्णन जितना ओजपूर्ण, उदात्त तथा संश्लिष्ट है उतना ही तृतीय सर्ग में शिवजी की समाधिका वर्णन भी है। 9 से लेकर 17 सर्ग किसी साधारण कवि के द्वारा लिखित प्रक्षेपमात्र है।

मेघदूत— यह कालिदास की अनुपम प्रतिभा का विलास है। वियोगविधुरा कान्ता के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-सन्देश भेजना मौलिक कल्पना है। सम्भव है यह हनुमान् को दूत बनाकर भेजने की रामायणीय कथा अथवा हंसदूत की महाभारतीय कथा के द्वारा संकेतित किया गया है, परन्तु इसका सांविधानक तथा विषयोपन्यास कवि की मौलिक सूझ के परिणाम हैं। इसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का निदर्शनविपुल टीका-सम्पत्ति (लगभग 50 टीकाओं) से तो लगता ही है; साथ ही साथ तिब्बती तथा सिंघली भाषा में इसके अनुवाद से यह विशेषत: पुष्ट होती है। 'मेघदूत' को आदर्श मानकर संस्कृत में निबद्ध एक विपुल काव्यमाला है, जो 'सन्देश-काव्य' के नाम से विख्यात है। पूर्वमेघ में कवि ने रामगिरि से अलका तक मार्ग के वर्णनावसर पर समस्त भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा का अभिराम उपन्यास किया है। यह बाह्मप्रकृति के सौन्दर्यय तथा कामनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है तो उत्तरमेघ मानव-हृदय के सौन्दर्य तथा अभिरामता का विमल चित्रण है यक्ष का प्रेम-सन्देश, उस, के कोमल हृदय के स्वाभाविक स्नेह का तथा नैसर्गिक सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है और इस उदात्त प्रेम का अभिव्यंजक, काव्य सुषमा तथा भावसौष्ठव से मण्डित यह ग्रन्थ रस का अक्षय स्रोत है जिसकी भावधारा सूखने की अपेक्षा प्रतिदिन आनन्दातिरेक से वृद्धिगतही होती जा रही है।

रघुवंश - भारतीय आलोचक रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते है और इसीलिए कालिदास के लिए ही 'रघुकार' (रघुवशं का रचयिता) अभिधान का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ की लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय विभिन्न काल में निर्मित 40 टीकाओं के अस्तित्व से भी भली-भॉति मिल सकता है। रघु के जन्म की पूर्व पीठिका से ही इस काव्य का आरम्भ होता है। दिलीप के गोचारण से रघु का जन्म होता है (द्वितीय तथा तृतीय सर्ग) , जो अपने अदम्य पराक्रम से पूरे भारतवर्ष के ऊपर दिग्विजय करते हैं (चतुर्थ सर्ग) और अपनी अद्भुत दानशीलता दिखलाकर लोगों को चकित कर देते है (पंचम सर्ग)। इसके अनन्तर तीन सर्गो में इन्दुमती का स्वयंवर, अन्य समवेत राजाओं को परास्त कर रघुपत्र अज का इन्दुमती से विवाह तथा कोमल माला के गिरने से इन्दुमती का मरण तथा अज का करूण विलाप क्रमश: वर्णित हैं। दसवें सर्ग से लेकर 15 वें सर्ग तक रामचरित का विस्तृत वर्णन है। यहॉ कालिदास ने जमकर रामचन्द्र के चरित का वैशिष्टय बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। त्रयोदश सर्ग में पुष्पकारूढ राम के द्वारा भारतवर्ष के स्थलों का रूचिर वर्णन कालिदास की प्रतिभा का विलास है। चतुर्दश सर्ग सीता के चरित की सुषमा से आलोकित है। राम के द्वारा पंरित्यक्ता गर्भ- भरालसा जनकनन्दिनी के प्रणय-सन्देह में जो आत्मगौरव, जो स्नेह भरा हुआ है वह पतिव्रताके चरित का उत्कर्ष है। अन्तिम कतिपय सर्गो में कालिदास नाना राजाओं के चरित को सरसरी तौर से निरखते चले गये हैं,परन्तु अन्तिम 19 वें सर्ग में कामुक अग्निवर्ण का चित्रण बड़ी ही मार्मिकता के साथ कवि ने

किया है। देखने में रघुवंश अधूरा-सा दीखता है, परन्तु कालिदास ने यहाँ प्रभुशक्ति की कल्पना में अपने विचारों को पुर्णरूपेण अभिव्यक्त कर दिया है। प्रकृति-रंजन के कारण राज्य की समृद्धि होती है तथा प्रकृतिहिंसन के कारण राज्य का सर्वनाश होता है- यह उपदेश बड़े ही अच्छे ढंग से रघुवंश के अनुशीलन से प्रकट हो रहा है।

बोध प्रश्न-1

अभ्यास प्रश्न-1

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. कालिदास किस रीति के प्रयोक्ता है।

क. गौणी ख. पांचाली ग. वैदर्भी घ. लाटी

2. कालिदास ने कितने महाकाव्यों की रचना की।

क. 4 ख. 3 ग. **5** घ. 7

3. कालिदास ने कितने नाटकों की रचना की।

क. **3** ख. 5 ग. **7** घ. 8

4. ऋतुसंहार किसकी रचना है।

क. माघ ख. भास ग. कालिदास घ. भारवि

5. कालिदास का समय प्रथम शताब्दी कौन सा ग्रन्थ प्रमाणित करता है।

क. गाथासप्तशती ख. कथासरित्सागर ग. वृहत्कथामंजरी घ. कोई नहीं

6. कनिष्क किस वंश का शासक था।

क. गुप्त ख. चोल ग. कुषाण घ. भद्र

7. कुमारसम्भव महाकाव्य में कितने सर्ग हैं।

क. 4 ख. 13 ग. 17 घ. 19

8. कालिदास के मेघदूत में किसे दूत बनाया गया है।

क. यक्ष ख. मेघ ग. सेवक घ. कोई नहीं

9. दिलीप की गो सेवा का वर्णन किस ग्रन्थ में है।

क. रघुवंश ख. कुमारसम्भव ग. शाकुन्तलम घ. गीतगोविन्द

10. रघुवंश महाकाव्य में कितने सर्ग है –

क. 17 ख. 18 ग. 19 घ. 20

उपमा कालिदासस्य—

काव्य में अलंकार-प्रयोग के विषय में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने एक बड़ी रहस्यमयी उक्ति प्रस्तुत की है-

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शब्दक्रियों भवेत्।
अपृथग्-यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥

रस के द्वारा आक्षिप्त होने के कारण जिसका बन्ध या निर्माण शक्य होता है और जिसकी सिद्धि में किसी प्रकार के पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती,वही सच्चा अलंकार है- ध्वनिवादियों का यही मत है। प्रथम होती है रस की अनुभूति और तदनन्तर होती है उसकी अलंकृत अभिव्यक्ति। रसानुभूति तथा शब्दाभिव्यक्ति - दोनों एक ही प्रयास के परिणित फल हैं। कोई कलाकार जिस चित्तप्रयास द्वारा रस-विधारण करता है उसी चित्तप्रयास द्वारा अलंकारादि के माध्यम से रसप्रस्फुटन करता है; उसके लिए उसे किसी प्रकार के पृथक् प्रयास करने की जरूरत ही नहीं होती । रससंवेग

द्वारा ही अलंकार के स्वत: प्रकाशन का यह सिद्धान्त ध्वनिवादियों को ही मान्य नहीं है, प्रत्युत प्रख्यात आलोचक क्रोचे भी इससे पूर्णतया सहमत हैं । चित्त की सहजानुभूति (इन्टयूशन) एवं अभिव्यन्जना (एक्सद्बप्रेशन)- इन दो वस्तुओं को वे दो प्रक्रियाओं से उत्पन्न नहीं मानते। उनका यह दृढ विश्वास है कि कला की अभिव्यन्जना की सम्भावना बीज-रूप में हृदय की रसानुभूति में ही निहित रहती है; जैसे- एक विराट वृक्ष की शाखा-प्रशाखायें ,किसलय-पल्लव, फूल-फल आदि की रेखाओं की प्रकाशन-संभावना एक छोटे से बीज में। साहित्य के रस एवं साहित्य की भाषा में अद्वय योग रहता है, अभिव्यक्त अलंकार-भाषा का यह समस्त सौन्दर्य-कटककुण्डलावदिवतु कहीं बाहर से जोड़ा हुआ नहीं रहता, प्रत्युत् वह काव्यपुरूष का स्वाभाविक देह –धर्म होता है। अभिनव गुप्त ने भी स्पष्ट ही कहा है- 'न तेषां बहिरड्गत्वं रसाभिव्यक्तौ'। इस विषय में महाकवि कालिदास भी अद्वयवादी थे:-

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

वाक् तथा अर्थ का – काव्य की अन्तर्निहित भाववस्तु एवं उसके अभिव्यन्जक शब्द का परस्पर नित्य सम्बन्ध है, जैसे विश्वसृष्टि के आदि माता-पिता पार्वती-परमेश्वर का त्रिगुणात्मिका शक्ति ही विशुद्ध चिन्मय शिव की विश्व में अभिव्यक्ति का कारण बनती है। शिव के आश्रयविना शक्ति की लीला नहीं, शक्ति के विना शिव का कोई अस्तित्व ही नहीं; वह शवमात्र होताहै। साहित्य के क्षेत्र में भी भावरूप महेश्वर एवं शब्दरूपा पार्वती- दोनों ही एक दूसरे के आश्रित हैं । महाकवि कालिदास की उपमा (या अलंकार) के प्रयोग के अवसर पर इस तथ्य का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है कि रसानुभति की समग्रता को वर्ण, चित्र तथा संगीत में जो भाषा जितना अधिक मूर्त कर सकेगी, वह भाषा उतनी ही सुन्दर एवं मधुर होगी। कालिदास अपनी उपमा के द्वारा देवता तथा मानव दोनों के गौरव को प्रतिष्ठित करते हैं । समाधि में निरत भूतभावन शंकर की उपमा द्वारा जिस अपूर्व स्तब्धता का परिचय दिया है उसका सौन्दर्य नितान्त अवलोकनीय है (कुमारसम्भव 3/48)-

अवृष्टिसंरभमिवाम्बुवाहम् अपामिवाधारमनुत्तरड्गम् ।
अन्तश्चराणां मरूतां निरोधाद् निवापनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ।।

योगेश्वर महादेव शरीरस्थ समस्त वायुओं को निबद्ध कर पर्यड्कबन्ध में स्थिर अचंचल भाव से बैठे हैं, जैसे वृष्टि के संरम्भ से हीन अम्बुवाह मेघ हो (जल को धारण जलराशि का आधारभूत समुद्र जैसे तरंगहीन अचंचल हो; 'अपामिवाधार' शब्द की यही ध्वनि है) तथा निवातनिष्कम्प प्रदीप हो । यहॉ तीनों प्राकृतिक उपमानों के द्वारा कालिदास योगिराज की अचंचल स्थिरता की अभिव्यन्जना कर उनके गौरव की एक रेखा खींचते हुये प्रतीत होते हैं । रघुवंश (3/2) में कालिदास ने गर्भवती सुदक्षिणा का बड़ा सुन्दर चित्र उपमा के द्वारा खींचा है-

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ।।

आसन्नप्रसवा सुदक्षिण मानों प्रभातकल्पा रजनी हो। रजनी दिन को प्रकाश देने वाले सूर्य का प्रसव करती है, वैसे ही रानी वंशकर्ता उज्जवलमूर्ति रघु को प्रसव करने जा रही है। सूर्यरूपी पुत्र को गर्भ में धारण करनेवाली आसन्नप्रसवा विराट् रजनी की महिमामयी मूर्ति होती है, सुदक्षिणा की मूर्ति में भी वह गौरव प्रस्फुटित हो रहा है । शरीर की कृशता के कारण हीरे , जवाहिरों के भूषण स्वयं खिसक पड़े हैं; जैसे रजनी में टिमटिमाते तारे स्वयं खिसक जाते हैं और दो चार ही बचे रहते हैं । लाध्र के समान ईषत्-पीला मुख पीले पड़ जानेवाले चन्द्रमा के समान प्रकाशहीन हो गया है। गर्भिणी के स्वभाविक चित्रण के साथ ही प्रभातप्राय निशा का कितना समुचित वर्णन हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित हो जाता है।

कालिदास की उपमाओं की रसात्मिकता तथा रसपेशलता नितान्त मर्मस्पर्शी है। औचित्य तथा सन्दर्भ को शोभन बनाने की कला उनमें अपूर्व है। तपस्या के लिए आभूषणों को छोड़कर केवल वल्कल धारण करने वाली पार्वती चन्द्र तथा ताराओं से मण्डित होनेवाली अरूणोदय से युक्त रजनी के समान बतलाई गई है (कुमार0 5/44)। स्तनों के भार से किंचित् झुकी हुई नवीन लाल पल्लवों से मण्डित संचारिणी लता के समान प्रतीत होती है-

पर्याप्त-पुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव।

स्वयंवर में उपस्थित भूपालों को छोड़कर जब इन्दुमती आगे बढ़ जाती है, तब वे राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये महलों के समान प्रतीत होते हैं। यहॉ राजाओं की विषण्णता तथा उदासी की अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वाराबड़ी सुन्दरता से की गई है-

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।

नरेन्द्र-मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपाल: ।।

इसी उपमा-प्रयोग के सौन्दर्य के कारण यह महाकवि'दीपशिखा कालिदास' नाम से कविगोष्ठी में प्रसिद्ध है।

बोध प्रश्न-2

अभ्यास प्रश्न-2

निम्नलिखित में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये –

1. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये
   ..... वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।
2. या सृष्टि: स्रष्टु राद्या वहति विधिहुतं ..... ।
3. उपमा कालिदासस्य .....
   दण्डिन: पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणा: ।।

सही विकल्प चुनकर उत्तर दीजिये –

1. शाकुन्तलम का नायक कौन है।

क.नल ख. दुष्यन्त ग. उदयन घ.कोई नही

2. शाकुन्तलम का नायक किस कोटि का है।

क.धीरोदात्त ख. धीरोद्धत ग. धीरललित घ.कोई नही

3. दुष्यन्त किस वंश का राजा था।

क. पुरू ख. सूर्य ग. चन्द्र घ.अग्नि

3.3.2 महाकवि माघ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महाकवि माघ का परिचय—

शिशुपालवध के कर्ता का नाम 'माघ' है। डॉक्टर याकोवी का मत है कि जिस प्रकार 'भारवि' ने अपनी प्रतिभा की प्रखरता सूचित करने के लिए 'भा-रवि' (सूर्य का तेज) नाम रखा, उसी भॉति शिशुपालवध के अज्ञातनामा रचयिता ने अपनी कविता से भारवि को ध्वस्त करने के लिए 'माघ' का नाम धारण किया, क्योंकि माघमास में सूर्य की किरणे ठंडी पड़ जाती हैं। परन्तु यह कल्पना बिल्कुल निराधार जान पड़ती है शिशुपालवध के कर्ता का व्यक्तिगत नाम ही 'माघ' है, उपाधि नहीं। माघ की जीवन घटनाओं का पता 'भोजप्रबन्ध' तथा ''प्रबन्ध-चिन्तामणि' से लगता है। दोनों पुस्तकों में प्राय: एक –सी कहानी दी गयी है। माघ के जीवन की रूपरेखा को हम जान सकते हैं।

माघ के दादा सुप्रभदेव वर्मलात नामक राजा के, जो गुजरात के किसी प्रदेश का शासक था, प्रधान मन्त्री थे। अत: माघ कवि का जन्म एक प्रतिष्ठित धनाढय ब्राह्मणकुल में हुआ था। इनके पिता 'दत्तक' बडे. विद्वान् तथा दानी थे । गरीबों की सहायता में इन्होंने अपने धन का अधिकांश भाग लगा दिया। माघ का जन्म भीन-माल में हुआ था। यह गुजरात का एक प्रधान नगर था, जो बहुत दिनों तक राजधानी तथा विद्या का मुख्य केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने 625 ई0 के आस-पास अपने 'ब्रह्म्गुप्तसिद्धान्त' को यही बनाया। इन्होंने अपने को 'भीनमल्लाचार्य लिखा है। हुवेनसांग ने भी इसकी समृद्धि का वर्णन किया है । पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर भी पड़ा। ये भी खूब दानी निकले। राजा भोज से इनकी बड़ी मित्रता थी । राजा भोज का इन्होने अपने घर पर बड़े आवभगत से सत्कार किया। धीरे-धीरे अधिक दान देने से निर्धन हो गये। यह धारा का प्रसिद्ध राजा भोज नहीं हो सकता। इतिहास इसे असंभव सिद्ध कर रहा है। अत एव कुछ लोग 'भोजप्रबन्ध' की कथा पर विश्वास नहीं करते, परन्तु इतिहास में कम से कम दो भोज अवश्य थे। एक तो प्रसिद्ध धारानरेश भोज (1010-50 ई0) थे और दूसरे भोज सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए। सम्भवत: इसी दूसरे राजा के समय में माघ हुए थे। 'भोजप्रबन्ध' ने दोनों भोजों की कथाओं में हड़बड़ी मचा डाली हैं।

माघ अपने मित्र भोज के पास आश्रय के लिए आये, 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा है कि इनकी पत्नी राजा के पास 'कुमुदवनमपश्रिश्रीमदम्भोजखण्डमद्' आदि पद्यको, जो माघ –काव्यके प्रभात-वर्णन (11 सर्ग) में मिलता है, ले गयी ।इस पद्य को सुनकर राजाने प्रभूत धन दिया। उसे लेकर माघ-पत्नी ने रास्ते में दरिद्रों को बांट दिया। माघ के पास पहुँचने पर उसकी पत्नी के पास एक कोड़ी भी न बची रही, परन्तु याचकों का तॉता बँधा ही रहा। कोई उपाय न देखकर दानी माघ ने अपने प्राणछोड़ दिये। प्रात:-काल भोज ने माघ का यथोचित अग्नि संस्कार दिया और बहुत दु:ख मनाया। माघ की पत्नी भी सती हो गयी।

माघ के जीवन की यही घटना ज्ञात है। यह सच्ची है या नहीं ,परन्तु इतना तो हम नि:सन्देह कह सकते है कि माघ परम्परानुसार एक प्रतिष्ठित धनाढय ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। जीवन के सुख की समग्र सामग्री इनके पास थी। पिता ने इन्हे शिक्षा दी थी। पिता के समान ही ये दानी तथा उपकारी थे। सम्भवत: भोज के यहॉ इनका बडा मान था।

महाकवि माघ का समय—

माघ के समय-निरूपण के लिए एक संदेह –हीन प्रमाण उपलब्ध हुआ है। आनन्दवर्धन ने शिशुपालवध के दो पद्यों को ध्वन्यालोक में उदाहरण के लिए उद्धृत किया है- रम्या इति प्राप्तवती: पताका: (3/53) तथा त्रासाकुल: परिपतन् (5/26)। फलत: माघ आनन्दवर्धन (नवम शती का पूर्वार्ध) से प्राचीन हैं। एक शिलालेख से इसका यथार्थ ज्ञान होता है। डॉ0 कीलहार्न को राजपुताने के 'वसन्तगढ' नामक किसी स्थान से 'वर्मलात' राजा का एक शिलालेख मिला है। शिलालेख का समय संवत् 682, अर्थात् 625 ई0 है शिशुपालवधकी हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न-भिन्न मिलता है। धर्ममान, वर्मनाम, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठ भेद पाये जाते हैं। भीनमाल के आसपास के प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डॉक्टर किलहार्न 'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को यथार्थत: अभिन्न मानते हैं। अत: सुप्रभदेव का समय 625 ई0 से लेकर700 ई0 के पास है। अत एव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग 650 ई0 से लेकर700 ई0 तक होगा,अर्थात् माघ का आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध मानना उचित है।

महाकवि माघ का कृतित्व —

माघ का केवल एक ही महाकाव्य 'शिशुपालवध' है। श्रीकृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदिनरेश शिशुपाल के वध का सांगोपांग वर्णनहै। यही 'शिशुपालवध' महाकाव्य का वर्ण्य विषय है। इसका

प्रेरणास्रोतमुख्यतया श्रीमद्भागवत है, गौण रूप से महाभारत। वैष्णव माघ के ऊपर भागवत अपना प्रभाव जमाये था। फलत: उसी के आधार पर कथा का विन्यास है। सर्गों की संख्या 20 तथा श्लोकों की 1650 (एक हजार छ: सौ पचास)।

माघ की विद्वत्ता—

माघ केवल सरस कवि ही नहीं थे, प्रत्युत एक प्रकाण्ड सर्वशास्त्र –तत्वज्ञ विद्वान् भी थे। भारवि में राजनीति-पटुता अवश्य दीख पडती है, श्रीहर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठितज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह उन दोनों कवियों में विरल है। उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। परन्तु माघ का पाण्डित्य सर्वगामी है। माघ का श्रुति-विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रात:काल के समय इन्होने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवनकर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख है (11/41)। वैदिक स्वरों की विशेषता भी आपको भली-भॉति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है इस नियम का उल्लेख मिलता है (14/24)। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरोंको अनुदात्त बना डालता है- एक स्वर के उदात्त होने से अन्य स्वर 'निधात' हो जाते हैं। इस स्वर-विषयक प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बडी सुन्दर रीति से किया है - निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्त: स्वरानिव (2/95)। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ का बडा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता है। दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञानमाघ में दिखाई पडता है। सांख्य के तत्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथमसर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है (1/23) वह सांख्य के अनुकूल है। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है।'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि (4/45) पद्य में चित्तपरिकर्म, सबीजयो, सत्वपुरूषान्यथाख्याति योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। आस्तिक दर्शनों को कौन कहे ? नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्चकोटि का था। माघ बौद्धदर्शनों से भी भली-भॉति परिचित थे (2/28)। उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियॉ दिखलायी गयी हैं। माघ ने नाटयशास्त्र के विभिन्न अंगों की उपमा बडी सुन्दरता से दी है। माघ एक प्रवीणवैयाकरण थे। उन्होने व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होने किया है। माघ सांख्योग के पारखी कवि हैं, तो श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्त के मर्मज्ञ कवयिता है।माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे (माघ 11/1)। जगह-जगह पर संगीत-शास्त्र के मूल तत्वों का निदर्शन कराया गया है। अलंकार-शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना क्षेत्र है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्वों का वर्णन किया है।

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर अपने पूर्ववर्ती 'भारवि' से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। भारवि शैव थे, जिनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है; माघ वैष्णव थे, जिन्होंने विष्णु-विषयक महाकाव्य की रचना की। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारू' कहते हैं। भारवि की कीर्ति को ध्वस्त करने में माघ ने कुछ भी उठा नहीं रक्खा। 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिकता पैदा कर दी है। किरात के समान ही माघ-काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रिय: कुरूणामधिपस्य पालनीं' है, उसी प्रकार माघ के प्रारम्भ में 'श्रिय:पति: श्रीमति शासितुं जगत् है। भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त पद्योमें 'श्री' का प्रयोग किया है। शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्ण-कर्म में समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है। दूसरे सर्ग में राजनीति - कथन है। अनन्तर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु-वर्णन भी दोनों में है- किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है- किरात के पॉचवें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का।

बोध प्रश्न-3

अभ्यास प्रश्न-3

1. शिशुपाल का वध किसने किया।

क. कृष्ण ख. रूक्मि ग. द्रुपद घ. बलराम

2. शिशुपाल वध किसकी रचना है।

क. माघ ख. भारवि ग. श्रीहर्ष घ. कोई नहीं

3. माघ के दादा का क्या नाम था।

क. सुप्रभदेव वर्मलात ख. प्रभदेव ग. सुकर्म घ. कीर्तिमान

4. 'ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त' किसकी रचना है।

क. ब्रह्मगुप्त ख. भास्कराचार्य ग. कमलाकर भट्ट घ. वराहमिहिर

5. ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त की रचना कब हुई।

क. 650 ई0 ख**. 625 ई0** ग. 635 ई0 घ. कीर्तिमान

6. माघ का जन्म कहाँ हुआ था।

क. महाराष्ट्र ख. मध्यप्रदेश ग. गुजरात घ.कोई नहीं

7. भारवि शब्द से तात्पर्य है –

क. चन्द्र की छाया ख. सूर्य की छाया ग. वृक्ष की छाया घ. किसी वस्तु की छाया

8. माघे सन्ति .....।

क. चतुर्गुणा ख. त्रयो गुणा: ग. पंच गुणा घ. षड् गुणा:

3.3.3 महाकवि भारवि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महाकवि भारवि का परिचय —

कालिदास और अश्वघोष के बाद तृतीय उल्लेखनीय महाकवि भारवि हैं , पर इनका काव्य मार्ग जिसे काव्य क्षेत्र में विचित्र मार्ग भी कहा जाता है , कालिदास से भिन्न है और यही इस मार्ग के प्रवर्तक महाकवि हैं। अतः स्पष्ट है कि कालिदास पश्चात्वर्ती काव्यकारों में महाकवि भारवि सर्वश्रेष्ठ प्रथम कवि हैं , इनके उत्तरकालीन माघ , भवभूति , श्री हर्ष आदि कवियों ने इनके ही विचित्र मार्ग का अनुसरण किया है। इस युग के काव्यों में कलापक्ष का परम साध्य बन गया है। संस्कृत महाकाव्यों में रचना कौशल और भावाभिव्यंजना की दृष्टि से वृहत्रयी और लघुत्रयी प्रसिद्ध है। प्रथम में किरातार्जुनीयम्, शिशुपाल वध तथा नैषधीयचरितम् नामक महाकाव्य है और कालिदास के तीनकाव्य रघुवंश, कुमारसंभव और मेघदूत' लघुत्रयी में माने जाते हैं। इस प्रकार वृहत्त्रयी में भारवि सर्वश्रेष्ठ प्रथम कवि है। भारवि ने प्रचलित भाव पक्ष प्रधान काव्य धारा को एक नया मोड़ देकर उसमें कलापक्ष को अधिक महत्त्व प्रदान किया , अतः इसके काव्यों में जहाँ एक ओर पदों के अर्थो का गाम्भीर्य है, वहाँ दूसरी ओर विविध मनोरम अलंकारों की शोभा का चमत्कार है। अर्थगरिमा , सुन्दर पदविन्यास और अलंकारों की सजावट ही भारवि का सबसे बड़ा काव्य-कौशल है। भारवि अपने समय के राजनीति के प्रकाण्ड पंडित थे और विविध शास्त्रों के अध्येता कवि थे।

महाकवि भारवि का समय—

संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण काव्यकारों में भारवि का विशिष्ट स्थान है। इनके जीवनचरित के विषय में इनका एकमात्र ग्रन्थ ' किरातार्जुनीयम् ' एकदम मौन है। इनके समय आदि का ज्ञान हमें बहिरंग से प्राप्त होता है। भारवि के काव्य में कालिदास की रचनाओं का बहुत अनुकरण है-- ऐसा विद्वानों का अभिप्राय है अतः भारवि का कालिदास के बाद होना निश्चित है। माघ (600 ई.) पर भारवि की स्पष्ट छाप है। गद्य सम्राट

महाकवि बाण (सप्तम शती का पूर्वार्द्ध) अपने हर्षचरित में भारवि के नाम का उल्लेख नहीं करते । अतः अनुमान होता है कि उनके काल तक भारवि का यश विशेष विस्तृत नहीं हुआ था । सर्वप्रथम भारवि नाम ऐहोल (634 ई.) के शिलालेख मे मिलता है । यह शिलालेख दक्षिण में बीजापुर जिले के ऐहोल नामक ग्राम के एक जैन मन्दिर में मिला है । शिलालेख की प्रशस्ति दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के आश्रित रविकीर्ति नामक किसी जैन कवि के द्वारा अपने आश्रयदाता के विषय में लिखी गई है । प्रशस्ति की समाप्ति पर रविकीर्ति अपने आपको कविता निर्माण की कला में कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी बतलाता है ।

काशिका वृति में जिसकी रचना वामन और जयादित्य द्वारा 650 ई. के लगभग की गई थी , भारवि की ' किरातार्जुनीयम्' से एक उदाहरण दिया गया है , इससे प्रतीत होता है कि भारवि अब तक एक के रुप में प्रसिद्व हो चुके थे,अतः भारवि की स्थिति सातवीं शताब्दी के पूर्व मानी जा सकती है । गंगनरेश दुर्विनीत के शिलालेख से यह सिद्ध होता है कि दुर्विनीत ने' किरातार्जुनीयम्' के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी । पन्द्रहवाँ सर्ग चित्रकाव्य है । अतः क्लिष्ट है । इसलिए उस पर टीका लिखना वैदुष्य का काम है । राजा दुर्विनीत का काल वि. सं. 538 (ई. 481) है । दुर्विनीत के इस उल्लेख से भारवि का समय पंचम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है । दुर्विनीत के इन शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि पंचम शताब्दी के अन्तिम चरण तक भारवि की कीर्ति प्रभा दक्षिण भारत में पूर्णतः प्रकाशित हो चुकी थी ।अवन्तिसुन्दरी कथा के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले और पुलकेशीद्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभा-पण्डित थे । विष्णुवर्धन का शासन काल 615 ई. के आसपास होना चाहिए । किन्तु ' अवन्ति सुन्दरी' के कथन एवं साक्ष्य की अपेक्षा शिलालेखों का प्रामाण्य अधिक आदरास्पद एवं विश्वसनीय है ।

1. येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स विजयतां रविकीर्तिः कवतिश्रितकालिदास भारविकीर्तिः ॥
2. सदावतारकारेण देवभारतीनिबद्ववडकथेन किरातार्जुनीयपंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन ।

भारवि का स्थान और जीवन-वृत्त—

भारवि के समय की भाँति इनका जीवन वृतान्त भी अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है । इनके महाकाव्य से इस विषय में तनिक भी सहायता नहीं मिलती है। पूरे ग्रन्थ में कवि ने अपने विषय में कहीं भी परिचयात्मक संकेत कुछ भी नहीं लिखा है । परन्तु सबसे पहले दक्षिण के एक शिलालेख में इनका नामोल्लेख पाया जाता है । अनुमान यही होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे। इस अनुमान की हाल ही में यथेष्ट पुष्टि हुई है । अभी कुछ वर्ष बीते आचार्य दण्डी विरचित गद्यात्मक अवन्तिसुन्दरी कथा तथा उसी का पद्यात्मक अवन्तिसुन्दरी कथासार नामक सारांश उपलब्ध हुए हैं, जिनसे भारवि के विषय में भी बहुत कुछ बातें ज्ञात हुई हैं । सौभाग्यवश दण्डी ने कथा के आरम्भ में अपने पूर्वजों का वृतान्त विस्तार के साथ दिया है जिसमें लिखा है कि दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष, जिनका नाम दामोदर था, नासिक के समीपस्थ अपनी जन्म भूमि को छोड़कर दक्षिण प्रान्त में चले गये । अवन्ति सुन्दरी कथा के सम्पादक पण्डित रामकृष्ण कवि ने इन्हीं दामोदर के साथ भारवि की एकता मानी है अर्थात् उनकी सम्मति में भारवि ही आचार्य दण्डी के चतुर्थ पुरुष (प्रपितामह) थे, परन्तु जिस पद्य के आधार पर यह अभिन्नता मानी जाती है उसके पाठ अशुद्ध होने के कारण इस सिद्वान्त को अब बदलना पड़ा है। भारवि दण्डी के प्रपितामह नहीं थे प्रत्युत प्रपितामह के मित्र थे , क्योंकि भारवि की सहायता से ही दामोदर राजा विष्णुवर्धन की सभा में प्रविष्ट हुए । जो कुछ हो , इतना तो निश्चित है कि भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे और चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे । कुछ विद्वानों ने भारवि को त्रावणकोर प्रदेश का निवासी सिद्व किया है । भारवि का जीवन वृतान्त भी अन्धकारमय है केवल कुछ किवदन्तियाँ ही उनके संबंध में संस्कृत कवियों से सुनी जाती हैं । एक किंवदन्ति उनको धारा नगरी का निवासी

तथा राजा भोज का समकालीन बतलाती है। पिता का नाम श्रीधर तथा माता का नाम सुशीला बतलाया गया है। रसिकवती कन्या से उनका विवाह हुआ था जो कि भडौच के निवासी चन्दकीर्ति की पुत्री थी। यद्यपि भारवि के पिता भी उच्चकोटि के विद्वान् थे, पर भारवि उनसे भी बढ़कर थे। सुनते हैं कि इनके पिता अपने पुत्र के वैदुष्य से परिचित होने पर भी सभा में इनका इसलिए तिरस्कार किया करते थे जिससे वे पाण्डित्य बढ़ाने में, शास्त्राभ्यास करने में और दत्तचित् हों ,परन्तु पण्डित समाज में अपनी निन्दा , जिस पर पिता के द्वारा की गई, सुनकर भारवि मन ही मन जल भुन गए और पिता को मार डालने का निश्चय किया। एक रात मारने के लिए तलवार लेकर गए भी, परन्तु जब माता के सामने पिता के निन्दा के कारण को छिपकर सुना , तब बेचारे बड़े मर्माहत हुए , पिता के सामने गये और सरल हृदय की सच्ची बातें कह सुनाई। पितृघातरुपी घोर मानस के लिए पिता से प्रायश्चित भी पूछा ,पिता ने ससुराल में जाकर सेवावृत्ति स्वीकार करने को कहा। बेचारे ससुराल में और अपने ससुर की गायें नित चराया करते थे। इनकी धर्मपत्नी भी वहीं थी। कार्यवश पत्नी ने इनसे पैसे माँगे , परन्तु उस समय भारवि के पास पैसे कहाँ ? झट से इन्होंने अपना वह प्रसिद्ध पद्य पत्नी को किसी गुणग्राही साहूकार के पास गिरवी रखने के लिए दिया वह नीतिमय पद्य था।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक: परमपदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणां गुणलुब्धा: स्वयमेव सम्पद: ।।

पद्य के मर्म को समझने वाले किसी महाजन ने बहुत सा द्रव्य देकर इस पद्य को खरीद लिया और अपने शयनागार के सामने तख्ती पर इसे लिखकर लटका दिया। कार्यवश वह विदेश गया, वहाँ उसे कई वर्षो तक ठहरना पड़ा। जब लौटकर रात को घर आया , तब उसने अपनी पत्नी के पास ही किसी वयस्क पुरुष को सोते हुए पाया। पत्नी के कुव्यवहार से मर्माहत हो उसने सोते समय ही दोनों को मार डालने की ठानी परन्तु घर में घुसने के समय उसका माथा सहसा विद्धीत न क्रियाम्, वाली तख्ती से टकराया। उसने श्लोक पढ़ा- सहसा करने से रुक गया , पत्नी को जगाया। तब उसके आश्चर्य की सीमा न रही , जब उसने वयस्क पुरुष को अपना वहीं प्यारा इकलौता पुत्र पाया। कल्पित अनिष्ट की आशंका से उसका अंग सिहर गया उसने भारवि को बुलवाया , बड़ा सम्मान किया और पत्नी तथा पुत्र की जीवन रक्षा वाले श्लोक के रचयिता के सामने अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। भारवि परम शैव थे। यह तथ्य किरातार्जुनीय के शैव माहात्म्य प्रतिपादक, कथानक तथा अवन्तिसुन्दरी कथा के उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है। यह भी बात ज्ञात होती है कि निरन्तर राजसाहचर्य के कारण यह राजनीति के बड़े भारी पण्डित बन गए थे। राजशेखर ने लिखा है कि कालिदास तथा भतृमेष्ठ की तरह उज्जयिनी में भारवि की भी परीक्षा ली गई थी। जिसमें उत्तीर्ण होने पर इनके यश की वृद्धि हुई थी।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा
इह कालिदासमेष्ठावत्रामररुपसूरभारवय: ।
हरिश्चन्द्रगुप्तौ परीक्षितावह विशालायाम् ।।

दीपशिखा कालिदास की भाँति भारवि की भी ' आतपत्र भारवि ' संबा थी। काव्य रसिकों ने जिस उक्ति के उपर मुग्ध होकर इन्हें इस विरुद से विभूषित किया था , वह इस प्रकार है --

उत्फुल्लस्थलनलिनी वनादमुष्माउदधृत सरसिजसम्भव: पराग: ।
वात्याभिर्वियति विवर्तित: समन्तादाधन्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ।। किरात 5/39 ।।

स्थल कमलिनी के वन के विकसित हैं। उनसे पीत पराग झर रहे हैं। हवा झोंके से बह रही है। इससे पराग उड़कर आकाश में फैला जा रहा है। इस प्रकार कमल का पराग सुवर्ण-निर्मित छत्र की शोभा धारण कर रहा है। आकाश में फैला हुआ पराग सुवर्ण के बन छत्र की तरह जान पड़ता है।

श्लोक का भाव बिल्कुल अनुपम है, एकदम नवीन है। काव्य प्रेमियों को कवि का भाव इतना पसन्द आया कि उन्होंने भारवि को ' आतपत्र भारवि ' ही कहना प्रारम्भ कर दिया।

भारवि का काव्य सौष्ठव—

महाकवि भारवि अलंकृत काव्य शैली के जन्मदाता हैं। इन्होंने संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीयम् ' महाकाव्य ने अपने प्रशस्त गुणों के कारण साहित्य में अपना विशिष्ट पद प्राप्त किया है। संस्कृत के महाकाव्यों की ' बृहत्त्रयी ' (किरात , शिशुपाल वध और नैषध) में इसका प्रमुख स्थान है। समस्त संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय जैसा ओज प्रधान उग्रकाव्य नहीं मिलता है। उसमें कुल 18 सर्ग हैं। वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण से इसका प्रारम्भ होता है। इसका कथानक महाभारत की एक प्रसिद्ध घटना के आधार पर निबद्ध हुआ है और यह चतुवर्ग की प्राप्ति में सहायक है। किरात का नायक अर्जुन धीरोदात्त है। बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के लक्षण के अनुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त,जलक्रीड़ा आदि का वर्णन करके काव्य अतिशय विस्तार कर दिया है। पूरा चौथा सर्ग शरद ऋतु, पंचम हिमालय पर्वत, षष्ठ युवति प्रस्थान, अष्टम सुरांगना विहार तथा नवम सुरसुन्दरी सम्भोग के वर्णन में रचित है। किरात का प्रधान रस वीर है। इसकी अभिव्यक्ति में कवि को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इसमें श्रृंगार तथा अन्य रस गौण रुप में वर्णित हैं। भाषा सर्वत्र अलंकृत है, इसी प्रकार भावों की अभिव्यंजना भी है। छन्द गेय और सुन्दर है। सर्गों में विविध घटनाओं का संयोजन है। किरातार्जुनीयम का प्रारम्भ ' श्री ' शब्द से हुआ है। इसी प्रकार प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में ' लक्ष्मी ' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः यह महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। किरातार्जुनीयम् पद का विग्रह इस प्रकार किया जा सकता है -- किरातश्च अर्जुनश्च किरातार्जुनौ तौ अधिकृत्य कृतं काव्यम् किरातार्जुनीयम् अधिकृत्य कृते ग्रन्थे सूत्र से यहाँ ' छ ' प्रत्यय हुआ है तथा ' छ ' को आयनेय0 अत्यादि सूत्र से ईय हो गया है।

अपनी रचना से एक सर्वथा नवीन एवं काव्य शैली को जन्म दिया, जिसे अलंकृत काव्य शैली कहा जाता है। इनके बाद होने वाले माघ आदि कवियों ने इनकी काव्य शैली का अनुकरण किया है। किरातार्जुनीय महाकाव्य पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से निम्नलिखित तत्त्वों के आधार पर विचार किया जा सकता है --

(1) महाकाव्य का नायक - इस महाकाव्य का नायक निःसन्देह अर्जुन ही है, क्योंकि इस ग्रन्थ का नाम किरातार्जुनीयम् है। जिसका विग्रह इस प्रकार है – किराताश्च अर्जुनश्च किरातार्जुनौ तौ अधिकृत्य कृतम् काव्यम् किरातार्जुनीयम्। इस ग्रन्थ के नामकरण से ज्ञात होता है के किराता और अर्जुन इस महाकाव्य के प्रमुख पात्र हैं , लेकिन काव्य प्रयोजन पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि दिव्यास्त्र प्राप्ति रुपी फल अर्जुन को ही प्राप्त होता है। अतः अन्तिम फल प्राप्ति अर्जुन को होने से अर्जुन ही इसका मुख्य नायक है। किरातार्जुनीयम् ग्रन्थ के टीकाकार श्री चित्रभानु इस महाकाव्य का नायक युधिष्ठिर को मानते हैं और अपना मत पुष्ट करने हेतु तर्क देते हैं कि युधिष्ठिर ही प्रथम सर्ग में उपस्थित रहते हैं। मध्य मे भी कवि ने अर्जुन द्वारा युधिष्ठिर की ही प्रतिष्ठा कराई है और अन्त में भी अर्जुन दिव्यास्त्र की प्राप्ति कर उन्हीं के चरणों में नतमस्तक होते हैं। विजय भी युधिष्ठिर को ही प्राप्त होती है। अर्जुन की दिव्यास्त्र प्राप्ति युधिष्ठिर की फलप्राप्ति रुप विजय का साधन है। अतः काव्य का नायक युधिष्ठिर को ही मानना चाहिए। लेकिन इसका मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। महाकाव्यकार भारवि का मन्तव्य भी यही सूचित करता है कि काव्य का नायक अर्जुन ही है , क्योंकि टीकाकार मल्लिनाथ जी ने स्पष्ट कहा है कि इस काव्य का नायक मध्यम पाण्डव अर्थात् अर्जुन ही है। उसी के उत्कर्ष का इसमें वर्णन है और दिव्यास्त्र प्राप्तिरुप फल भी अर्जुन को प्राप्त होता है। निष्कर्षतः अर्जुन ही इस महाकाव्य का नायक है।–

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज
स्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।

श्रृंगारादिरसोऽयमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ।।

भारवि की भाषा- शैली एवं अन्य विशेषताएँ——

महाकवि भारवि संस्कृत साहित्य के देदीप्यमान रत्नों में से एक हैं । उसका महाकाव्य वृहत्त्रयी का प्रथम रत्न है। भारवि की भाषा उदात्त तथा हृदय को शीघ्र प्रभावित करने वाली है । वह कोमल भावों को प्रकट करने में उतनी ही समर्थ है, जितनी उग्र भावों के प्रकाशन में । भाषा तथा शैली के विषय में भारवि ने अपने आदर्श का संकेत इस प्रख्यात पद्य में किया है (किरात 14/3)

विवित्तवर्णाभरणा सुखश्रुति प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदां सरस्वती ।।

पुण्यशाली व्यक्तियों की प्रसन्न तथा गम्भीर पदों से युक्त होती है । उसके सुन्दर अक्षर पृथक् रुप रखते हैं तथा कानों को प्रसन्न करते हैं वह शत्रुओं के भी हृदयों को प्रसन्न करती है । प्रसन्न का लक्ष्य शाब्दी सुष्ठुता से है तथा गम्भीर का तात्पर्य अर्थ की गम्भीरता से है । भारवि की शैली का सही मर्म है । वह प्रसन्न होते हुए भी गंभीर है । मित्र आलोचकों को प्रसन्न करने के साथ ही दुष्ट आलोचकों को भी आवर्जित करती है । फलतः प्रसन्नगम्भीर पदा सरस्वती भारवि की भाषा तथा शैली का द्योतक सहनीय मंत्र है । भारवि की भाषा में प्रौढ़ता ओज प्रवाह शक्तिमत्ता है। उसका शब्द संचय भावानुकूल है । भावानुसार कहीं प्रसाद हैं, कहीं माधुर्य और कहीं ओज । भाषा में शैथिल्य का नितान्त अभाव है । मनोभाव, उदात्त, कल्पनाओं और गम्भीर विचारों का एक रत्नाकर ही है । अर्थ गाम्भीर्य और अर्थ गौरव की जितनी प्रशंसा की जाए, वह थोड़ी ही है । पद-पद पर अर्थ गौरव उसके वैदुष्य और गम्भीर चिन्तन का परिचायक है । भारवि ने प्रायः सभी रसों का अत्यन्त कुशलता के साथ प्रयोग किया है । श्रृंगार और वीर रस उसके अतिप्रिय रस हैं । इनके भेद और उपभेदों तक का लालित्यपुर्ण भाषा में प्रयोग किया है । उसका अलंकारों का प्रयोग दर्शनीय है ।

15 वें सर्ग में चित्रालंकारों की बहुरंगी छटा इन्द्रधनुष को भी निष्प्रभ कर देती है । कहीं एक ही अक्षर वाले श्लोक हैं तो कहीं दो अक्षर वाले , कहीं पादादियमक हैं तो कहीं पादान्तादियमक कहीं,गोमूत्रिका-बन्ध है तो कहीं सर्वतोभद्र, कहीं एक ही श्लोक सीधा और उल्टा एक ही होता है तो कहीं पूर्वार्ध और उत्तरार्द्ध एक ही हैं। कहीं दो पद समान हैं तो कहीं चारों पद एक ही हैं । कहीं आद्यन्त यमक है तो कहीं श्रृंखला यमक। कहीं निरोष्ठयवर्ण श्लोक हैं तो कहीं अर्धभ्रमक, कहीं द्वयर्थक और त्र्यर्थक श्लोक हैं तो कहीं चार अर्थ वाले भी श्लोक हैं । वस्तुतः भारवि संस्कृत काव्यों में रीति शैली के जन्मदाता हैं। उसके ग्रन्थ के आरम्भ में " श्री " शब्द तथा सर्गान्त श्लोकों में " लक्ष्मी"शब्द का प्रयोग उसकी प्रमुख विशेषता है। माघ ने शिशुपालवध में इसी शैली का अनुकरण किया है। भारवि का प्रकृति चित्रण अन्तःप्रकृति और बाह्य प्रकृति का चित्रण अत्यन्त मनोरम और प्रशंसनीय है। उन्होनें विविध छन्दों का प्रयोग करके अपनी छन्दोयोजना संबंधी दक्षता प्रदर्शित की है। इसलिए मल्लिनाथ ने इनके काव्य सौन्दर्य को " नारिकेलफलसंमितम " माना है। जो बाहर कठोर, किन्तु अन्दर अत्यन्त मधुर है। वेद उपनिषद् दर्शन पुराण, नीति, राजनीति, ज्योतिष, भूगोल, कृषि और कामशास्त्र आदि से संबद्व वर्णन उसके अगाध पाण्डित्य के सूचक हैं । भारवेऽर्थगौरवम्, भारवेरिव भारवेः, प्रकृतिमधुराभारविगिरिः, आदि सूक्तियाँ वस्तुतः भारवि की गरिमा को प्रकट करती हैं । भारवि ने अर्थगौरव कल्पना और सूक्ष्म विचारों कर मधुर सम्मिश्रण किया है । उसके अपना मन्तव्य निम्नलिखित श्लोक में प्रस्तुत किया है -

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ।। (2/26)

पदों में स्पष्टता, अर्थगौरव युक्तता, अनुरुक्तदोष और साकांक्षता गुण का होना अनिवार्य है। भाषा के वैभव का अत्यन्त सुचारु रुप में वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि प्रसाद, माधुर्य और अर्थ गौरव से युक्त वाग्देवी पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होती है। वाग्मिता की प्रशंसा में कवि का कथन है कि " अपने मनोगत विचारों को सुन्दर भाषा मे अभिव्यक्त करने वाले व्यक्ति ही सभ्यतम होते हैं, उनमें भी विशेष दक्ष व्यक्ति ही गंभीर भावों को सरल रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ होते हैं। भारवि की उक्तियाँ स्वाभाविकता , व्यंग तथा पाण्डित्य से भरी पड़ी है। द्रौपदी की उक्ति में युधिष्ठिर को तीखे व्यंग्य सुनाने की क्षमता है तो भीम की युक्ति वीरता के घमण्ड से तेज और तर्रार युधिष्ठिर की कायरता पर संकेत करती द्रौपदी कहती है कि (युधिष्ठिर के सिवाय) ऐसा राजा कौन होगा जो अपनी सुन्दर पत्नी के समान गुणानुरक्त (सन्धि आदि गुणों से युक्त) कुलीन राज्यलक्ष्मी को स्वयं अनुकूल साधन से युक्त तथा कुलाभिमानी होते हुए भी दूसरों के हाथों छिनती हुई देखे। यथा -

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामत्मधूकमिव श्रियम्।। (1 /31)

भारवि ने काव्य के माध्यम से नैतिक गुणों का प्रकाशन आवश्यक माना है इसका पालन अपने काव्य में इन्होंने जम कर किया है। इस विषय में उनकी प्रौढ़ि इतनी प्रबल है कि विद्वद्वर्ग उनकी इन सुक्तियों को अपनी जिव्हा पर रखकर वाणी को विभूषित करने में गौरव का अनुभव करते है। उदाहरणार्थ प्रथम सर्ग की नीति विषयक सूक्तियाँ है।

(1) हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।
(2) वरं विरोधोऽपि समं महात्मभि:।
(3) न वंचनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
(4) सुदुर्लाभाः सर्व मनोहरां गिरः।
(5) स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपम्।
(6) हितान्न यः संश्रृणुते सः किं प्रभुः।
(7) सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं, नृपेश्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।
(8) गुणानुरोधेन बिना न सत्क्रिया
(9) अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता।
(10) ब्रजान्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
(11) अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना, न जातहार्देन न विद्विषादरः।
(12) विचित्र रुपाः खलु चित्तवृत्तयः।
(13) परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्।
(14) व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेंन सिद्धिं मुनयो न भुभृतः।

बोध प्रश्न-4

अभ्यास प्रश्न-4

अति लघु-उत्तरीय प्रश्न–

1. कालिदास और अश्वघोष के बाद तृतीय उल्लेखनीय कवि कौन है।
2. भारवि दक्षिण भारत के किस नरेश के सभा पण्डित थे।
3. भारवि के माता-पिता का क्या नाम था।
4. किरातार्जुनीयम् काव्य को कितने सर्ग में सृजन किया गया है।
5. द्यूत क्रिड़ा में हारने के पश्चात् युधिष्ठिर अपने अनुजों के साथ निवास करने के लिए कहाँ रहने लगे थे।
6. भगवान व्यास का आगमन किस सर्ग में होता है।

7. शिव से आशीर्वाद स्वरूप में अर्जुन को क्या प्राप्त हुआ।
8. किरातार्जुनीयम् के नायक कौन है।
9. भारवि ने किस वर्ण से लेकर किस वर्ण के छन्दोंपर पूर्णधिकार प्राप्त किया था।
10. किरातार्जुनीयम् के नायिका कौन है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

(1) भारवि की पत्नी
(क) रसकवती (ख) सुशीला
(ग) अवन्ति (घ) द्रौपदी
(2) पितृघातरूपी घोर मानस पातक के लिए भारवि ने प्रायश्चित किया
(क) पिता के सेवा से (ख) ससुर की गाय चरा के
(ग) ससुर के सेवा से (घ) माँ की सेवा से
(3) दीपशिखा कालिदास की भाँति भारवि की भी संज्ञा थी
(क) अमरकीर्ति (ख) स्थलकमलिनी
(ग) आपपत्र (घ) काव्यप्रेमी
(4) भारवि के ससुर थे।
(क) भोज (ख) विष्णुवर्धन
(ग) श्रीधर (घ) चन्द्रकीर्ति
(5) प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में शब्द का प्रयोग किया है
(क) सरस्वती (ख) पार्वती
(ग) लक्ष्मी (घ) राधारानी
(6) सर्ग में चित्रालंकारों की बहुरंगी छटा इन्द्रधनुष की कीर्ति को भी निष्प्रभ कर देती है।
(क) 15 (ख) 10
(घ) 13 (घ) 8
(7) जल क्रीड़ा के वर्णन में सुन्दर चित्रण हुआ है
(क) संभोग श्रृंगार (ख) श्रृंगार रस
(घ) वीर रस (घ) काव्य रस
(8) सौत्सह व्यक्ति के पास लक्ष्मी स्वयं आती है, उक्त वचन किसने कहाँ
(क) भारवि (ख) अर्जुन
(ग) कालिदास (घ) द्रौपदी

3.3.4 महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महाकवि श्रीहर्ष का परिचय—

संस्कृत साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र महाकवि श्रीहर्ष का सम्बन्ध विद्वानों ने कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र के साथ माना है। गहड़वाल नृपतियों की राजधानी कन्नौज थी, किन्तु काशी विजय के बाद उन्होंने काशी को ही अपनी राजधानी बनाया प्राचीन लेखमाला के अनुसार जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र श्रीहर्ष के आश्रयदाता थे। विजयचन्द्र की यश प्रशस्ति श्रीहर्ष ने अपनी विजय प्रशस्ति नामक रचना में की है। लेखमाला के 22 वें लेख के अनुसार जयचन्द्र का यौवराज्य दान पत्रनुसार संवत् 1225 अर्थात् 1169 ई0 सिद्ध होता है।

श्रीहर्ष के काल सम्बन्धी मत-मतान्तर का खण्डन करते हुए श्री बूलर महोदय ने भी इस मत का समर्थन किया है कि श्रीहर्ष जयचन्द्र के ही समकालीन थे।

रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई ब्रान्च की विद्वत्सभा द्वारा प्रकाशित 1875 के प्रबोध ग्रन्थ से भी इसी मत की पुष्टि होती है कि श्रीहर्ष जयचन्द्र के समकालीन थे। श्रीहर्ष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य में व्यक्ति विवेककार महिम भट्ट का नामोल्लेख किया है—

दोषं व्यक्ति विवेकेऽमुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्त महिमा महिमाऽऽदृत।।

महिमभट्ट अभिनवगुप्त के परवर्ती कवि जान पड़ते हैं क्योंकि महिमभट्ट ने व्यक्ति विवेक में अभिनव गुप्त का नामोलेख किया है—

अत्र केचित्तु विद्वन्मानिः----मान्यमाना 'व्यड्न्त् इति
द्विवचनेनेदमाहुः यद्यम्यविवक्षितवाच्ये शब्द एवं व्यजकः
तथाप्यर्थस्य सहकारिता नत्रुटयति। यदाहुस्तद्भ्रान्तिमूलम।।

इसलिए महिम भट्ट का काल 1020 ई0 से परवर्ती ही सिद्ध होता है। व्यक्ति विवेक के टीकाकार ख्यातिलब्ध अलंकारशास्त्री रुय्यक का समय 1110-1150 ई0 तक माना जाता है।

अत एव महिमभट्ट का काल 1100 ई0 तक माना जा सकता है, इस प्रकार व्यक्तिविवेक को उद्धृत करने वाले श्रीहर्ष महिमभट्ट (1100) ई0 के परवर्ती ही होंगे।

श्रीहर्ष के व्यक्तित्व में कवि, दार्शनिक, योगी, ज्योतिषी आदि न जाने कितने रूपों का सामंजस्य था। उनकी रचनाएँ इस कथन को सार्थक करती हैं। श्रीहर्ष ने अनेक रचनाएँ की, जिनका उल्लेख अपनी प्रसिद्ध रचना नैषधीयचरितम् के सर्गान्त पद्यों में किया है।

नैषधमहाकाव्य का प्रथम नामोल्लेख अपनी कृतियों में करने वालों में महेन्द्रसूरि हैं। हेमचन्द्र के अनेकार्थसंग्रह की टीका में नैषध महाकाव्य के अनेक पद्य उदाहरण के रूप में दिये हैं। महेन्द्रसूरि जो हेमचन्द्र के शिष्य एवं उनके अनेकार्थसंग्रह के टीकाकार हैं। उनका समय हेमचन्द्र के समय 1088 ई0 से 1172 ई0 के मध्य निश्चित है। उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर श्रीहर्ष का समय बारहवीं शताब्दी का मध्य एवं उत्तरार्द्ध भाग मानना समीचीन होगा।

महाकवि श्रीहर्ष का जन्मस्थान एवं वंश परिचय—

संस्कृत साहित्य के उद्भट् विद्वान् महाकवि श्रीहर्ष का जीवनवृत्त संस्कृत के अन्य कवियों के समान अनुमान का विषय मात्र नहीं है। महाकवि श्रीहर्ष ने अपनी रचनाओं में अपने जीवनवृत्त का स्पष्ट उल्लेख किया है। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने माता-पिता के सम्बन्ध में अपनी प्रसिद्ध रचना नैषधीयचरितम् में सर्गान्त के प्रत्येक पद्य में स्पष्ट निर्देश किया है, जैसे कि इस श्लोक से प्रमाणित होता है-

श्रीहर्ष कविराज राजिमुकुटालंकारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी चयम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्र चिन्तनफले श्रृंगारभंगया
महाकाव्ये चारूणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः।।

श्रीहीर और मामल्लदेवी नाम दम्पत्ति को इनके माता-पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाकवि श्रीहर्ष के पिता विद्वान् एवं दार्शनिक थे। वे काशी के गहड़वालवंशीय राजा विजयचन्द्र के प्रमुख राज्याश्रित थे। एक किंवदन्ती के अनुसार श्रीहीर काशी के राजा विजयचन्द्र के प्रधान पण्डित थे। इन्हें राजा के ही सम्मुख मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक श्री उदयनाचार्य ने शास्त्रा र्थ में पराजित किया था। इसकी पुष्टि चाण्डूपण्डित की टीका के प्रारम्भ की पंक्तियों से भी होती है-

प्रथमं तावत्कविर्विजिगीषु----------।

श्री उदयन से पराजित पिता ने राजदरबार में पुत्र से कहा यदि तुम सुपुत्र हो तो मेरे विजेता को पराजित कर मेरे इस महान मनस्ताप को दूर करोगे। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर श्रीहर्ष शास्त्रों के अगाध सागर का मन्थन करने लगे। उन्होंने तर्क, न्याय, व्याकरण, वेदान्त, योग, आदि शास्त्रों का ही अध्ययन नहीं किया अपितु एक वर्ष तक एकाग्रचित्त से चिन्तामणि मन्त्र जप से प्रसन्न त्रिपुरा देवी के वरदान से असाधारण प्रतिभा एवं विलक्षण पाण्डित्य भी प्राप्त किया। परन्तु इस प्रखर पाण्डित्य से उनकी वाणी बड़े-बड़े पण्डितों की बुद्धि भी सीमा से भी परे हो गई। फलतः उन्होंने पुनः आराधना कर त्रिपुरादेवी का साक्षात्कार किया और अपनी इस कठिनाई का उपाय पूछा। देवी ने इन्हें अर्द्धरात्रि व्यतीत होने पर आर्द्रवस्त्र से मस्तक को आच्छादित कर दधि पीने की आज्ञा दी क्योंकि कफ बाहुल्य से बुद्धि स्वयं मन्द हो जाएगी। फलतः विद्वान् तुम्हारी वाणी को समझने में समर्थ होंगे। चिन्तामणि मन्त्र का संकेत कवि ने अपने काव्य में स्वयं किया है-

आवाम वामार्द्धे सकलमुभयाकार घटनाद्
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिदेयं भवतियत्।।
तदन्तर्मत्र मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्भज्जप नरपते! सिध्यतु सते।।14/85

चिन्तामणि मन्त्र के महत्व का ही प्रतिपादन कवि ने नहीं किया अपितु नैषध को उसी मन्त्र चिन्तन का परिणाम भी बताया है-

तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तफले श्रृंगारभंगया महा-
काव्ये चारूणिः नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः।।1/145

उन्होंने अपने पिता को पराजित करने वाले उदयनाचार्य को भी ललकारा-

साहित्ये सुकुमारवस्तूनि दृढन्यास ग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समंलीलायते भारती।
शया वाडस्तु मदूत्तरच्छदवती दर्माट रैरास्तृता।
भूमिर्वाहृदयग्मो यदि पतिस्तुल्या रतिर्यो षिताम्।।

विद्वान् उदयनाचार्य ने श्रीहर्ष के इस अद्भुत पाण्डित्य एवं विलक्षण प्रतिभा को देखकर अपनी पराजय स्वीकार कर श्रीहर्ष की प्रशंसा की-

हिंसाः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धता-
स्तस्यै कस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कौल कुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नामलैः
संहर्षो महिषैश्चयस्य मुमचे साहड् कृतेहुंकते।।

इसी राजा के आश्रय में श्रीहर्ष ने अपने अन्यतम काव्य नैषध की रचना की और उसके परीक्षण के लिए तात्कालिक प्रसिद्ध शारदापीठ गये। वहाँ से उसका परीक्षण करा एवं कश्मीर नरेश माधवदेव की मुद्रा में मुद्रित सफलता का प्रमाण पत्र लेकर लौटे।

महाकवि श्रीहर्ष किस प्रदेश के थे इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है- स्वर्गीय प्रो- नीलकमल भट्टाचार्य बंगाल को इनकी जन्मस्थली सिद्ध करते हैं। तथा आचार्य मिट्ठूलालशास्त्री कान्यकुब्ज मानते हैं। कुछ विद्वान् श्रीहर्ष की माता मामल्लदेवी के नाम के आधार पर इनको दक्षिण भारत का सिद्ध करते हैं। विद्यापति ने पुरुष परीक्षा में श्रीहर्ष को गौड़देशवासी बताया है। श्रीहर्ष गौड़ेश्वर से प्राप्त सम्मान को विशेष महत्व देते हैं-

ताम्बूलद्वयमासनं चलभते यः कान्य कुब्जेश्वराद्
यः साक्षात् कुरूते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।

यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्ष कवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्।।

अतः श्रीहर्ष कान्यकुब्ज (कन्नौयज) के थे। उनका निवास स्थान कान्यकुब्ज या काशी रहा होगा। श्रीहर्ष अत्यन्त ही भावुक एवं उदात्त वृत्ति के कवि रत्न थे। 'हंस' के करुण-विलाप में उनका करुण हृदय प्रतिबिम्बित हुआ है। उनका सिद्धान्त है कि उपकारी का प्रत्युपकार शीघ्र ही करना चाहिए। कृतज्ञता मानव को पवित्र बनाती है। वे अत्यन्त धार्मिक एवं सदाचारी हैं। उनका अभिमत है कि मनुष्य को विपत्ति में पड़कर भी धर्म से विचलित नहीं होना चाहिये। उनके महाकाव्य में वेद शास्त्रादि के अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, संगीतशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, नाट्यशास्त्र, राजनीति कला, शिल्प, विज्ञान, शकुन, देव पूजा, सुपात्र, तुरगलक्षण, वर्णाश्रम, चित्रकला आदि के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग मिलते हैं, जिससे उनके बहुज्ञ होने का परिचय मिलता है। महाकवि श्रीहर्ष भगवती वागीश्वरी और अपनी माता के अनन्य भक्त थे।

महाकवि श्रीहर्ष ने ज्ञान मार्ग द्वारा परब्रह्म को प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयास किया है, इसमें वे सफल भी हुए हैं। अतएव उनका व्यक्तित्व अलौकिक है, जिसका अनुसरण व्यक्तित्व को उत्कृष्ट कोटि का बना सकता है।

महाकवि श्रीहर्ष की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय:-

महाकवि श्रीहर्ष ने अनेक ग्रंथों की रचना की इन ग्रन्थों का नाम महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य फ्नैषधीयचरितम्य् में उल्लेखित किया है।

1- स्थैर्यविचारण प्रकरण:- यह रचना दार्शनिक विषय पर लिखी हुई जान पड़ती है। इसमें बौद्धों के क्षणिक वाद का निराकरण किया गया होगा। सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्य है-

तुर्यःस्थैर्यविचारण प्रकरण भ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यभगलन्नहलस्य् चरिते सर्गो निसर्गौज्ज्वीजः।। नै04/123।।

2- विजयप्रशस्तिः- इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की, जो उस समय योद्धा तथा विजयी वीर होने के अतिरिक्त कवि के आश्रयदाता भी थे, प्रशंसा में यह प्रशस्ति ग्रंथ प्रणीत किया गया है। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है-

तस्य श्री विजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्येमहाकाव्ये
काव्ये चारूणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पाञ्चमः।। नै05/138।।

3- खण्डनखण्डखाद्यः- श्रीहर्ष का यह प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्त शास्त्र का अनुपम रत्न है। इसमें न्यायिक तर्क प्रणाली का अनुकरण कर लेखक ने न्याय सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत सिद्धान्तों का मण्डन किया है-

षष्ठः खण्डनखण्डतयोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महाकाव्ये--------(नै06/113)

4- गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिः- विजय प्रशस्ति की तरह यह भी प्रशस्ति है, जिसको महाकवि ने (बंगाल) गौड़भूमि के किसी राजा की प्रशंसा में बनाया था—

गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति भ्रातर्ययं तन्महाकाव्ये (नै07/110)

5- अर्णवर्णनः- इस रचना में समुद्र के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है-

संदृब्धार्णवर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महाकाव्ये (नै04/160)

6- छिन्दप्रशस्तिः-'छिन्द' नामक राजा के संदर्भ में प्रणीत काव्य कृत्ति जान पड़ती है। छिन्द किसी देश का राजा था। उसका निवास स्थान कहाँ था, यह बिल्कुल अज्ञात है—

यातः सप्तशः स्वसु सुसदृशि छिन्दप्रशस्तेर्महाकाव्ये (नै017/222)

7- शिवशक्तिसिद्धिः- यह ग्रंथ शिव एवं शक्ति की साधना के विषय में लिखा गया तथा तन्त्रशास्त्र विषयक प्रतीत होता है। नैषधीयचरितम् महाकाव्यय् के 16/18 से तथा खण्डनखण्डखाद्य के मंगलाचरण से कवि की

भगवान शिव के अर्धनारीश्वर रूप के प्रति सहज अनुरक्ति स्पष्ट है। कहीं-कहीं इसका दूसरा नाम शिवभक्तसिद्धि भी है—

यातोऽस्तिमिञ्शवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये महाकाव्ये--- (नै018/154)

8- नवसाहसांकचरितचम्पू:- सम्भवतः राजाभोज के पिता 'नवसाहसाङ्क' उपाधि वाले सिन्धुराज का रचित होगा। पद्मगुप्त ने भी नवसाहसाङ्क चरित महाकाव्य में सिन्धुराज के चरित का वर्णन किया है। श्रीहर्ष ने इसे चम्पूकाव्य बताया है—

नवसाहसांकचरिते चम्पूकृतोऽयं महाकाव्ये--------(नै022/149)

9- नैषधीयचरितम्:- नैषधीयचरितम् महाकाव्य संस्कृत साहित्य के बृहत्त्रयी संज्ञक महाकाव्यों में सर्वोत्कृष्ट रत्न है। यह महाकवि श्रीहर्ष की विद्वता तथा पाण्डित्य को प्रदर्शित करने वाला आकार ग्रन्थ है। श्रीहर्ष महादार्शनिक, वैयाकरण, ज्योतिष आदि सिद्धान्त पारङ्गत दार्शनिक थे। इनके वैदुष्य के अनेक रूप नैषध महाकाव्य में देखने को मिलते हैं। इन्होंने भारवि की अलंकार प्रधान एवं अर्थ गाम्भीर्य युक्त शैली को अपने काव्य में पराकाष्ठा प्रदान की है। इनके काव्य में कालिदास के सुन्दर उपमा प्रयोग, भारवि के अर्थगाम्भीर्य तथा दण्डी के पद लालित्य का सुष्ठु समन्वय एकत्र दिखाई पड़ता है—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः
उदिते नैषधे भानौ क्व माघः? क्व भारविः?।।

नैषधीयचरितम् महाकाव्य पुराणों एवं महाभारत में वर्णित प्रसिद्ध नल-दमयन्ती के प्रणय आख्यान को लेकर लिखा गया है। इसकी मुख्य कथावस्तु महाभारत के वनपर्व में वर्णित नलोपाख्यान से ली गयी है। इस महाकाव्य में निषध देश के अधिपति राजा 'नल' के चरित्र का उत्तम रीति से वर्णन किया गया है, जो यशस्वी, पराक्रमी विविध शास्त्र ज्ञाता एवं सदाचारी थे।

इस महाकाव्य में राजा नल-दमयन्ती की प्रणय कथा तथा विवाहादि का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। अतः इस महाकाव्य का अंगीरस श्रृंगार है एवं करुण, हास्य आदि रसों की अंग रूप में योजना की गयी है। पुरुषार्थ चतुष्टय में इस महाकाव्य का मुख्य फल काम-पुरुषार्थ है। इस महाकाव्य में 22 सर्ग, 2828 श्लोक हैं। विविध अलंकारों एवं अतिशयोक्ति के द्वारा कवि ने राजा नल-दमयन्ती की प्रणय-कथा के अतिरिक्त प्रकृति के विविध रूपों का सुन्दर वर्णन किया है। इस महाकाव्य का प्रारम्भ करते हुए कवि ने वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण का प्रयोग किया है। साथ ही राजा नल की कथा को अमृत से भी श्रेयस्कर एवं कलियुग में पापों के विनाश करने वाली रूप में वर्णित किया है।

महाकवि श्रीहर्ष की भाषा शैली—

संस्कृत काव्य के अपकर्ष-काल में आलोचकों की दृष्टि श्रीहर्ष के महनीय काव्य की ओर आकृष्ट हुई है, क्योंकि अन्धकार युग को आलोक प्रदान करने वाला यही गौरवमय प्रशंसनीय काव्य है। श्रीहर्ष अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा अपने काव्य की मधुरता से स्वतः परिचित थे और इनका उन्हें गर्व भी था। अपने काव्य के लिए नवार्थ घटना के अपरित्याग की अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह भी किया। तथ्य यह है कि नैषधीयचरितम् में वैदग्ध्य तथा पाण्डित्य का परम मञ्जुल योग काव्य की उदात्तता का पूर्ण परिचायक है। श्रीहर्ष विशुद्ध-विदग्ध पदावली के आदरणीय आचार्य हैं। और कल्पना की भव्यता के कारण वर्णन की नवीनता सर्वत्र चमत्कारिणी है। चन्द्रमा के कलट को कवि की भावनामयी दृष्टि नाना रूपों में अटित करती है।

नैषधीचयरितम् महाकाव्य श्रृंगार रस प्रधान है। अतः इनमें सौन्दर्य की पराकाष्ठा देखने को मिलती है और इस पराकाष्ठा को तिङ्गकृत्, तद्धित, उपसर्ग, निपात, सुप् आदि प्रत्ययों के विशिष्ट प्रयोग और अद्भुत बना देते हैं। यथा कवि ने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग की सुखद परिणति करते हुये सर्ग के अन्त में आनन्द पद का प्रयोग किया है। आनन्द पद आङ् उपसर्ग पूर्वक टुनदि समृद्धौ, समृद्धिप्रजापश्चादि धातु से घञ् प्रत्यय का संयोग

होकर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है प्रसन्नता, हर्ष, सुख, ईश्वर, परमात्मा, शिव इत्यादि। इसका तात्पर्य है कि नैषधीयचरितम् परमात्मा प्राप्ति के सुख के समान आनन्दाधायक और कल्याणकारी महाकाव्य है। स्वयं महाकवि इस बात को प्रथम श्लोक से परिपुष्ट कर देते हैं-

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामापि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशीरासीन्महसां महोज्ज्वलः ।।

ऐसी स्थिति में अमृत की अपेक्षा नल कथा की अतिशय दुर्लभता और उत्कृष्टता का द्योतन होता है। यही कारण है कि अमृतभोजी देवताओं के हृदय में भी अब अमृत के प्रति आदर नहीं रहा। अतः वे अमृत का तिरस्कार करके नल कथा का पान करने के लिये लोलुप रहते हैं।

श्रीहर्ष के समय पण्डितों ने कवि-मूल्यांकन की कसौटी कलापक्ष को ही निर्धारित किया था। अतः उस युग की दृष्टि से यदि हम नैषधीयचरितम् का मूल्यांकन करें तो निःसदेह यह सर्वोकृष्ट महाकाव्य कहा जा सकता है। नैषध में कलापक्ष की उत्कृष्टता के कारण ही यह भी कहा गया है-

बोध प्रश्न -5

अभ्यास प्रश्न 5

क- नैषधीयचरितम् के रचनाकार हैं ?

(क) श्री हर्ष (ख) भारवि

(ग) वाण (घ) माद्य

ख- नैषधीयचरितम् किस विधा की रचना हैं ?

(क) महाकाव्य (ख) खण्ड काव्य

(ग) नाटक (घ) गद्यकाव्य

ग- नैषधीयचरितम् में कितने सर्ग हैं ?

(क) बीस (ख) इक्कीस

(ग) बाईस (घ) तेईस

घ- आनन्दांऽक महाकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है?

(क) किरातार्जुनीयम् (ख) रघुवंशम्

(ग) शिशुपालवधम् (घ) नैषधीयचरितम्

ड्- नैषधीयचरितम् की नायिका कौन हैं ?

(क) दमयन्ती (ख) शकुन्तला

2-रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :-

(क) श्रीहर्ष का समय..... माना गया है।

(ख) नैषधीयचरितम्.....विभक्त है।

(ग) बृहत्त्रयी के अन्तर्गत ..... महाकाव्य है।

3- निम्नलिखित वाक्यों में से सही तथा गलत का चयन कीजिए :-

(क) श्रीहर्ष श्रीहीर के पुत्र थे। ( )

(ख) नल धीरोदत्त नायक की श्रेणी में उद्धत है ( )

(ग) नैषधीयचरितम् खण्ड काव्य है। ( )

(घ) श्रीहर्ष मामल्लदेवी के पुत्र थे। ( )

3.3.5 महाकवि जयदेव का व्यक्तित्वि एवं कृतित्व

महाकवि जयदेव का परिचय—

राजा लक्ष्मणसेन की सभा में आश्रित ये बंगाल के सेनवंश के अन्तिम राजकवि थे , जिनकी लेखनी ने ' गीतगोविंद 'जैसे अमर काव्य की सृष्टिकी है। महाकवि जयदेव उत्कल(बंगाल) के केन्दुबिल्व नामक स्थान के निवासी थे। इनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधा देवी था। राजा लक्ष्मणसेन का एक शिलालेख 1116 ई0 का मिलता है अत: जयदेव का समय 1100 ई0 के लगभग माना जाता है। एकनिष्ठ होकर इस महाकवि के भक्तों ने इसकी लोकातीत का संरक्षण चरितों में बड़ी तत्परता के साथ किया है। इसका जीवन आनन्दकन्द व्रजचन्द्र की दिव्य भक्ति में पगे हुए भक्त का जीवन था। इसका जीवन एक ही रस से बाहर-भीतर ओत-प्रोत था और वह था भक्तिरस। इसके ' गीतगोविंद' में 12 सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग गीतों से ही समन्वित् है। सर्गों को परस्पर मिलाने के लिए कथा के सूत्र को बतलाने के लिए कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी हैं। ' गीतगोविंद ' भगवती संस्कृत-भारतीके सौन्दर्य तथा माधुर्य की पराकाष्ठा है। महाकवि कालिदास की कविता में भी इस रसपेशलता मधुर भाव का हमें दर्शन नहीं मिलता। इस काव्य में कोमलकान्त-पदावली का सरस प्रभाव तथा मधुरता का मधुमय सन्निवेश है। आनन्दकन्द व्रजचन्द्र तथा भगवती राधिका की ललित लीलाओं का जितना सुन्दर वर्णन यहाँ मिलता है, वह अन्यत्र कहाँ देखने को मिलता है ? शब्दमाधुर्य के लिए 'ललित-लवंगलतापरिशीलन-कोमल-मलय-समीरे (गीत01/3)' वाली अष्टपदी का पाठ पर्याप्त होगा।

भावों का सौष्ठव भी उतना ही चित्ताकर्षक है। विरहिणी राधिका के वर्णन मे कवि की यह उक्ति कितनी अनूठी है। राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा झर रही है। ऐसा जान पड़ता है कि राहु के दाँतों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत की धारा बह रही हो:--

वहति च वलित-विलोचनजलभरमाननकमलमुदारम् ।
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलन-गलितामृतधारम् ।।

उपमा की कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की उड़ान में यह काव्य अनूठा तो है ही , परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है प्रेम की उदात्त भावना। राधाकृष्ण के प्रेम की निर्मलता तथा अध्यात्मिकता सुन्दर शब्दों में यहाँ अभिव्यक्त की गई है। श्रृंगार-शिरोमणि कृष्ण का मिलन जीव-ब्रह्म का मिलन है। साधनामार्ग के अनेक तथ्यों का रहस्य यहाँ सुलझाया गया है। अर्थ माधुर्य के लिए इस पद्य का अवलोकन पर्याप्त होगा --

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसंदीपकं
गतिर्जमनोरमा विजितरम्भमूरूद्वयम्।
रतिस्तव कलावती रूचिर-चित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि ! पृथ्वीगता ।।

राधा के विविध अंगों में विविध अप्सराओं का मिलान है, अत: उसका शरीर अप्सरा मय है। इस प्रकार राधा का रसमय वर्णन है -- तुम्हारे नेत्र मद से अलस-आलसी है (पक्षान्तर में ' मदालसा ' नामक अप्सरा है) , तुम्हारा मुख चन्द्रमा को दीप्त करने वाला है (पक्षान्तर ' इन्दुमती ' अप्सरा) , गति जनों के मन को रमण करने वाली है (पक्षान्तर -- ' मनोरमा ' अप्सरा) ; तुम्हारे दोनों उरूओं ने रम्भा (केला तथा ' रम्भा ' नामक विख्यात अप्सरा) को जीत लिया है। तुम्हारी रति कला से युक्त है (' कलावती ' अप्सरा)। तुम्हारी दोनों भौंहे सुन्दर है (पक्षान्तर -- ' चित्रलेखा ' अप्सरा)। हे तन्वी , पृथ्वी पर रहकर भी तुम देव-युवतियों के समूह को अपने शरीर में धारण करती हो। इस कमनीय पद्य में श्लेष के माहात्म्य से देवांगनाओं के नाम निर्दिष्ट किये गये है। मुद्रालंकार के द्वारा ' पृथ्वी छन्द का भी रूचिर संकेत सहृदयों के आनन्द का विषय है। गीतगोविन्द का व्यापक प्रभाव उत्तर भारत में ही नहीं , प्रत्युत महाराष्ट्र , गुजरात तथा कन्नड़ प्रान्त के साहित्य

पर भी पड़ा। महाप्रभु चैतन्यदेव गीतगोविन्द की माधुरी के परम उपासक थे। उनके शिष्य प्रतापरूद्रदेव (२६ शतक 1199 ई0) ने उत्कल के अनेक मन्दिरों में इसके नियमित गायन के लिए भूमिदान की व्यवस्था की थी। मराठी साहित्य में महानुभानी ग्रन्थकार भास्कर भट्ट बोरीकर (१२७५ ई. १३२० ई.) के काव्य - ग्रन्थ ' शिशु-पालवध ' में गीत-गोविन्द से अनेक भाव-सादृश्य उपलब्ध होते है , जिसे ग्रन्थकार ने जयदेव से निश्चित रूप् से ग्रहण किया है। गुजरात के राजा सारंगदेव के एक शिलालेख (संवत् ई.) का मंगलश्लोक गीतगोविंद के प्रथम सर्ग का अंतिम पद्य है।

अप्रमेय शास्त्री (ई.) ने इस ग्रन्थ पर श्रृंगार-प्रकाशिका नामक व्याख्या कन्नड़ भाषा में लिखी है। मैसूर के राजा चिवकदेवराय (ई.) ने गीत-गोविन्द के आदर्श पर ' गीतगोपाल ' नामक सुन्दर काव्य लिखा है , जो कन्नड़ देश मे गीत-गोविन्द की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

इसके सप्तांकी नाटक ' प्रसन्नराघव ' में रामकथा का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें भवभूति के नाटकों के समान हृदय के भावों का चित्रण नहीं है और राजशेखर के बालरामायण की तरह वर्णन का विस्तार ही है , परन्तु इतनी मंजुल पदावली है कि पढ़ते ही पूरा चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। प्रसादमयी कविता के कारण इसका ' प्रसन्नराघव ' नाम यथार्थ है।

प्रसन्नराघव की प्रस्तावना से केवल इतना ही पता चलता है कि जयदेव का गोत्र कौण्डिन्य था और वे सुमित्रा तथा महादेव के पुत्र थे। वे कवि तथा तार्किक दोनों एक साथ थे और इस बात पर उनका विशेष अमग है कि कोमलकाव्य के निर्माण में लीलावती भारती कर्कश तर्क से युक्त वकवचन के उद्गार में भी पूर्णतया समर्थ हो सकती है और इसीलिए कविता और तार्किकत्वं का एक स्थान मे निवास विस्मयकारी नहीं मानना चाहिए। अनुमान से कवि के देश तथा काल का परिचय लगता है। जयदेव से ये भिन्न नहीं हैं , परन्तु गीतगोविन्दकार जयदेव से ये भिन्न तथा कालक्रम से अर्वाचीन हैं। गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव भोजदेव तथा राधा (रामा) देवी के पुत्र , लक्ष्मण सेन (१२ वीं सदी) के सभा-कवि थे तथा उड़ीसा के केन्दुबिल्व के निवासी थे। विश्वनाथ (२४ वीं शती) ने प्रसन्नराघव का एक पद्य ' कदली कदली ' ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है, जिससे इसका समय उनसें पूर्ववर्ती त्रयोदश शतक में मानना उचित होगा। ' प्रसन्नराघव ' में सात अंक हैं। कवि को बालकाण्ड की कथा से इतना अधिक प्रेम है कि उन्होंने प्रथम चार अंको का विस्तार किया है। प्रथम अंक में मंजीरक और नुपूरक नामक बन्दीजनों के द्वारा सीता स्वयंवर की सूचना मिलती है , जिसमें रावण और बाणासुर अपने-अपने भुजबल की प्रचुर प्रशंसा करते है और आपस में संघर्षकर बैठते हैं। द्वितीय अंक में हम जनक की वाटिका में उपस्थित जनों को पाते हैं , जहाँ राम और लक्ष्मण फूल तोड़ने के लिए आते हैं और सीता को देखने का प्रथम अवसर प्राप्त होता है। तृतीय अंक में विश्वामित्र राम-लक्ष्मण के साथ स्वयंवर-मण्डप मे पधारते है और जनक के साथ उनका परिचय कराते है, जो राम के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो उठते है तथा धनुष चढ़ाने की प्रतिज्ञा से वे चिन्तित हो जाते हैं। इसी बीच विश्वामित्र के आदेश से राम धनुष को चढ़ाने के स्थान पर तोड़ देते हैं। विवाह आनन्द के साथ सम्पन्न होता है। चतुर्थ अंक में परशुराम का प्रसंग उपस्थित किया गया है जिसमें राम के साथ उसका वाक्-कलह होता है। प्रथमतः ताण्डचायन ने रावण को ही धनुष का तोड़ने वाला कहा था , परन्तु पीछे सच्ची बात का पता चलता है। परशुराम जी के पूछने पर राम ने सरल उत्तर दिया कि यह पुराना धनुष छूते ही स्वयं टूट गया। लक्ष्मण के साथ भी नोक-झोंक की बातें होती है। पंचम अंक मे गंगा , यमुना और सरयू के संवाद रूप मे राम का वनवास तथा दशरथ की मृत्यु आदि घटनायें अंकित है। हंस नामक पात्र सीताहरण तक की कथा सुनाता है। षष्ठ अंक में वियोगी राम का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। हनुमान लंका जाते है जहाँ जानकी शोक से जल मरने के लिए अंगार की याचना करती है। उसी समय हनुमान जी रामनाम से अंकित अँगुठी गिराते हैं। सप्तम अंक में मन्त्री माल्यवान् का परिचारक ' करालक ' आरम्भ ' में विभीषण आदि की बातें कहता है। विद्याधर तथा विद्याधरी युद्ध का वर्णन करते रावण मारा जाता है। चन्द्रमा

के उदय होने पर सुग्रीव तथा विभीषण बड़ी सुन्दर कल्पनायें सुनाते है। अंत में पुष्पक विमान पर चढ़कर राम अयोध्या लौट आते हैं।' प्रसन्नराघव ' की कथा के वर्णन से स्पष्ट है कि इस नाटक में नाटकीय तत्त्व की अपेक्षा कवित्व की ही सत्ता विशेष है। कवि में कोमल कविकला की पूर्ण अभिव्यक्ति करने की क्षमता है और वह उसे ललित अवसरों की खोज में रहता है। द्वितीय अंक का वाटिका-वृत्तान्त कवि की निजी कल्पना है बहुत ही सुन्दर कल्पना है। षष्ठ अंक में राम का विरही रूप ही करूणाजनक है , जब जंगल की प्रत्येक वस्तु से सीता का समाचार पूछते तथा विलखते हुए घूमते हैं। प्रभात तथा चन्द्रोदय का वर्णन भी प्रतिभा-संपन्न है। इस प्रकार कविता की दृष्टि से यह बहुत ही सुन्दर, गुण से युक्त तथा लालित्य से मण्डित हैं। परन्तु नाटकीय दृष्टि से इसका मूल्यांकन विशेष नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध घटनाओं का यहाँ केवल नाटकीयरूप ही दिया गया है। उसमें व्यापार की प्रसृति तथा प्रगति खोजने पर भी नहीं मिलती।

बोध प्रश्न-6

अभ्यास प्रश्न 6 -

1. महाकवि जयदेव किस राजा के महाकवि थे।
2. गीतगोविन्द का लेखक कौन है।
3. महाकवि जयदेव का निवास स्थान कहाँ था।
4. यहा कवि जयदेव का सबसे प्रिय रस क्या था।
5. राधा कृष्ण का मिलन क्या था।
6. जयदेव का गोत्र क्या था।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. गीतगोविन्द में सर्ग हैं-

(क) 4 (ख) 6

(ग) 12 (घ) 10

2. प्रसन्नराघव के लेखक है -

(क) विश्वनाथ (ख) जयदेव

(ग) भवभूति (घ) हर्ष

3. प्रसन्नराघव में वर्णन है -

(क) कृष्ण कथा का (ख) राम कथा का

(ग) विष्णु का (घ) ब्रह्म का

4. प्रसन्नराघव में अंक है-

(क) 10 (ख) 4

(ग) 5 (घ) 7

5. प्रसन्नराघव है -

(क) नाटक (ख) कथा

(ग) पद्य (घ) कविता

3.3.6 महाकवि भवभूति का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महाकवि भवभूति का परिचय—

उत्तररामचरित जैसे महत्वपूर्ण नाटक के रचियता के नाम के सम्बन्ध में इनके द्वारा लिखी गयी नाटक पुष्पिकाओं के अतिरिक्त कोई अन्य दृढ़तर प्रमाण न होने से विद्वानो में मतभेद है। भवभूति ने अपने नाटको की

प्रस्तावना में **'श्रीकण्ठपदलान्छनः भवभूतिर्नाम'** इस प्रकार अपने नाम का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि कवि का वास्तविक नाम भवभूति था और 'श्री कण्ठ' इस उपाधि से वे बाद में अलंकृत किये गये। भवभूतिर्नाम इसमें नाम शब्द प्रसिद्धिद्योतक अव्यव है, इसलिए अधिकतर टीकाकारो ने भवभूति प्रचलित नाम तथा श्रीकण्ठ पैतृक नाम माना है। जैसे-श्रीकण्ठ इति..... पैतृकं नामधेयमिदम्। भवभूतिरिति प्रसिद्धनामवान्। (वीरराघव) इन टीकाकारो ने इस विषय में अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक हेतु भी कल्पित कर लिए है, जैसे-1 साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः इत्यादि कविरचित श्लोक से प्रसन्न होकर किसी राजा ने इन्हे भवभूति इस उपाधि से सम्मानित किया गया। 2. गिरिजा की स्तुति में कवि द्वारा रचे गये गिरिजायाः कुचौ वन्दे भवभूतिसिताननौ, इस श्लोक के कारण भवभूति नाम से कवि प्रसिद्ध हो गया। वीरराघव तथा घनश्याम ने तो इस शब्द की व्युत्पत्ति की आधारशिला पर एक नयी कल्पना का भी प्रतिष्ठापन किया है-अस्मै कवये ईश्वर एव भिक्षुरूपेणागत्य भूतिं दत्तवानिति वदन्ति। एवं च भवात् भगवती भूतिर्यस्येति भवभूतिरित्यन्वर्थ इत्याहुः। (वीरराघव) भूतिः सम्पत् यस्य ईश्वरेणैव जातु द्विजरूपेण..... दत्ता तदाप्रभृति भवभूतिरिति प्रसिद्धो जातः। (घनश्याम)। अर्थात् भव (शिव) ने भिक्षुक रूप में आकर इन्हे भूति (सम्पत्ति) प्रदान की, अतः इनका नाम भवभूति पड़ गया। कुछ लोग इनके पिता 'नीलकण्ठ' के नाम के अनुकरण पर इनका वास्तविक नाम 'श्रीकण्ठ' था और 'भवभूति' उपनाम था- ऐसा भी कहते है, किन्तु यह युक्ति सर्वथा मान्य नही हो सकती, क्योंकि इनके वंश में अनुप्रासात्मक नामकरण की परिपाटी सिद्ध नही होती। इनके पितामह का नाम भट्टगोपाल था, किन्तु इससे मिलता-जुलता इनके पिता का नाम (नीलकण्ठ) नही है। उपर्युक्त अन्य युक्तियॉ भी इसलिए मान्य नही हो सकती है, क्योंकि श्रीकण्ठपदलान्छनः'-इसमें श्रीकण्ठपदमेव लान्छनं (लाछि लक्षणे धातु) लक्षणं यस्य सः' इस विग्रह से से 'श्रीकण्ठ' यह लक्षण ही प्रतीत होता है। अतएव कवि का नाम भवभूति ही है और 'श्रीकण्ठ' इनका लक्षण (विशेषण) है। हॉ, 'भवभूति' नाम इनके माता-पिता ने सम्भवतः इसलिए रखा होगा कि उन्हे भव (शंकर) की कृपा के परिणामस्वरूप ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई होगी- ऐसी सम्भावना करना किसी हद तक ठीक कहा जा सकता है।

महाकवि भवभूति का व्यक्तित्व— यद्यपि नाटककार को अपने नाटक में प्रत्यक्ष रूप से आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नही रहती है, तथापि वह किसी न किसी रूप में अपनी कृतियों में अपने गुण, स्वभाव, विचारों तथा सिद्धान्तो को बिना अभिव्यक्त किये नहीं रहता। भवभूति की कृतियों के अध्ययन से उनके भी व्यक्तित्व का आभास हमें सुगमता से हो जाता है। भवभूति उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् थे। इन्हे विद्वत्ता पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। अपनी विद्वता पर इन्हें गर्व भी था, जो भाषा पर इनके पूर्ण अधिकार को देखते हुए स्वाभाविक एवं सात्त्विक प्रतीत होता है। 'मालतीमाधव' के ये नाम केचिदिह-इत्यादि श्लोक से प्रतीत होता है कि इन्हें प्रारम्भिक जीवन में उचित सम्मान नही प्राप्त हुआ था। किन्तु 'सर्वथा व्यवहर्त्तव्यं कुतो ह्मवचनीयता। यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।' (उत्तर.) के अनुसार कर्त्तव्य-पालन में आस्था रखने वाले महाकवि 'उत्तररामचरित' की रचना के बाद यश:प्राप्ति के साथ-साथ प्रौढ़ावस्था में कन्नौज के राजा यशोवर्मा का आश्रय भी प्राप्त हो गया था। कर्मकाण्ड-प्रवीण तथा विश्रुत मीमांसक होते हुए भी भवभूति स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती थे। इनके नाटकों में विदूषक की योजना न होने से इनके गम्भीर स्वभाव का पता लगता है। बहुत संभव है कि साहित्य क्षेत्र में बहुत दिनों तक होने वाली इनकी उपेक्षा ने, अथवा बारम्बार विधुरावस्था के इनके वर्णन से प्रतीयमान असामयिक वैधुर्य भाव ने ही इन्हें गम्भीर बना दिया हो। इनकी यह गम्भीरता हास-परिहास को भी गम्भीर बनाकर ही प्रस्तुत करती है। चित्रवीथी में लक्ष्मण द्वारा चित्रों को दिखलाते समय उर्मिला को छोड़कर आगे बढ़ने पर सीता की-वत्स! 'इयमप्यपरा का' इस उक्ति से लक्ष्मण लजा जाते है। यह परिहास अत्यन्त शिष्ट और मनोरम होते हुए भी कवि की गम्भीरता के कारण स्मिति तक ही सीमित रह जाता है। प्रस्तुत नाटक के अन्त में सीता को मिलते समय लक्ष्मण प्रणाम करते हुए कहते है-अयं निर्लज्जो लक्ष्मणः

प्रणमति'। सीता आशींवाद देती है-वत्स' ईदृशस्त्वं चिरन्जीव ।' सीता की यह युक्ति मधुर उपालम्भ के साथ ही विनोद से भी पूर्ण है, किन्तु कवि की गम्भीरता के कारण ही इसमें उच्छृखंलता की गन्ध नही है। वस्तुतः निर्मल हास का प्रस्तुतीकरण भी गम्भीरता की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि भवभूति हास्य के क्षेत्र में भी अन्य कवियों से अनूठे ही दिखलायी पड़ते हैं। अन्य कवि तो हास्य को उच्छृखंल बनाने के ही उद्देश्य से विदूषक की योजना करते है। अतः उसमें निर्मलता का दर्शन असम्भव है।

महाकवि भवभूति सात्त्विक प्रेम के पक्षपाती है। इसमें भी उनके ह्दय का गाम्भीर्य ही हेतु है। अतएव उसमें वासना का ज्वार नही और बाहरी कारणो की अपेक्षा भी नही है। वह तो आन्तरिक हेतु पर निर्भर है। जो उसे गहरी आत्मीयता में निमग्न कर सात्त्विक रूप प्रदान करता है।

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरूपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।' (उत्तर.)

भवभूति ने श्रृंगार के संभोग का भी चित्र पूर्व स्मृति के रूप में खींचा है, किन्तु वहॉ भी इनकी गम्भीरता ने कामचेष्टाओं के ओछापन को नही आने दिया है। और आत्मीयता के गहरे रंग से रंजित कर मनमोहक बना दिया है।

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगाद्विरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैदोष्णो रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्। (उत्तर.)

भवभूति मानव-मन के चतुर पारखी थे। मन के अन्तर्द्वन्द्व को पकडने तथा उसे सफल अभिव्यक्ति देने में ये सिद्धह्स्त थे। यहीं कारण है कि प्रस्तुत नाटक में सीता, राम, राजर्षि जनक, कुश लव, चन्द्रकेतु, कौसल्या, वासन्ती आदि विभिन्न कोटि के मनुष्यों के मन के अन्तर्द्वन्द्व की जैसी सफल अभिव्यक्ति हुई है, विश्व के साहित्य में भी दुलर्भ है। इस बात की प्रशंसा पाश्चात्य समालोचक भी मुक्तकण्ठ से करते है। भवभूति की वेदनाव्यथित विधुरावस्था की अनुभूति की तीव्रता में उनके उल्लासमय दाम्पत्य जीवन की मधुरता ही मुख्य हेतु है। उनके आदर्श दाम्पत्य जीवन की मनोरम झॉकी उत्तररामचरित में दर्शनीय एवं स्पृह्णीय है। सत्चरित्रता, निष्ठा और मर्यादा पूर्ण जीवन जीने वाले तथा धर्म में गहरी आस्था रखने वाले भवभूति के मत में ही स्त्री भोग विलास की सामग्री नहीं, अपितु घर की लक्ष्मी तथा नेत्रों के लिए अमृतशलाका की भॉति शान्ति-प्रदायिनी है, वह जीवन सहचरी है और पवित्रता की मूर्ति है। विवाह का उद्देश्य भोग विलास नही, अपितु कर्त्तव्य-पालन, त्याग-तपस्या, प्रजातन्तु को विच्छेद से बचाना है। गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने में सन्तान का महत्व सर्वोपरि है। वह दम्पति के अन्तःकरण की आनन्दग्रन्थि ही तो है।

सर्वथा कल्याणकारी दाम्पत्य स्नेह के विषय में भवभूति की मान्यता है कि वह किसी-किसी सौभाग्यशाली को ही भाग्य से ही प्राप्त होता है। उसकी यह विशेषता है कि सुख-दुःख और सभी अवस्थाओं में एकरस रहता है। वह हृदय को अपूर्व विश्राम देता है। वृद्धावस्था में भी उसमें अनुराग की कमी नही होती। वह समय पाकर सभी प्रकार के संकोचो के समाप्त हो जाने से प्रगाढ़ एवं उत्कृष्ट प्रेम के रूप में स्थिर रहता है। डा. व्यास के शब्दों में संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अन्तःप्रकृति और बाह्यप्रकृति के कोमल और विकट, दोनों रूपों के ग्रहण करने की क्षमता रखता है। भवभूति ही वह श्रीकण्ठ है, जिन्होंने ने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विष की तिक्तता, दोनो को जीवन के उल्लासमय और वेदनाव्यथित, दोनो तरह के पहलुओं को सहर्ष अंगीकार किया है।

महाकवि भवभूति का वंश परिचय- इनके नाटको की प्रस्तावना के आधार पर ही यह भी ज्ञात है कि दक्षिण में विदर्भ (बरार) के अन्तर्गत पद्मपुर नगर में कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा वाले, काश्यप गोत्रीय

पड.क्तिपावन पंचाग्निपूजक और उदुम्बर उपाधि वाले ब्राह्मण लोग रहते थे। उन्ही की कुल में कोई वाजपेय यज्ञ करने वाले महाकवि हुए। उन्ही की वंश परा परम्परा में पॉचवी पीढ़ी में भवभूति का जन्म हुआ। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नाम नीलकण्ठ तथा माता का नाम जतुकर्णी (अथवा जातुकर्णी) था इनके गुरू का नाम ज्ञाननिधि था।

महाकवि भवभूति का निवास स्थान- टीकाकार घनश्याम ने भवभूति के द्वारा प्रयुक्त अनेक द्राविड़ प्रयोगो के आधार पर भवभूति का जन्म स्थान द्राविड़ देश में माना है। मालतीमाधव के कुछ पाठो में तथा भण्डारकरः द्वारा सम्पादित पाठ में 'दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम नगरम्-ऐसा उल्लेख है। अतः डा0 मिराशी का मत है कि विदर्भ देश के अन्तर्गत पद्मपुर नगर में भवभूति का जन्म हुआ था। एम0 जी0 लेले, जगद्धर के अनुसार पद्मपुर और पद्मावती को एक मानकर ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत नरवाड़ से उत्तर- पूर्व एक गॉव पवाया या 'पोलावाया' को भवभूति का जन्मस्थान मानते है। बहुत से आधुनिक विद्वानो का कहना है कि भवभूति ने अपनी रचनाओं में गोदावरी तथा विन्ध्याचल का हृदयग्राही वर्णन किया है, इसलिए बहुत संभव है कि इन्ही दोनों के आस-पास इनका जन्मस्थान रहा हो। इस प्रकार भवभूति का जन्मस्थान आज भी अनिर्णीत ही है।

महाकवि भवभूति का समय—

उत्तररामचरित के प्रथम अंक के सत्ताइसवें श्लोक का चतुर्थ चरण है-अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।' इसके सम्बन्ध में किंवन्दती है कि भवभूति ने पहले इसका पाठ '.....रात्रिरेव व्यरंसीत्'-ऐसा रखा था, बाद में कालिदास को यह पद्य दिखलाये जाने पर भवभूति ने कालिदास के सुझाव पर उसके स्थान में 'रात्रिरेव व्यरंसीत्' ऐसा संशोधन कर दिया। इस किंवन्दती से ऐसा मालुम होता है कि भवभूति कालिदास के समय में ही हुए थे, किन्तु इस तथ्य की पुष्टि इतिहास से नही होती है। अतः इसे वस्तुतः किंवन्दती ही मानना चाहिए। इसी प्रकार बल्लाल ने अपने 'भोजप्रबन्ध' में धारानगरी के महाराज भोज के दरबार में कालिदास, भवभूति, बाण और मयूर आदि कवियो को एक साथ लाकर बिठा दिया है। इतना ही नही, उन्होने एक कथा भी गढ़ कर इस प्रकार लिखी है-राजाभोज द्वारा दिये गये विषय पर कालिदास और भवभूति दोनो ने अपनी-अपनी काव्य रचना की। उनके काव्यों की परीक्षा भगवती भुवनेश्वरी के मन्दिर में की गयी। कालिदास की रचना उत्कृष्टतर होने को ही थी कि भगवती भुवनेश्वरी ने अपनी कृपा से भवभूति की रचना को ही उत्कृष्टतर प्रमाणित कर दिया। इस आधार पर भी भवभूति और कालिदास को समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु भोज-प्रबन्ध में विभिन्न काल के कवियों का जमघट तथा उनसे सम्बन्धित कथाएं सभी कुछ इतिहास से मेल न खाने के कारण कदापि न मान्य है। 'भोज-प्रबन्ध' एक मनोरंजक ग्रन्थ हो सकता है, एतिहासिक ग्रन्थ नही। बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में अनेक पूर्ववर्ती कवियों यथा-भास, कालिदास, भट्टारहरिचन्द्र आदि का स्मरण किया है, किन्तु भवभूति की चर्चा नही की है। अतः स्पष्ट है कि बाणभट्ट के बाद ही भवभूति हुए। बाण की शैली से भवभूति की रचनाएं प्रभावित भी है। बाणभट्ट का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। अतः भवभूति को इसके बाद होना चाहिए। यह भवभूति के समय की पूर्वसीमा है। (क) आचार्य मम्मट (ख) महिमभट्ट (ग) तथा आचार्य क्षेमेन्द्र (घ) ने अपने-अपने ग्रन्थ क्रमशः काव्यप्रकाश, व्यक्तिविवेक तथा औचित्य विचारचर्चा में भवभूति के अनेक उद्धरण दिये है। धनञ्जय ने दशरूपक में उत्तररामचरित के अनेकानेक उद्धरण दिये है। अत: भवभूति 750 ई0 से परवर्ती नहीं हो सकते हैं।

(ग) राजशेखर ने बालरामायण में अपने को भवभूति का अवतार माना है। (द्रष्टव्य, बालरामायण) राजशेखर का स्थितकाल 210 से 315 ई.माना जाता है। अतः भवभूति को इससे पूर्व होना चाहिए। (घ) वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ग्रन्थ में भवभूति के इयं गेहे लक्ष्मीः-इत्यादि पद्य (उत्तर. 1/38) को उद्धृत किया है। वामन का समय 8वीं शती ई. का उत्तरार्द्ध और 9वीं का पूर्वार्द्ध माना जाता है। अतः भवभूति को इनके पूर्व का होना

चाहिए। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे तथा गउडवहो प्राकृत काव्य के रचयिता वाक्पतिराज भी इन्ही यशोवर्मा के आश्रित थे (राजत.) यशोवर्मा को कश्मीर के राजा ललितादित्य ने परास्त किया था। ललितादित्य का समय कनिंघम के अनुसार ई. तक है। वाक्पतिराज ने गउडवहो (साख्यक पद्य) में भवभूति की प्रशंसा की है और उस सूर्यग्रहण का निर्देश भी किया है, जिसका समय जैकोबी के अनुसार 14 अगस्त 733 ई. निर्धारित किया गया है। अत: सिद्ध होता है कि वाक्पतिराज 733 ई0 में यशोवर्मा का आश्रित कवि था और उस समय तक भवभूति की कीर्ति फैल चुकी थी और वह उसका ज्येष्ठ समकालीन आश्रित कवि था । अतः वाक्पतिराज का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है और भवभूति उनसे कुछ पूर्व अर्थात् सातवीं शताब्दी के अन्त में हुए होंगे अथवा यह भी सम्भव है कि जिस समय भवभूति अपनी प्रतिज्ञा के चरम उत्कर्षपर हों, उस समय तक वाक्पतिराज कवि के रूप में प्रसिद्धि न पा सके हों। इस प्रकार भवभूति के स्थितिकाल की उत्तरसीमा सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित है। अतः भवभूति का स्थितिकाल वाणभट्ट (सातवीं शताब्दी का' पूर्वार्द्ध) के बाद से लेकर आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच सुनिश्चित है।

भवभूति की रचनाएं और उनका संक्षिप्त परिचय—

भवभूति की तीन प्रसिद्ध रचनाएं इस समय उपलब्ध है- 1 मालतीमाधव 2. महावीरचरित (अथवा वीरचरित) 3. उत्तररामचरित। ये तीनों कृतियां नाटक है। इन रचनाओं के पौर्वापर्य-क्रम के विषय में विद्वानों में बडा मतभेद है। कुछ लोग यह निर्णय देते है कि इनका रचना क्रम इस प्रकार है-महावीरचरित, मालतीमाधव, तदन्तर उत्तररामचरित उनकी दृष्टि में ऐसा क्रम निर्धारित करने में मालतीमाधव का यह श्लोक रहा है-

ये नाम केचिदिह इतिप्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यने हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालो महान निरवधिर्विपुला च पृथिवी ।।

उनका तर्क है कि उत्तररामचरित अपने में एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। कवि की यह अन्तिम रचना है, इसमें किसी प्रकार की विपृतिपत्ति नही है। मालतीमाधव में उक्त श्लोक के द्वारा कवि ने अपने आलोचकों के प्रति जो आक्रोश व्यक्त किया है, उससे प्रतीत होता है कि महावीरचरित की रचना प्रथम हुई। आलोचकों द्वारा उसकी अवज्ञा होने पर कवि ने मालतीमाधव की रचना की और उससे उक्त श्लोक में कवि का अवज्ञाजनित आक्रोश फूट पड़ा है। इससे मेरी मन्द बुद्धि में यह आती है कि इन तीनो रचनाओं का क्रम इस प्रकार है- मालतीमाधव, महावीरचरित और अन्त में उत्तररामचरित। मालतीमाधव में कवि द्वारा व्यक्त अवज्ञाजनित आक्रोश के मूल में कवि की उन रचनाओं की अवज्ञा है, जो मालतीमाधव के पूर्व की गयी थीं और जो तत्कालीन आलोचकों की अवज्ञा से प्रचार-प्रसार न पाकर कुछ समय में अपनी सत्ता खो बेठी, जिनका कुछ अवशेष कल्हण की सूक्तिमुक्तावली तथा अन्य सूक्ति-ग्रन्थों में यत्र-तत्र विकीर्ण मिलता है। राम के पूर्वचरित रूप महावीरचरित और उत्तररामचरित की रचना में अधिक समय का व्यवधान ठीक नही लगता। यह भी अयथार्थ सा लगता है कि एक बार रामचरित की ओर उन्मुख होकर कवि 'महावीरचरित' की रचना करे, फिर उससे मुँह मोड़कर मालतीमाधव जैसी रचना में प्रवृत्त और पुनः उधर से मुड़कर रामचरित (उत्तर) की और प्रवृत्त हों। तत्कालीन आलोचकों द्वारा 'महावीरचरित' की अवज्ञा हुई, यह बात भी विश्वनीय नही लगती, क्योंकि तब तो इस अवज्ञेय ग्रन्थ को परावर्त्ती लक्षणग्रन्थकारों-आचार्य विश्वनाथ, महाराज भोज आदि द्वारा सम्मान मिलना सन्दिग्ध हो जाता है, तब भी उनके ग्रन्थों में 'महावीरचरित' के उद्धरण आदरपूर्वक स्वीकार किये गये है। तथाकथित आलोचकों द्वारा अवज्ञात होने पर तो प्रचार-प्रसार के अभाव में इसका लुप्त-प्राय हो जाना

स्वाभाविक होता। वस्तुतः मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित ये तीनों कवि के वह ग्रन्थरत्न है जिनकी आभा सतत समान रूप से देदीप्यमान रही है।

मालतीमाधव- यह दस अंको का प्रकरण है। इसमें विदर्भ के राजमन्त्री देवराज के पुत्र माधव और पद्मावती के राजमन्त्री भूरिवसुकी कन्या मालती का विवाह अत्यन्त कौतुहलवर्द्धक और मनोरंजक ढंग से वर्णित है। सम्पूर्ण कथा काल्पनिक है, जो प्रकरण के लिए आवश्यक है। इसमें श्रृंगार प्रधान रस है, जो साहित्यशास्त्र के अनुसार प्रायः प्रकरण के लिए आवश्यक माना जाता है। इस प्रकरण में स्थान-स्थान पर भवभूति का हृदयावर्जक वैशिष्टय परिलक्षित होता है। बृहत्कथामन्जरी और कथासरित्सागर में तीन ऐसी कहानियॉ मिलती है, जिनमें प्रेमी और प्रेमिका का चुपके से भाग निकलना, लुक-छिपकर विवाह करना, प्रेमिका का संकट मे पड जाना तथा उसका कौतुहलपूर्ण ढंग से उद्धार होना आदि वर्णित है। मालतीमाधव की कथा को देखते हुए ऐसा लगता है कि भवभूति को उन्ही तीन कहानियों से अवश्य प्रेरणा मिली होगी।

महावीरचरित- यह सात अंको का नाटक है। इसमें रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक तक की घटनाओं अर्थात् राम के जीवन के पूर्वार्द्ध का वर्णन है। इस नाटक के नायक रामचन्द्र है। नाटक की मर्यादा को ध्यान में रखकर कवि ने कथानक में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है, जिससे नाटकीय स्वाभाविकता भी स्वयम् आ गयी है। प्रतिनायक रावण का राम के साथ संघर्ष सीता-विवाह के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है। परशुराम गुरू शिव के अपमान से क्रुध होकर नही, रावण के द्वारा भड़काकर भेजे जाते है। कैकेयी की दासी मन्थरा और कोई नही है, वह सुपर्णखा है, जो रावण के द्वारा मन्थरा-वेश में भेजी गयी है और कैकेयी द्वारा राम को वन में भिजवाकर वह अपने षडयन्त्र में सफल हो जाती है। राम के वनवास काल में माल्यवान् सीता-हरण कराता है, वही बाली को भी भड़काता है। बाली स्वयं राम से लडने आता है और मारा जाता है। बालि वध की कथा में ऐसा परिवर्तन नायक की मर्यादा बचा लेता है, अन्यथा धीरोदात्त प्रकृति के राम, धीरोद्धत प्रकृति के नायक की तरह छल से से बाली को मारें, यह 'प्रकृति विषयक' रस दोष आये बिना न रहता। परवर्ती लक्षणग्रन्थकारो ने उदाहरणो के रूप में इस नाटक के उदाहरणो को अपने-अपने ग्रन्थों में स्थान देकर इसका गौरव स्वीकार किया है।

उत्तररामचरित-भवभूति का यह सात अंको का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसमें रामचन्दजी का लोकोत्तर उत्तरचरित्र का वर्णन है। इसे महावीरचरित का उत्तर भाग कहा जा सकता है। इसमें-**प्रथम अंक** में की योजना कर कवि ने सीताजी के द्वारा गंगा दर्शन की इच्छा व्यक्त करायी है इधर दुर्मुख नामक गुप्तचर से प्रजा में फैले हुए लोकापवाद की सूचना राम को मिलती है। प्रजारंजन के लिए सीता-परित्याग का दृढ निश्चय कर राम सीता को गंगा दर्शन के व्याज से लक्ष्मण द्वारा वन में भिजवा देते है। सीताजी को उस समय अपने निर्वासन का पता नही रहता है। सीता-परित्याग की भूमिका कवि ने बडे कौशल से संयोजित की है। **द्वितीय अंक में** सीता परित्याग के 12 वर्ष बाद की घटनाएं चित्रित की गयी है। उसमें आत्रेयी नामक तापसी और वासन्ती नामक वनदेवी के संवाद से हमे पता चलता है कि राम अश्वमेधयज्ञ करने जा रहे है। महर्षि बाल्मिकी किसी देवता द्वारा सौपे गये दो कुशाग्रबुद्धि बालकों के लालन-पालन में निरत है। इसी अंक में राम दण्डकारण्य में आकर शुद्ध तपस्वी शम्बुक का वध करते है। **तृतीय अंक में** तमसा और मुरला इन दो नदियों के संवाद से हमे ज्ञात होता है कि मुरला गोदावरी से अगस्त्य-पत्नी लोपामुद्रा का यह सन्देश कहने जा रही है कि सीता-वियोग से अत्यन्त दुर्बल राम अगस्त्याश्रम से लौटकर पंचवटी पहुचॅने पर पूर्व वृत्तान्तों की स्मृति से व्याकुल हो उठेंगे, अतः गोदावरी उनका सार- सम्भाल करने में सर्तक रहे। वहीं तमसा के मुख से यह भी ज्ञात होता है कि वाल्मीकि के आश्रम के पास जब लक्ष्मण सीता को छोडकर चले गये और सीता को प्रसव वेदना हुई, तब वे गंगा में कूद पड़ी। जल में ही उन्हे दो पुत्र हुए, जिन्हे पृथ्वी और गंगा ने संभाला। सीता पाताल चली गयी और दूध छुटने पर दोनो बच्चो को गंगा ने वाल्मीकि के आश्रम में पहुचॉ दिया। उधर सरयू के मुख से राम के पन्चवटी में आने की संभावना सुनकर गंगाजी भी सीता को साथ लेकर गोदावरी के पास पहुंच गयी। गंगा ने

कुश और लव की बारहवीं वर्षगांठ मनाने के बहाने सीता को अदृश्य बनाकर तमसा के साथ राम की रक्षा के लिए ही पंचवटी भेज दिया। राम भी अगस्त्याश्रम से लौटकर पंचवटी में पहुंचे और सीता को सहवास-कालीन स्थानो को देखकर विरह-सन्तप्त हो मूर्च्छित हो गये। तमसा के कहने पर सीता ने अपने हाथो के स्पर्श से राम को आश्वस्त किया। वासन्ती भी राम से मिली और उसने सीता-निर्वासन के उपालम्भ से पूर्ण बातें राम से कीं। राम और वासन्ती के संवादो को सुनकर सीता के ह्दय से राम के प्रति स्थिर क्षोभ दूर हो गया। राम और सीता दोनो अलग-अलग शोकाभिभूत हो विलाप करने लगे। आश्वस्त होने के बाद राम अश्वमेध का अनुष्ठान करने के लिए अयोध्या चले गये और सीता गंगा के पास लौट गयीं। **चतुर्थ अंक में** जनक, कौसल्यादि रानियॉ, अरून्धती, वसिष्ठ आदि का आगमन बाल्मीकि आश्रम में होता है। वहीं से सब बालक लव को देखते है। सीता-पुत्र होने की संभावना से राजा जनक ने अपने सन्देह को निश्चयात्मक करने के उद्देश्य से उससे तरह-तरह की बातें की, किन्तु लव की बातों से वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। इतने में अश्वमेधयज्ञ के घोड़ो को देखकर आश्रम के बटुकों को बड़ा कौतुहल हुआ। कुछ बटुक घोड़े को देखने के लिए लव को भी खींच ले गये। लव ने घोड़े को बटुकों के द्वारा पकड़वा लिया। रक्षकों के विरोध करने पर लव युद्ध के लिए उद्यत हो गया। **पंचम अंक में** यज्ञाश्व के रक्षक लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु से लव का वाद-विवाद होता है और वे परस्पर युद्ध के लिए उद्यत हो जाते है । **षष्ठ अंक** में विद्याधर-दम्पति के मुख से हमें लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। शम्बुक को मारकर उसी युद्धस्थल में राम के आने से युद्ध रूक जाता है। कुश भी उसी समय युद्ध की सूचना पाकर वहॉ आ जाता है। कुश और लव को देखकर सीता-पुत्र की संभावना से राम के हृदय में उनके प्रति वात्सल्य उमड़ पड़ता है। किन्तु कुश और लव की तटस्थ बातचीत से वे इस निर्णय पर नही पहुचॅ पाते है कि ये उन्ही की सन्तान है। **सप्तम अंक** में गर्भनाटक की योजना की गयी है। उसका अभिनय देखने के लिए समस्त प्रजा, देव, असुर, पशुपक्षी, नाग, सभी स्थावर जंगम प्राणी तथा राम-लक्ष्मण भी उपस्थित थे। इसमें कुश और लव की उत्पत्ति, सीता का पाताल-प्रवेश, कुश और लव को गंगा द्वारा वाल्मीकि के आश्रम में पहुंचाना आदि सभी कुछ दिखलाया गया है। सीता के पाताल-गमन से राम मूर्च्छित हो गये। तब मुख्य नाटक में गंगा और पृथिवी के साथ सीता जल से निकलकर अपने हाथों के स्पर्श से अरून्धती के आदेशानुसार राम को प्रशंसा करती हुई अरून्धती ने उपस्थित जनता के समक्ष राम से सीता को स्वीकार करने का प्रस्ताव किया। इस प्रकार राम, सीता, कुश एवं लव का सामगम हुआ। अतएव यह नाटक सुखान्त सिद्ध होता है।

बोध प्रश्न-7

अभ्यास प्रश्न -7

1 भवभूति का वास्तविक नाम क्या था ?
2 इनके पितामह का नाम क्या था ?
3 भवभूति का जन्मस्थान कहॉ पर था ?
4 भवभूति की कितनी प्रसिद्ध रचनायें है ?
5 मालतीमाधव के लेखक कौन है ?
6 उत्तर रामचरितम में कितने अंक है ?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1 भवभूति का पैतृक नाम था ?

(क) भवभूति (ख) श्रीकण्ठ
(ग) नारद (घ) कश्यप

2 भवभूति के पिता का नाम था ?

(क) दशरथ (ख) गर्ग

(ग) नीलकण्ठ (घ) विश्वनाथ

3 भवभूति का जन्म हुआ था ?

(क) पद्मपुर नगर (ख) अयोध्या

(ग) गुजरात (घ) कुशीनगर

4 उत्तर रामचरितम् के लेखक है ?

(क) विश्वनाथ (ख) जगन्नाथ

(ग) महिमभट्ट (घ) भवभूति

5 भवभूति की विद्वता प्राप्त हुई थी ?

(क) दैवरूप से (ख) पैतृक रूप से

(ग) गुरू कृपा से (घ) शिव कृपा से

3.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपने जाना कि कालिदास अपने पाण्डित्य के कारण ही नहीं बल्कि वर्णन की गम्भीरता के कारण कवियों के बीच में सर्वाधिक प्रतिष्ठित है। परम्परा में यह मान्य है कि महाकवि ने ऋतुसंहार नामक काव्य की रचना सबसे पहले की। इसी में उनका कोमल प्राकृतिक होना प्रतिभासित होता है। इसके बाद ही उन्होंने रघुवंश, कुमारसम्भवम् एवं मेघदूत की रचना की। जिसमें दो महाकाव्य हैं और एक गीतिकाव्य है। ये वैदर्भी रीति के सफल प्रयोक्ता। उपमा कालिदास के काव्यों एवं नाटकों का मुकुट है वस्तुत: उन्होंने दर्शन से लेकर समस्त बौद्धिक पराकाष्ठाओं के दृष्टि से अपनी रचना में सभी आकर्षण उत्पन्न किया है। उन्होंने अभिनेय वस्तु को सजीवता के साथ चित्रित करनें में कोई कोर कसार नहीं रखी है। रसमय और सुकुमार, अलंकारों के सुन्दर प्रयोग, सामासिक पदों में सरसता इत्यादि कालिदास की महनीय विशेषता है। अल्प शब्दों में विहंगम भावों की अभिव्यक्ति इनका प्रधान गुण है।

भारवि के समय के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि इनका समय कालिदास के बाद होना चाहिए। अवन्तिसुन्दरी कथा के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे वह विष्णुवर्धन के राज्य में सभा पण्डित थे। विष्णुवर्धन का शासन काल लगभग 615 ई. का माना जाता है। भारवि की मुख्य कृति किरातार्जुनीयम् है। अवन्तिसुन्दरी कथा के सम्पादक पण्डित रामकृष्ण कवि ने इन्हीं दामोदर के साथ भारवि की एकता मानी है अर्थात् उनकी सम्मति में भारवि ही आचार्य दण्डी के चतुर्थ पुरुष (प्रपितामह) थे, परन्तु जिस पद्य के आधार पर यह अभिन्नता मानी जाती है उसके पाठ अशुद्ध होने के कारण इस सिद्वान्त को अब बदलना पड़ा है। भारवि दण्डी के प्रपितामह नहीं थे प्रत्युत प्रपितामह के मित्र थे, क्योंकि भारवि की सहायता से ही दामोदर राजा विष्णुवर्धन की सभा में प्रविश्ट हुए। जो कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे और चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। शिशुपालवध महाकवि माघ का मात्र ग्रन्थ है। बृहत्त्रयी में परिगणित नैषधीयचरितम् संस्कृत साहित्य की अनुपम और विलक्षण कृति है। इसे विद्वानों की परमौषधि के रूप में माना जाता है। जैसा कि कहा गया है- **'नैषधं विद्वदौषधम्'** बृहत्त्रयी में अन्य ग्रन्थद्वय के रूप में किरातार्जुनीयम् और शिशुपालवधम् की गणना होती है। शिशुपालवधम् के रचयिता महाकवि माघ और किरातार्जुनीयम् के रचयिता श्री भारवि है। वस्तुतः दोनों ही ग्रन्थ उत्कृष्ट कोटि के और विलक्षण हैं। किन्तु प्रसिद्ध है कि श्रीहर्ष द्वारा नैषधीयचरितम् की रचना के उपरान्त ये दोनों महाकाव्य गौण हो जाते हैं।

कवि जयदेव कहते हैं कि कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से वर्ण्य विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। गीतिकाव्य संस्कृत भारती का परम रमणीय अंग है। गीति की आत्मा भावातिरेक है।

कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से वर्ण्य विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। गीतियों का निर्माण उस बिन्दु पर होता है, जब कवि का हृदय सुख-दुःख के तीव्र अनुभव से आप्लावित हो जाता है और वह अपनी रागात्मिका अनुभूति को अपनी हार्दिक भावना के कारण बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में परिणत करता है। ' स्व 'गम्य अनुभूति 'पर ' के रूप् में परिणत करने के लिए कवि जिन मधुर भावापन्न रससान्द्र उक्तियों का माध्यम पकड़ता है, वही होती है गीतियाँ। इसके लिए कतिपय उपकरण आवश्यक होते है , जो इसके साधक तत्त्व होते है। भावमयता इनमें मुख्य है। यों तो संस्कृत के आलंकारिकों की दृष्टि में काव्यमात्र के लिए रसात्मकता अपेक्षित गुण है।

महाकवि भवभूति एक महान् कर्मकाण्डी तथा विश्रुत मीमांसक होते भी स्त्री शिक्षा के महान पक्षपाती थे। महाकवि भवभूति की वेदना व्यथित विधुरावस्था की अनुभूति की तीव्रता में उनके उल्लासमय दाम्पत्य जीवन की मधुरता ही मुख्य हेतु है। उनका आदर्शजीवन दाम्पत्य जीवन की मनोरमा झॉकी उत्तररामचरित में दर्शनीय स्पृहणीय है। महाकवि भवभूति की कृतियों का भी वर्णन इस इकाई में सम्यग् रूप से किया गया है। भवभूति मन के अन्तर्द्वन्द्व को पकडने तथा उसे सफल अभिव्यक्ति देने में ये सिद्धहस्त थे। यहीं कारण है कि प्रस्तुत नाटक में सीता, राम, राजर्षि जनक, कुश लव, चन्द्रकेतु, कौसल्या, वासन्ती आदि विभिन्न कोटि के मनुष्यों के मन के अन्तर्द्वन्द्व की जैसी सफल अभिव्यक्ति हुई है, विश्व के साहित्य में भी दुलर्भ है। इस बात की प्रशंसा पाश्चात्य समालोचक भी मुक्तकण्ठ से करते है। भवभूति की वेदनाव्यथित विधुरावस्था की अनुभूति की तीव्रता में उनके उल्लासमय दाम्पत्य जीवन की मधुरता ही मुख्य हेतु है। उनके आदर्श दाम्पत्य जीवन की मनोरम झॉकी उत्तररामचरित में दर्शनीय एवं स्पृह्णीय है। सत्चरित्रता, निष्ठा और मर्यादा पूर्ण जीवन जीने वाले तथा धर्म में गहरी आस्था रखने वाले भवभूति के मत में ही स्त्री भोग विलास की सामग्री नहीं, अपितु घर की लक्ष्मी तथा नेत्रों के लिए अमृतशलाका की भॉति शान्ति-प्रदायिनी है, वह जीवन सहचरी है और पवित्रता की मूर्ति है। अत: इस इकाई के अध्ययन के बाद आप उपरोक्त कवियों का परिचय, समय एवं इनके विविध मतों का अवलोकन करते हुये उनके विविध वर्णन शैली को समझा सकेंगे।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
सहसा	एक साथ अर्थात् एकाएक
विदधीत न	निर्णय नही लेना चाहिए
क्रियाम्	क्रिया (कार्य) को
अविवेक	बिना जाने हुए
विहाय	छोड़कर
दुर्लभ वचः	दुर्लभ वाणी
अभणत्	हुआ
सम्यूः	अच्छा
समः	समान
वाणमयुरयों	वाण मयुर का
श्री हर्ष इव	श्री हर्ष जैसा
काव्य चातुरी	काव्य में चतुर
पर्याप्तः	पर्याप्त
अस्य	इसका
वितातार	फैलाया

समर्पितानि	समर्पित किये
ललित	मनोहर
लवंगलता	नये - नये पत्तों
विलोचन	सुन्दर नेत्र
विधुमिव	ब्रह्म की तरह
तव	तुम्हारी
मदालसे	मद से आलसी है
स्त्रीणां कर्ता	स्त्रियों का पति
दृश्यताम्	देखिये
द्रष्टव्यमेतत्	यह देखने योग्य है
भवेत	होना चाहिए
भवभूतेः	भवभूति का
भारती भाति	सरस्वती के समान
वज्रादपि	वज्र के समान
कठोराणि	कठोर
कुसुमादपि	फुलों से भी
मृदूनि	कोमल
भव	शंकर
भूति	सम्पत्ति

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोधप्रश्नोत्तर-1

1.ग. वैदर्भी 2. **ख. 3** क. 3 4. **ग. कालिदास** 5. क. **गाथासप्तशती** 6. **ग. कुषाण** 7. **ग. 17** 8. ख. **मेघ** 9. क. **रघुवंश** 10. **ग. 19**

बोधप्रश्नोत्तर-2

रिक्त स्थान की पूर्ति–

1. जगत: पितरौ
2. या हवि: या चहोत्रि
3. भारवे अर्थ गौरवम्

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. **ख. दुष्यन्त** 2. **क.धीरोदात्त** 3. **क. पुरू**

बोधप्रश्नोत्तर-3

अभ्यास प्रश्न-3

1. क. **कृष्ण** 2. **माघ** 3. **सुप्रभदेव वर्मलात** 4. **क. ब्रह्मगुप्त** 5. ख**. 625 ई0** 6. ग. **गुजरात** 7. ख. सूर्य की छाया 8. ख. त्रयो गुणा:

वोध प्रश्नोत्तर-4

अभ्यास प्रश्न-4

अति लघु-उत्तरीय प्रश्न – (1) - महाकवि भारवि (2) नरेश विष्णुवर्धन (3) श्रीधर - सुशीला (4) अठारह (18) (5) द्वैतवन में (6) द्वितीय सर्ग में (7) पाशुपतास्त्र (8) अर्जुन (9) 8 से 93 तक (10) द्रौपदी

बहुविकल्पीय प्रश्न– 1-(क) 2- (ग) 3- (ख) 4- (घ) 5- (ग) 6- (क)

7- (ग) 8- (घ)

बोधप्रश्नोत्तर-5

अभ्यास प्रश्न-5

1- क-(क) श्री हर्ष ख- (क) महाकाव्य ग- (ग) बाईस

घ- (घ) नैषधीयचरितम् ड्- (क) दमयन्ती

2-

क- संवत् 1225 अर्थात् 1169 ई0 ख- सर्गों में

ग-किरातर्जुनीयम्, शिशुपालवधम एवं नैषधीयचरितम्

3-

क- सही ख- सही ग- गलत **घ- सही**

बोधप्रश्नोत्तर-6

अभ्यास प्रश्न-6

1 - राजा लक्ष्मणसेन 2- जयदेव 3- उत्कल के केन्दुविल्व 4- भक्ति रस 5- जीव ब्रह्म का मिलन 6 - कौण्डिन्य

बहुविकल्पीय प्रश्न 1- ग 2- ख 3- ख 4- घ 5- क

बोधप्रश्नोत्तर-7

अभ्यास प्रश्न-7

उत्तर- 1 भवभूति 2- भट्टगोपाल 3- द्रविण देश 4- तीन 5 –भवभूति 6 –सात

उत्तर-1. (ख) 2. (ग) 3. (क) 4. (घ) 5. (ख)

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय।
2. पुराण विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय- चौखम्भा सुरभारती।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ वाचस्पति गैरोला,चौखम्भा प्रकाशन।
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय प्रकाशक, शारदा निकेतन,सिगरा वाराणसी।
5. भवभूति और उनकी नाट्यकला, अयोध्या प्रसाद सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1988।
6. भवभूति ग्रन्थावली, राम प्रताप त्रिपाठी शास्त्री, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973।
7. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक, शारदा निकेतन, वाराणसी ।

3. 9 उपयोगी पुस्तकें

1. किरातार्जुनीयम्, भारवि, चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी ।
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय,प्रकाशक, शारदा निकेतन,सिगरा वाराणसी।
3. किरातार्जुनीयम्, भारवि, चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी।
4. गीतगोविन्द, जयदेव, प्रकाशक,चौखभा संस्कृत भारति चौक वाराणसी।
5. प्रसन्नराघव, लेखक, जयदेव, प्रकाशक, चौखभा संस्कृत भारति चौक वाराणसी।

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. महाकवि कालिदास का जीवन परिचय लिखिये।
2. विभिन्न मतों के अनुसार कालिदास का काल निर्णय कीजिये।
3. कालिदास की रचनाओं पर एक निबन्ध लिखिये।
4. महाकवि कालिदास की नाट्य कला पर एक निबन्ध लिखिये ।
5. कालिदास के उपमा प्रयोग काव्य का विस्तृत वर्णन कीजिये।
6. माघ और भारवि की कला में अन्तर स्पष्ट कीजिये ।
7. माघ का जीवन परिचय एवं समय लिखिये ।
8. भारवि के समय के विषय में परिचय दीजिये।
9. श्रीहर्ष का परिचय दीजिये।
10. श्री हर्ष की रचनाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।
11. महाकवि जयदेव का परिचय दीजिए।
12. महाकवि भवभूति का जीवन परिचय लिखिए।
13. भवभूति की रचनाओं का वर्णन कीजिए।

इकाई-4 प्रमुख कवि परिचय भाग-2
शूद्रक, विशाखदत्त, भर्तृहरि, बाण, सुबन्धु, दण्डी, प. राज जगन्ना

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 प्रमुख कवि परिचय भाग-2
    4.3.1 शूद्रक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    4.3.2 विशाखदत्त का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    4.3.3 भर्तृहरि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    4.3.4 बाण का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    4.3.5 सुबन्धु का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    4.3.6 दण्डी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    4.3.7 प. राज जगन्नाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 उपयोगी पुस्तकें
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

संस्कृत परम्परा एवं संस्कृति से सम्बन्धित यह खण्ड प्रथम की चतुर्थ इकाई है। इससे पूर्व की इकाइयों में आपने महाकवि कालिदास, माघ, भारवि, श्रीहर्ष, जयदेव और भवभूति के विषय में विस्तृत अध्ययन किया । प्रस्तुत इकाई में आप शूद्रक, विशाखदत्त, भर्तृहरि, बाण, सुबन्धु, दण्डी, प. राज जगन्नाथ के विषय में अध्ययन करेंगे।

मृच्छकटिक के रचियता शूद्रक हस्तिशास्त्र में परम प्रवीण थे, भगवान शिव के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बड़े ठाट बाट से उन्होने अश्वमेघ यज्ञ किया था, अपने पुत्र को राज्य सिहांसन पर बैठा दस दिन तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अन्त में अग्नि प्रवेश किया । शूद्रक युद्वों से प्रेम करते थे, प्रमाद रहित थे, तपस्वी तथा वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे, राजा शूद्रक को बड़े हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने का बड़ा शौक था, उनका शरीर था शोभन, उसकी गति थी मतंग के समान नेत्र थे चकोर की तरह, मुख था पूर्ण चन्द्रमाँ की भाँति। तात्पर्य यह है कि उनका समग्र शरीर सुन्दर था। वे द्विजों में मुख्य थे। संस्कृत नाटकों की परम्परा में महाकवि कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तलम तथा पाश्चात्य नाटकों में शेक्सपीयर के नाटक अत्यधिक लोकप्रिय है किन्तु संस्कृत नाट्य-जगत में एक मात्र उपलब्ध राजनीतिक नाटक 'मुद्राराक्षस' के लेखक के रूप में विशाखादत्त की कीर्ति अमर है । नाटकों में मुद्राराक्षस का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यह सात अंकों में विभक्त है । इसका नायक धीरोदात्त ब्राह्मण चाणक्य है तथा प्रतिनायक अमात्य राक्षस है चन्द्रगुप्त उपनायक तथा मलयकेतु प्रतिनायक है । अपनी कूटनीतियों के जाल में चाणक्य राक्षस को फसांकर उसे चन्द्रगुप्त का मंत्री बनने के लिए विवश कर देता है ।

भर्तृहरि राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई थे किन्तु इनके सामाजिक विकास का इतिहास आज भी किंवदंतियों तथा लोक कथाओं और उसकी मान्यताओं के माध्यम से ही आम जनमानस के सामने उभर कर आता है । जाति के आधार पर जो कि प्राचीन वर्ण व्यवस्था से सम्बद्ध है के सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि के पिता गन्धर्व जाति के थे, उनका नाम वीरसेन था । इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वीरसेन की चार सन्तानें थीं जिनमें भर्तृहरि, विक्रमादित्य, सुभट्टवीर्य एवं मेनावती का उल्लेख मिलता है । इस प्रकार से अद्वैत ऐतिहासिक नाटक अपने पूर्ण नाट्य लक्षणों के साथ अद्वितीय रूप में प्रस्तुत हो ऐसा प्रयास विशाखादत्त ने सफलता पूर्वक किया है ।

बाणभट्ट तथा उनके द्वारा रचित कथा साहित्य का अनमोल ग्रन्थ रत्न (कादम्बरी) सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य का गौरव बढ़ाता है। कादम्बरी जैसे अद्वितीय कथा साहित्य के कर्ता के सम्बन्ध में जिज्ञासा की शान्ति के लिए गद्यकवि बाणभट्ट के जीवन-परिचय और उनके कर्तव्य का विवेचन किया जा रहा है । इस इकाई में कादम्बरी का सामान्य परिचय देते हुए कादम्बरी के विविधरूपों जैसे कादम्बरी का मूलस्रोत कथानक के पात्रों का परिचय आदि को रखा है ।

गद्य काव्य रचनाओं की रत्नत्रयी-सुबन्धु, बाण, दण्डी, में सुबन्धु ही सबसे प्राचीन है और उनका ग्रन्थ 'वासवदत्ता' सर्वप्रथम गद्य काव्य का ग्रन्थ है, महाकवि की लेखनी श्लेष की रचना में विशेष पटु है। संस्कृत गद्य के निर्माण में इन्होंने अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है । संस्कृत साहित्य में गद्य का प्रयोग अत्यधिक प्राचीन काल से होता आया है । प्राचीनकाल में पद्य की अपेक्षा गद्य को अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। कालान्तर में धीरे-धीरे दर्शनग्रन्थ ज्योतिषग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ आदि की सहायता से गद्य पूर्ण विकासित रूप में स्थापित हो गया ।

काव्यशास्त्र की परम्परा में पण्डितराज जगनाथ का स्थान शीर्षस्थानीय है । यह दक्षिणात्य ब्राह्मण विद्वान की दृष्टि से मम्मट तथा विश्वनाथ की श्रेणी के विद्वान थे । पण्डितराज दिल्लीश्वर शाहजहाँ तथा

उसके पुत्र दारा के प्रेमपात्र रहे हैं दोनों के संबंध में आपने प्रशंसापरक रचनाएं की है। शाहजहां ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया। इस आधार पर इनका समय हम सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध स्वीकार कर सकते है। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से आपकी 'रसगंगाधर अपूर्ण होने पर भी विद्वत्तापूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में दो 'आनन्' है, प्रथम आनन् में अन्य विद्वानों ने काव्य लक्षणों का खण्डन कर 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की काव्य को लक्षण प्रतिपादित किया गया है। काव्य हेतुओं में प्रतिमा में मुख्य मानकर काव्य के उत्तमोतम्, मध्यम, अधम भेद माने है। द्वितीय आनन् में ध्वनि भेदों के सहित अभिधा, लक्षणा एवं स्तर अलंकारों का विवेचन किया है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप शूद्रक, विशाखदत्त, भर्तृहरि, बाण, सुबन्धु, दण्डी, प. राज जगन्नाथ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में अत्यन्त ही सूक्ष्म दृष्टि से बता सकेंगे।

4. 2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

- ❖ शूद्रक कौन थे इसका उल्लेख कर सकेंगे।
- ❖ शूद्रक का जन्म स्थान कहाँ है, निर्णय करेंगे।
- ❖ मृच्छकटिकम् में किसका वर्णन है उल्लेख करने में समर्थ हो सकेंगे।
- ❖ मुद्राराक्षस के ऐतिहासिक तथा साहित्यिक ज्ञान का परिचय दे सकेंगे।
- ❖ विशाखदत्त का जीवन परिचय बता सकेंगे।
- ❖ इस इकाई के माध्यम से नीतिपरक बातों को सहज रूप से समझा जा सकता है।
- ❖ जगन्नाथ जी का साहित्य में योगदान क्या है ,बता सकेगें।
- ❖ काव्यशास्त्र में पण्डितराज का महत्त्व बता सकेंगे।
- ❖ गद्य कवि बाणभट्ट के विषय में सरलता पूर्वक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- ❖ गद्य काव्य को सहजता से जान सकेगें।
- ❖ सुबन्धु से तथा इनकी रचना से परिचित हो सकेगें।
- ❖ आचार्य दण्डी के विषय में कुशलता पूर्वक जानकारी प्राप्त कर सकेगे।

4.3 प्रमुख कवि परिचय भाग-2

4.3.1 शूद्रक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व—

शूद्रक का जीवन परिचय— मृच्छकटिक के रचियता शूद्रक का कुछ परिचय ग्रन्थ के आरम्भ (1। 4. 1। 5) में ही जीवन परिचय मिलता है। उसके अनुसार शूद्रक हस्तिशास्त्र में परम प्रवीण थें, भगवान शिव के अनुग्रह से उन्हे ज्ञान प्राप्त हुआ था, बड़े ठाट बाट से उन्होने अश्वमेध यज्ञ किया था, अपने पुत्र को राज्य सिहांसन पर बैठा दस दिन तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अन्त में अग्नि में प्रवेश किया। वह युद्वो से प्रेम करते थे, प्रमाद रहित थे, तपस्वी तथा वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे, राजा शूद्रक को बड़े हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने का बड़ा शौक था, उनका शरीर था शोभन , उसकी गति थी मतंग समान नेत्र थे चकोर की तरह, मुख था पूर्ण चन्द्रमाँ की भाँति। तात्पर्य यह है कि उनका समग्र शरीर सुन्दर था। वे द्विजो में मुख्य थे प्रतीत होता है की किसी अन्य लेखक ने यहाँ जान बूझ कर कह दिया है 'शूद्रकोऽग्निप्रविष्ट' स्वयं लेखक की लेखनी इस भूतकाल का प्रयोग कैसे कर सकती है। निः संदेह यह अंश प्रक्षेप है।

शूद्रक नामक राजा की संस्कृत - साहित्य में खूब प्रसिद्धि है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में अनेक दंतकथायें है उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी है। कादम्बरी विदिशा नगरी में कथा- सरित्सागर में शोभावती तथा वेतालपंचविंशति में वर्धमान नामक नगर में शूद्रक के राज्य करने का वर्णन पाया जाता है। कथा सरित्सागर का कथन है कि किसी ब्राह्मण ने राजा को आसन्नमृत्यु जानकर उसे दीर्घ जीवन की आशा में अपने प्राण निछावर कर दिये थे। हर्षचरित में लिखा है शूद्रक चकोर राजा चन्द्रकेतू का शत्रु था। राजतरंगिणीकार स्थिर- निश्चलता के दृष्टान्त के लिये शूद्रक का स्मरण करते है। स्कन्दपुराण के अनुसार विक्रमादित्य के सत्ताईस वर्ष पहले शूद्रक ने राज्य किया था। प्रसिद्ध है की कालिदास के पूर्ववती रामिल तथा सोमिल नामक कवियों ने मिलकर 'शूद्रक कथा' नामक कथा लिखी थी। अतः शूद्रक इसके कर्ता नहीं है बहुत से लोग तो शूद्रक की सत्ता में ही विश्वास नहीं करते। परन्तु ये सब श्रान्त धारणाऐं हैं। तथ्य यह प्रतीत होते है कि विक्रमादित्य के समान ही शूद्रक भी ऐतिहासिक क्षेत्र से उठकर कल्पना जगत के पात्र माने जाने लगे थे। और जिस प्रकार ऐतिहासिक लोग प्रथम शतक में विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में ही सन्देहशील थे उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी। आधुनिक शोध में दोनों ही ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध होते है। ऐसी दशा में शूद्रक को मृच्छकटिक का रचियता न मानने वाले डा0 सिल्वाँ लेवी तथा कीथ मत स्वयं ध्वस्त हो जाता है। पिशेल ने जो दण्डी को इसका रचियता होने का श्रेय दिया है वह भी कालविरोध होने से भ्रान्त प्रतीत होता है। शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और वे ही मृच्छकटिक के यथार्थ लेखक थे।

शूद्रक का जन्म समय— पुराणों में आन्ध्रभृत्य - कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय विद्वान राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता को अंगीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते है। यही यह अभिन्नता सप्रमाण सिद्ध की जा सके तो शूद्रक कालिदास के समकालीन अथवा उनके कुछ पूर्व के ही माने जायेंगे। परन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है।

वामनाचार्य ने अपनी काव्यालंकार - सूत्र वृति में 'शूद्रकादिरचिषु' प्रबन्धेषु' शूद्रक-विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया और 'द्यूतं हि नाम पुरूषस्य असिंहासनं राज्यम् ' इस मृच्छकटिक के द्यूत - प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है , जिससे हम कह सकते है कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी काव्यादर्श में 'लिम्पतीव तमोऽङानि' मृच्छकटिक के इस प़द्यांश को अलंकारनिरूपण करते समय उद्धृत किया है। इन बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी। समय-निरूपण में मृच्छकटिक के अन्तरंग प्रमाणों से भी बहुत सहायता मिलती है। नवम अंक मे वसन्तसेना की हत्या करने के लिए शकार आर्य चारूदत्त पर अभियोग लगता है। अधिकरणिक के सामने यह पेश किया जाता है अन्त में मनु के अनुसार ही धर्माधिकारी निर्णय करता है।

अयं हि पातकी विप्रो न बध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मातु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।

इससे स्पष्ट ही है कि मनु के कथनानुसार अपराधी चारूदत्त अवध्य सिद्व होता है और धनसम्पति के साथ उसे देश से निकल जाने का दण्ड दिया जाता है। यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है।

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्।।
न ब्राहमणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसपि न चिन्तयेत्।।

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भास कवि के 'दरिद्र चारूदत' तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अत्यन्त समानता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक बहुत विस्तीर्ण है, दरिद्रचारूदत्त का संक्षिप्त। मृच्छकटिक भास के रूपक के अनुकरण पर रचा गया है , अतः शूद्रक का समय भास के पीछे चाहिए। मृच्छकटिक के नवम अंक में कवि ने बृहस्पति को अंगारक (अर्थात् मंगल) का विरोधी बतलाया है। परन्तु वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना है। ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्वान्त ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। आज कल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र ही माने जाते है , परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई-कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे, जिसका उल्लेख बृहज्जातक में ही पाया जाता है। वराहमिहिर का परवर्तीग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शुत्र कभी नहीं माना जा सकता। अतः शुद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते है। वराहिमिहिर की मृत्यु 589 ईस्वी में हुई थी, इसीलिए शूद्रक का समय छठी सदी के पहिले होना चाहिये।

इन सब प्रमाणों का सार है कि शूद्रक दण्डी (सप्तम शतक) और वराहमिहिर (षष्ट शतक) के पूर्ववर्ती थे, अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पंचम शतक में मानना उचित है। और यह अविर्भावकाल नाटक में वर्णित सामाजिक दशा से पुष्ट होता है।

मृच्छकटिक की नाटकीय विशेषता—

मृच्छकटिक में 10 अंक है। पहले अंक का नाम 'अलंकारन्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्व वारवनिता वसन्तसेना को राजा का श्यालक शकार वंश में करना चाहता है। रास्ते में अँधेरी रात में विट तथा चेट के साथ शकार उसका पीछा कर रहा है। मूर्ख शकार के कथन से वसन्तसेना को पता चलता है कि वह आर्य चारूदत्त के मकान के पास ही है। अतः उसके घर में घुसती है। विदूषक मैत्रेय शकार को डॉट-डपट कर घर में घुसने से रोकता है। चारूदत्त से वार्तालाप करने के बाद शकार से बचने के लिये वसन्तसेना अपना गहना उसके घर पर रख आती है। दूसरे अंक का नाम 'द्युतक-संवाहक' है। दूसरे दिन सवेरे दो घटनाएं घटती हैं। संवाहक पहले चारूदत की सेवा में था , पीछे पक्का जुआरी बन जाता है। वह जुएं में बहुत सा धन हार जाता है जिससे वह चारूदत के घर भाग आता है। चारूदत उसे ऋण मुक्त कर देते है। संवाहक बौद्व भिक्षु बन जाता है उसी दिन प्रातः काल वसन्तसेना का हाथी रास्ते में किसी भिक्षुक को कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचाता है। चारूदत अपना बहु मूल्य दुशाला को उपहार में दे देते हैं। तीसरे अंक का नाम संधिच्छेद है। वसन्तसेना की दासी मदनिका शर्विलक सेवा से मुक्त करना चाहता है। वह ब्राह्मण है, परन्तु प्रेमपाश में बंधकर आर्य चारूदत्त के घर में सेंध मारता है। और वसन्तसेना का गहना चुरा लेता है। चतुर्थ अंक का नाम 'मदनिका-शर्विलक ' है जिसके शर्विलक अलंकार लेकर वसन्तसेना के घर जाता है और मदनिका को सेवा-मुक्त कर देता है। चारूदत की पतिव्रता पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके बदले में देती है। मैत्रेय रत्नावली लेकर वसन्तसेना के महल में जाता है और जुए में हार जाने का बहाना कर रत्नावली देता है। वसन्तसेना सायंकाल चारूदत्त के घर आने के लिए वादा करती है। पाँचवें अंक का नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है सुहावने वर्षाकाल में आर्य चारूदत उत्सुकता से वसन्तसेना की राह जोहते बैठे हैं। चेट वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है।

1. जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयो व्यर्का विभौमाः कमात्
वीन्द्वर्का विकुजेन्दश्च सुहदः केषाच्चिदेवं मतम्।। (2।91)

चारूदत्त से प्रेम सम्मिलन होता है। उस रात वह वहीं बिताती है । षष्ठ अंक का नाम 'प्रवहणविपर्यय' है। तथा सप्तम का 'अर्थकापहरण'। प्रातः काल चारूदत पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में गये है। उनसे भेंट

करने के लिए वसन्तसेना जाना चाहती है, परन्तु भ्रम से शकार की गाड़ी में, जो समीप में खड़ी थी , जा बैठती है । इधर राजा पालक किसी सिद्व की भविष्यवाणी पर विश्वास कर गोपाल के पुत्र आर्यक को कैदखाने में बन्द कर देता है आर्यक कारागृह से भागकर चारूदत्त की गाड़ी में चढ़ जाता है । श्रृंखला की आवाज को भूषण की झनझनाहट समझ गाड़ी हाँक देता है । रास्ते में दो सिपाही गाड़ी देखने जाते हैं जिनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से किसी बहाने झगड़ा कर बैठता है आर्यक बगीचे में चारूदत से भेंट करता है, 'अष्टम अंक' का नाम 'वसन्तसेना' - मोचन' है। जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है , तब प्राणप्रिय चारूदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार - संस्थानक मिलता है , जो उसकी प्रार्थना न स्वीकार करने से वसन्तसेना का गला घोंट डालता है संवाहक भिक्षु बन गया है । वसन्तसेना को समीप के विहार में ले जाते है और योग्य उपचार से उस पुनरूज्जीवित करता है । नवम अंक में जिनका नाम 'व्यहार ' है, शकार चारूदत्त पर वसन्तसेना के मारने का अभियोग लगाता है कचहरी में जज के सामने मुकदमा पेश होता है । उसी समय चारूदत का बालक पुत्र रोहसेन-मृच्छकटिक (मिट्टीकी गाड़ी) लेकर आता है, जिसमें वसन्तसेना के दिये सोने के गहने है । इसी आधार पर चारूदत को फाँसी का हुक्म होता है । 'संहार 'नामक दशम अंक में उसी समय राज्य-परिवर्तन होता है। पालक को मार चारूदत का परम मित्र आर्यक राजा बन जाता है । वह चारूदत को क्षमा ही नहीं कर देता, प्रत्युत मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है., परन्तु चारूदत के कहने से क्षमा कर देता है । वसन्तसेना के साथ चारूदत का व्याह सम्पन्न होता है । इसी अन्तिम प्रेम-मिलन के साथ यह रूपक समाप्त होता है । दस प्रकरण के कथावस्तु के दो अंश है -पहिला भाग चारूदत् तथा वसन्तसेना का प्रेम दूसरा भाग आर्यक की राज्यप्राप्ति । शूद्रक ने पहले अंश को भास के 'दरिद्र-चारूदत्त नाटक से अविकल लिया है । शब्दतः और अर्थतः दोनो प्रकार की अपनी सम्पति प्राचीन ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया मानते है । दोनों अंशों को शूद्रक ने बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बद्व किया हैं ।

चरित्र-चित्रण- शूद्रक चरित्र-चित्रण में खूब सिद्धहस्त हैं । इनके पात्र जीते-जागते है., सजीवता की मूर्ति हैं । प्रत्येक पात्र में कुछ विशेषता है । मृच्द्कटिक का नाटक चारूदत हैं । प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ब्राह्मण , वणिक् या मन्त्री हुआ करता है । चारूदत ब्राह्मण है तथा धीर-प्रशान्त हैं शूद्रक ने चारूदत के रूप में भारत के आदर्श नागरिक का चित्र खींचा है । वह सदाचार का निदर्शन है । (1। 48) -

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुफलनतः सज्जानानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमूद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरूषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसच्वो
त्द्योकः श्लाध्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छवसन्तीव चान्ये ।।

चारूदत्त दीनों के कल्पवृक्ष हैं । दरिद्रों की सहायता करने से उन्हें निर्धनता प्राप्त हो जाती है, परन्तु फिर भी दीनों की सहायता करने से विरत नहीं होता । उसमें आत्माभिमान की मात्रा खूब है। उसे यह जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि हमारे घर से छूछे हाथ लौट जानेवाला चोर अपने मित्रो से मेरी दरिद्रता की निन्दा करेगा । स्वभाव उसका बड़ा उन्नत है। वसन्तसेना का अलंकार चोरी चला जाता है, परन्तु उसे प्रसन्नता होती है कि उसके घर में सेंध मारने वाला चोर विफल-मनोरथ होकर नहीं गया । वसन्तसेना के अल्पमूल्य भूषण के बदले में अपनी पत्नी की बहुमूल्य रत्नावली देने में वह तनिक भी नहीं हिचकता । जो शकार उसके जीवन का गाहक था, जो उस पर वसन्तसेना के मारने का मिथ्या अभियोग लगाकर शूली पर चढ़ाये जाने का कारण था, उसी दृष्टबुद्वि मूर्ख शकार को वह क्षमा कर देता है । इस नाटक में सचमुच चारूदत्त के रूप में हम आर्दश ' आर्य सज्जन का मनोरम चित्र पाते है । भारतीय दृष्टि से पूर्ण

सज्जनता का जीवितरूप हमें आर्य चारूदत के रूप में प्राप्त होता है। फलतः वे 'परफेक्ट जेन्टिलमेन' के जीवन्त उदाहरण हैं।

वसन्तसेना उज्जयिनी की एक वेश्या है जो इस प्रकरण की नायिका है। उसके चरित्र में हम अनेक स्त्रीसुलभ गुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है। माता के आग्रह करने पर भी वह शकार की संगति नही चाहती और विरोध करने पर भी सदाचारी आर्य चारूदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिए वह सतत उद्योगकरती है। उसका हृदय अत्यन्त कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वभाव है। यद्यपि शकार उसे मार डालने का उद्योग करता है, तथापि वह अपने सद्गुणों के कारण जीवित बच जाती है। वसन्तसेना के अतिरिक्त अन्य पात्रों के भी चरित्र-चित्रण में शूद्रक को सफलता प्राप्त हूई है। धूता सच्ची पतिव्रता हिन्दू नारी है, जो अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिए कठिन से कठिन संकट झेलने के लिए भी उपस्थित है। अपने पति को कलंक से बचाने के लिये वसन्तसेना के अल्पमूल्य आभूषण के लिए बहुमूल्य रत्नावली देते समय उसे तनिक भी दुविधा नहीं होती। रोहसेन भी स्निगध हृदय पुत्र है। मैत्रेय केवल मोदक से अपनी उदर-ज्वाला को शान्त करनेवाला , 'औदरिक' पेटू नहीं है, न वह केवल हास्य का साधन है, प्रत्युत वह एक सच्चा मित्र है। विपत्ति में साथ देनेवाला सच्चा बन्धु है। अन्य साधारण पात्रों में शर्विलक का चरित्र सज्जनता तथा दुर्जनता का अपूर्व मिश्रण है। वेश्या की गृहदासी मदनिका को अपनी प्रिय -पात्रों बनाने में यह ब्राह्मण देवता तनिक भी नहीं सकुचाते। उसे ऋण मुक्त करने के लिए चोरी करने में उसे कुछ भी लज्जा नहीं , परन्तु अपने मित्र आर्यक के कारागृह में बन्धन की वार्ता सुन वह अपनी प्रणयिनी को छोड सहायता करने के लिये खम ठोंककर 'मैदान जंग में आ जुटता है।

मृच्छकटिक में सबसे विचित्र नाटकीय पात्र है- शकार। यह राजा का श्यालक है। नाम है संस्थानक यह गर्व का जीता-जागता पुतला है। उसमें दया छूकर भी नहीं है। वसन्तसेना को अपने प्रणयपाश में बाँधना चाहता है, परन्तु वह इस मूर्ख को पसन्द नहीं करती है। शकार चारूदत्त का अकारण शत्रु है। वसन्तसेना का गला अपने ही हाथ घोट डालता है, परन्तु दोष मढ़ता है चारूदत के सिर पर। अपने किये कर्म का फल चखने का भी सुयोग आता है। परन्तु चारूदत्त उसे क्षमा कर देता है। शकार के कथन सर्वथा क्रमहीन , लोक-विरूद्ध तथा व्यर्थ होते है। इसकी शकार -बहुला भाषा भी शकारी के नाम से प्रसिद्व है। शकार की भाषा तथा तात्पर्य के लिए श्लोक प्रर्याप्त होगा (1।25) -

झाणज्झणन्तबहुभूशणशद्दमिश्शं किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा।
एशे हलामि शहशति जधा हणूमें विश्शावशुश्श बहिणिं विअतं शुभद्दम्।।

अरी ? अपने गहनों को झनझनाती हुई , राम से डरी हुई द्रौपदी की तरह क्यों भाग रही हो ? मै तुम्हें उसी भॉति ले भगता हूँ, जिस प्रकार हनुमान् विश्वावसु की भगिनी सुभद्रा को ले भागे थे। रामायण तथा महाभारत की कथा की भी अच्छी जानकारी है शकार को ! लोकविरूद्व वृत का निदर्शन इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। 'शकार' की अवतारणा प्रथम तथा अन्तिम बार इसी नाटक में हुई है, इसलिए उसकी ओर आलोचकों का ध्यान होना स्वाभविक है। वह राजा की रक्षता का भाई है और इस पद की भूयसी प्रतिष्ठा का ज्ञान ही उसके अभिमान तथा अहंकार का एक जीता-जागता पुतला बनाये हुए है। नाटक में न तो उसके वर्ण संकेत है न उसके देश का। डाक्टर सिल्वॉ लेवी की यह कल्पना है वह शक जाति का था और उसका नाटक में प्रवेश उस युग का स्मारक है जब भारतीय राजा लोग शकदेश की स्त्रियों को अपनी महलों में विवाहिता या रक्षिता बनाकर रखा करते थे। शकार की विचित्र भाषा तथा भारतीय परम्परा का स्थूलतम अज्ञान इस कल्पना के लिए आश्रम माने जा सकें है, परन्तु इसकी पर्याप्त पुष्टि के साधन आज भी अपर्याप्त है। सबसे महत्व की बात यह है कि संस्कृत के नाटककार ने किसी भी

विदेशी पात्र की कल्पना अपने नाटकों में नहीं की है। अतः यह कल्पना रोचक होने पर भी तक पुष्ट नहीं मानी जा सकती है।

शूद्रक की काव्यकला—

शूद्रक की शैली बडी़ सरल है। बड़े-बड़े छन्दों का बहुत कम प्रयोग किया गया है। नये-नये भाव स्थान -स्थान पर मिलते थे। इस प्रकरण का मुख्य रस श्रृंगार है। रस की विभिन सामग्री से परिपुष्ट कर श्रृगांर का सुन्दर रुप कवि ने दिखलया है। शुद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसमें चमत्कार - जनक अनेक सूक्तियाँ है।(9।14)--

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूर्तोमिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनमकंर नागाश्वहिस्त्राश्रयम्।
नानावाशककड़.पक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटचि च राजकरणं हिस्त्रैः समुद्रायते ।।

इस श्लोक में राजकरण --कचहरी --का खूब सच्चा वर्णन किया गया है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है। चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल है, दूतगण लहर तथा शंख की तरह जान पड़ते है-- इधर-उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों की यहॉ समता दी गई है। चारों ओर रहनेवाले चोर-- आजकल के खुफिया पुलिस--घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रुप में हिंस्त्र पशुओं से युक्त् है। तरह-तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले है। कायस्थ (मुंशी लोग) जहरीले सर्प हैं। नीति से इसका तट टूटा हुआ है। यह प्राचीन काल के राजकरण को वर्णन है; आजकल की कचहरी तो कई अंशों में इससे भी बढकर है। कचहरी में पहले- पहले पैर रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पद-पद पर होता है।

शर्विलक के चरित्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ब्राह्मण देवता आर्य चारूदत के घर में रात को सेंध मारने जाते है। पहुँचने पर उन्हें मालूम पड़ता है कि वह अपना मानसूत्र भूल आये है। झटपट गले में पड़े रहनेवाले डोरे की--जनेऊ की--सुधि उन्हें हो जाती है। बस, आप इसी से अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इस चौर्य-प्रसंग में यज्ञोपवीत की उपयोगिता सुन लीजिये (3।17)--

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् , विशेषतोऽस्मद्विधस्य ,! कुतः एतेन मापयति भितिषु कर्ममागनितेन मोचयति भुषणसंप्रयोगान्। उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ।।

1.हरिश्चन्द्रस्त्मां भाषामपभ्रंश इतीच्छति।
अपभ्रंशो हि विद्वद्भिर्नाटकादौ प्रयुज्यते ।। (प्राकृतसर्वस्य 16।2)
2.हिमवत्-सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदशान् समाश्रिताः।
उकारबहुला तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्।। (नाटकशास्त्र ।8147)

ब्राहाणों के लिए , जनेऊ बड़े काम कि चीज है, विशेष करके हमारे जैसे (चार)ब्राह्मणों के लिए ,क्योंकि जनेऊ से भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं। आभूषण के बंधन जनेऊ के द्वारा छुडाये जाते है और यदि साँप या कीट काट खाय, तो उसे जनेऊ से बाँध भी सकते है (जिसमें विष न चढे)। ठीक ही है; चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का और उपयोग हो ही क्या सकता है ?

शूद्रक की नाटककला—

कला की दृष्टि से 'मृच्छकटिक' निःसंदेह एक सुन्दर तथा सफल नाटक है। शूद्रक ने संस्कृत-साहित्य में शायद पहिली बार मध्यम श्रेणी के लोगों को अपने नाटक का पात्र बनाया है। संस्कृत का नाटक उच्च श्रेणी के पात्रों के चित्रण में तथा तदनुकूल कथानक के गुम्फन में अपनी भारती को चरितार्थ मानता है,

परन्तु शूद्रक ने इस क्षुण्ण मार्ग का सर्वथा परित्याग कर अपने लिए एक नवीन पंथ का ही अविष्कार किया है। उसके पात्र दिन-प्रतिदिन हमारे सड़कों पर और गलियों में चलने फिरनेवाले , रक्तमांस से निर्मित पात्र है, जिनके काम को जाँचने के लिए न तो कल्पना को दौड़ाना पड़ता है और न जिनके भावों को समझने के लिए मन के दौड़ की जरूरत होती है। मृच्छकटिक की इसीलिए शास्त्रीय संज्ञा 'संकीर्ण प्रकरण' की है, क्योंकि इसमें लुच्चे-लबारों, चोर-जुआरों; वेश्या-विटों का आकर्षण वायु-मण्डल है, जहाँ धौल-धुपाड़ों की चौकड़ी सदा अपना रंग दिखाया करती है। आख्यान तथा वातावरण की इस यथार्थवादिता और नैसर्गिकता कारण ही मृच्छकटिक पाश्चात्य आलोचकों की विपुल प्रशंसा का भाजन बना हुआ है। यहाँ कथावस्तु की एकता का भंग नहीं है, यद्यपि वर्षाकाल नाटक के व्यापार में शैथिल्य अवश्य ला देता है। शूद्रक का कविहृदय स्वयमापतित वर्षाकाल की मनोहरता से रीझ उठता है और वह कथा के सूत्र को छोड़कर उसमें मनोहर वर्णन में जुट जाता है सिवाय इस वर्णनात्मक विषय के विभित्र घटनाओं के सूत्रों का एकीकरण बड़ी सुन्दरता से किया है। 'दरिद्र-चारूदत' के समान इसमें केवल एकात्मक प्रणयाख्याम नहीं है, प्रत्युत उस के साथ एक राजनैतिक आख्यान का भी पूर्ण सामंजस्य अपेक्षित है। शूद्रक ने इन दोनों आख्यानों को एक अन्विति को एक उन्विति के भीतर रखने का पूर्ण प्रयास किया और इसमें उनमें इन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है। पात्रों के विषय में यह भूलना न चाहिए कि वे किसी वर्ग -विशेष के प्रतिनिधि ('रिप्रिजेन्टेटिव) न होकर स्वयं 'व्यक्ति' है। वे 'टाइप' नहीं हैं, प्रत्युत 'व्यक्ति' है। मृच्छकटिक के अमेरिकन भाषान्तरकार डॉ0 राइडर ने ठीक ही कहा है कि इस नाटक के पात्र 'सार्वभौम' (कास्मोपालिटन) है, अर्थात् इस विश्व के किसी भी देश या प्रान्त में उनके समान पात्र आज भी चलते-फिरते नजर आते है। इसके सार्वभौम आकर्षण का यही रहस्य है। यूरोप या अमेरिका की जनता के सामने इस नाटक का अभिनय सदा सफल इसलिए हो पाया है कि वह इसके पात्रों से मुठभेंड़ अपने ही देश में प्रतिदिन किया करती है। इनमें पौरस्त्य चाकचिक्य की झाँकी का अभाव कभी भी इन्हें दूरदेशस्थ पात्रों का आभास भी नहीं प्रदान करता। डाक्टर कीथ भले ही इन्हें पूरे 'भारतीय' होने की राध दें , परन्तु पात्रों के चरित्र में कुछ ऐसा जादू है कि वह दर्शकों के सिर पर चढ़कर बोलने लगता है। आज भी माथुरक जैसे सभिक तथा उसके सहयोगियों का दर्शन कलकत्ता तथा बम्बई की ही गलिया में नहीं होता है, प्रत्युत लण्डन के ईस्ट एण्ड़ में भी वे घूमते-घामते घौले-घप्पड़ जमाते नजर आते है, जहाँ का 'जुआड़ियों का अड्डा' (गैम्बलिंग डेन) आज भी पुलिस की नजर बचाकर दिन दहाडे चला करता है। तात्पर्य यह है कि शूद्रक के पात्र मध्यम तथा अधम श्रेणी के रोचक पात्र है, जिनका इतना यथार्थ चित्रण संस्कृत के रूपकों में फिर नहीं हुआ। शूद्रक की नाटककला वस्तुतः श्लाघनीय है स्पृहणीय है।

अभ्यास प्रश्न 1

1-मृच्छकटिकम् के रचयिता कौन है।

2- मृच्छकटिकम् के आरम्भ में किसका वर्णन है।

3-शूद्रक किस नगर के राजा थे।

4-शूद्रक किस शास्त्र में प्रवीण थे।

5-वसन्तसेना कौन थी।

अभ्यास प्रश्न 2

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. मृच्छकटिकम् का अर्थ है-

(क) लोहे का घोड़ा (ख) सोने का घोड़ा

(ग) मिट्टी का गाड़ी (घ) लकड़ी की गाड़ी

2. मृच्छकटिकम् की मुख्य नायिका है-

(क) मदनिका (ख) वसन्तसेना

(ग) गौरी (घ) पार्वति

3. शूद्रक भक्त है-

(क) कृष्ण का (ख) शिव का

(ग) विष्णु का (घ) ब्रह्म का

4. मृच्छकटिकम् का सबसे विचित्र नाटकीय पात्र है-

(क) वसन्तसेना (ख) चारूदत्त

(ग) मदनिका (घ) शकार

5. शकार का राजा से सम्बन्ध है-

(क) साला का (ख) मामा का

(ग) भाई का (घ) पिता का

4.3.2 विशाखदत्त का व्यक्तित्व एवं कृतित्व—

विशाखदत्त राजनीति-विषयक नाटकों की रचना में प्रवीण प्रतीत होते है । इनकी विश्रुत रचना तो 'मुद्राराक्षस' ही है, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन से सम्बद्ध है और जो अमात्य चाणक्य की बुद्धिमत्ता तथा कुटनीतिमत्ता का एक विमल निदर्शन है।

विशाखदत्त का जीवन परिचय— नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा विशाखदत्त का कुछ परिचय दिया गया है। विशाखदत्त के पितामह वटेश्वरदत्त थे। इनके पिता का नाम महाराज पृथु अथवा भास्कर दत्त था। कहीं-कहीं इनका नाम विशाखदेव भी मिलता है। इनके पिता तथा पितामह के नामों को देखने से प्रतीत होता है कि सम्बन्ध किसी राजवंश से था, क्योंकि प्राचीन काल में किसी एकच्छत्र सम्राट् के अधीनस्थ राजाओं को 'सामन्त' कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि विशाखदत्त किसी चक्रवर्ती सम्राट् के आश्रित थे। इन्होंने उसी राजा के गुणों का वर्णन नाटक में प्रकारान्त से किया है। मुद्राराक्षस में विशाखदत्त के जीवन के विषय अन्तः साक्ष्य नहीं है। फिर भी इस नाटक में गौड़देश की प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा सूक्ष्मतिसूक्ष्म बातों का वर्णन होने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये गौड़देश के वासी थे। उनके प्रदेश में धान की खेती अधिक मात्रा में होती थी। इसी कारण धान की सघनता से वे पूर्णतः परिचित थे। मलयकेतु की सेना में रहने वाले खर्शो के प्रति विशाखदत्त का विशेष लगाव दिखाई पड़ता है। इससे लगता है कि विशाखदत्त देश के वासी थे। मुद्राराक्षस के अन्तिम श्लोक 'भरतवाक्य' से भी विद्वानों ने विशाखदत्त आश्रयदाता राजा का अनुमान किया है। यह श्लोक इस प्रकार है-

वाराहीमात्योनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री
म्लेच्छैरूद् वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
सश्रीमद्बबन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्दगुप्तः।।-(7/19)मुद्रा0

इस श्लोक के अन्त में चार पाठभेद हैं-

1. पार्थिवो रन्तिवर्मा
2. पार्थिवोऽवन्तिवर्मा
3. पार्थिवो दन्तिवर्मा

4. पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः

इस चारों पाठभेदों में से प्रामाणिक पाठ का निर्णय होने पर विशाखदत्त के काल का भी निर्णय हो सकता है। प्रथम पाठ में कथित राजा रन्विर्मा के नाम का उल्लेख किसी भी इतिहासकार ने नहीं किया है। अतः रन्तिवर्मा के साथ कवि विशाखदत्त का सम्बन्ध किसी भी तरह स्थापित नहीं किया जा सकता है। दूसरा पाठ 'अवन्ति वर्मा' है। इतिहास के अनुसार अवन्तिर्मा नाम के दो राजा हुए हैं। पहले काश्मीर के राजा तथा दूसरे कन्नौज के मौखरिवंश के थे। काश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा नवीं शताब्दी के मध्य (855-863ई०) में हुए थे। कवि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में काश्मीर नरेश के लिये म्लेच्छ जैसे घृणित नाम का प्रयोग किया है। इसलिये विशाखदत्त के आश्रयदाता काश्मीर नरेश नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि याकोबी ने नाटक की प्रस्तावना में उल्लिखित चन्द्रग्रहण को 2 दिसम्बर 860ई० का माना है। अतः विशाखदत्त निश्चित ही इस चन्द्रग्रहण से पूर्व के होने चाहिये। अतः विशाखदत्त काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के काल के प्रतीत नहीं होते हैं।

दूसरे अवन्ति वर्मा भी भारत कन्नौज के मौखरि वंश के थे। इनका समय छठीं शताब्दी उत्तरार्ध में था। किन्तु यह राजा कभी भी भारत का एकछत्र सम्राट नहीं था, जैसा कि वर्णन विशाखदत्त ने भरतवाक्य में किया है। दूसरी बात यह है कि इस अवन्तिवर्मा ने कभी भी म्लेच्छों को परास्त नहीं किया था। कुछ लोग कहते हैं कि अवन्तिवर्मा ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की सहायता से सन् 582ई० में हूणों को परास्त किया था तथा तथा भरतवाक्य में कथित म्लेच्छ पद हूणों के लिये ही आया है। किन्तु म्लेच्छ कहने से हूणों का ही अर्थ लिया जाए, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि विशाखदत्त ने तो नाटक में कुतूलाधिपति चित्रवर्मा, मलय के राजा सिंहनाद, कश्मीर नरेश पुष्कराक्ष, सिन्धु के शासक सिन्धुशेण तथा फारस के अधिपति मेघ को भी म्लेच्छ कहा है। पर्वतश्वर तथा मलयकेतु को भी विशाखदत्त म्लेच्छ कहते हैं। फिर भरतवाक्य में उल्लिखित 'म्लेच्छ' पद से हूणों को मानकर कन्नौज के राजा अवन्तिवर्मा का पाठ भी उचित नहीं लगता। तृतीय पाठान्तर में राजा दन्तिवर्मा को स्वीकार किया गया है। दन्तिवर्मा पल्लवनरेश थे। इनका समय अष्टम शतक उत्तरार्ध है। किन्तु इन राजा दन्तिवर्मा ने म्लेच्छों को परास्त किया था-इसका कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। साथ ही प्रो० ध्रुव ने कहा है कि पल्लव राजा कट्टर शैव थे, जबकि विशाखदत्त ने इन्हें विष्णु का अवतार माना है। अतः 'दन्तिवर्मा' का यह पाठभेद ठीक नहीं है। अन्ततः 'चन्द्रगुप्त' यह पाठ ही परिशेषात् उचित मालूम पड़ता है। इतिहास में तीन चन्द्रगुप्तों का वर्णन मिलता है। प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य, दूसरे गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम तथा तीसरे चन्द्रगुप्त मौर्य ही मुद्राराक्षस के नायक हैं। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के राक्षस के मुख से चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त के लिए कटुशब्दों का प्रयोग किया है इसलिये चन्द्रगुप्त मौर्य विशाखदत्त के आश्रयदाता नहीं हो सकते। दूसरे गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम ने म्लेच्छों को परास्त किया था-इस बात का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं हैं अन्ततः विशाखदत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के आश्रय में थे-इसी बात को स्वीकार किया जा सकता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त किया था। विशाखदत्त ने शकों को म्लेच्छ कहा है। भरतवाक्य में चन्द्रगुप्त को विष्णु का अवतार कहा गया है। यह बात चन्द्रगुप्त द्वितीय पर पूर्ण लागू होती है। उन्हें भी विष्णु भक्त तथा विष्णुका अवतार माना जाता है।

इस प्रकार इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विशाखदत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रामदित्य के काल में (400ई०) हुए थे। भरतवाक्य में प्रयुक्त 'अधुना' शब्द से विक्रमादित्य तथा विशाखदत्त की समानकालीनता सिद्ध होती है। मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढिराज पण्डित जैसे कुछ लोगों का कहना है भरतवाक्य में उक्त राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ही हैं क्योंकि प्रसरत: वहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य का ही नाम उचित लगता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी सेल्यूकस को परास्त किया था तथा सेल्यूकस को यूनानी होने से म्लेच्छ कहा जा

सकता है। किन्तु ऐसा मानने पर भी विशाखदत्त को चन्द्रगुप्त मौर्य का आश्रित नहीं माना जा सकता है, क्योंकि नाटक में चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के लिये कटुवचनों का प्रयोग है। ऐसी दशा में तो विशाखदत्त का काल ही निर्धारित नहीं हो सकता है।

इस प्रकार कुल मिलाकर विशाखदत्त को चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (400ई०) के ही काल का मानना न्यायसंगत है।

विशाखदत्त का समय निर्धारण—

विशाखदत्त के कालनिर्णय में बहिःसाक्ष्य बहुत कम सहायक हैं। इनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम मुद्राराक्षस की चर्चा धनिक कृत दशरूपावलोक (1/68) में है-तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्। धनिक का समय 1000ई०है। एक अन्य स्थल (2/55) पर भी इस ग्रन्थ में धनिक ने इस नाटक में प्रयुक्त मन्त्रशक्ति और अर्थशक्ति के उदाहरण दिये हैं। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण (5/65) में मुद्रारक्षस का नाम लिये बिना इसके दो पद्य (1/22 तथा 3/21) उद्धृत किये हैं। यह 11 वीं शताब्दी ई० का ग्रन्थ है। इनकी अपेक्षा इसीलिए अन्तः साक्ष्य अधिक चर्चित और व्यवस्थित है।

अन्त:साक्ष्य की दृष्टि से चार महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय हैं-(1) भरतवाक्य में 'चन्द्रगुप्त' आदि पाठ, (2) भरतवाक्य में म्लेच्छों के आक्रमणकी चर्चा, (3) प्रस्तावना में चर्चित चन्द्रग्रहण तथा (4) जैन-बौद्ध धर्मों के प्रति विचार। इनका क्रमश: विवेचन किया जाता है।

भरतवाक्य में चन्द्रगुप्तादि पाठ-मुद्राराक्षस के भरत-वाक्य (7/18) में उत्तरार्ध इस प्रकार है-

म्लेच्छैरुद्वीज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं प्रार्थिवश्चन्दगुप्तः।

इसमें राजा चन्द्रगुप्त के द्वारा पृथ्वी की चिर-रक्षा का आशीर्वाद है। भरतवाक्य कथानक का अंक नहीं होता, अपितु उसमें नाट्यकार अपने समकालिक किसी राजा के प्रशंसा करता है। यद्यपि इस प्रसंग में 'पार्थिवोऽवन्तिवमां' 'पार्थिवो दन्तिवर्मा' 'पार्थिवो रन्तिवर्मा' इत्यादि अनेक पाठ मिलते हैं, तथापि बहुसंख्यक विद्वानों ने 'चन्द्रगुप्त' वाले पाठ को मूल एवं अन्य पाठों को परिवर्तित (ऊह-रूप) कहा है। यह चन्द्रगुप्त प्रसिद्ध गुप्तवंशीय नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय था जिसका शासन-काल 375ई० से 413 ई० तक माना जाता है। विशाखदत्त का अन्य नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' भी इसी राजा के सिंहासनारोहण से सम्बद्ध है। गुप्तवंशीय राजा विष्णु के उपासक थे। उक्त भरतवाक्य में भी विष्णु की वराहमूर्ति की चर्चा है। गुप्तकाल के ही उद्यगिरि-अभिलेख वाली गुफा में चित्रित वराह की मूर्ति मिली है जिसमें असुरों से पृथ्वी की रक्षा वराह कर रहे हैं, भरतवाक्य का सीधा सम्बन्ध इस गुहाचित्र से है। मुद्राराक्षस की विषय-वस्तु और अभिनेयता ने इसका अभिनय बार-बार कराया था; संकट के बाद राज्य पाने वाले राजाओं ने इसके मंचन को शुभ मानकर इसका अभिनय कराया और उनके प्रशंसकों ने राजा का नाम भरत-वाक्य में बदलना आरम्भ कर दिया। इसीलिए अवन्तिवर्मा आदि अनपेक्षित नामों वाले पाठ उत्पन्न हुए। तेलंग, ध्रुव तथा पं० बलदेव उपाध्याय ने अवन्तिवर्मा (मौखरिवंश के राजा, षष्ठ शताब्दी ई० का उत्तरार्ध) वाले पाठ को प्रामाणिक मानकर विशाखदत्त का समय 550-600ई० माना है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके प्रतिकूल है। लेखक ने चुन्द्रगुप्त मौर्य और चन्द्रगुप्त द्वितीय की राज्य-प्राप्ति में साम्य देखकर इस नाटक की रचना की प्रेरणा पायी थी; उसका प्रबल समर्थन उन्होंने 'देवीचन्द्रगुप्त' लिखकर किया।

भारतवर्षके जिस रूप की प्रशंसा मुद्राराक्षस (3/19 आ शैलेन्द्रात्.....आतीरात् दक्षिणस्यार्णवस्था) में की है, वह अवन्तिवर्मा के राज्य में सम्भव नहीं था; अपितु चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही राज्य था। गुप्तकाल में ही पाटलिपुत्र में समारोह-पूर्वक कौमुदी-महोत्सव मनाया जाता था जिसकी मुद्राराक्षस में (3/19 के बाद), भले ही कृतककलह के निमित्त उसके निषेध के लिए, चर्चा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में,

फाहियान के अनुसार, बौद्ध धर्म की स्थिति अच्छी थी। मुद्राराक्षस में वर्णित व्यवस्था से उसकी संगति बैठ जाती है। इस प्रकार विशाखदत्त को 400-450 ई० में मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

म्लेच्छों का आक्रमण- उपर्युक्त भरत वाक्य में म्लेच्छों के आक्रमण का उल्लेख है जिसका प्रतीकार विशाखदत्त के समकालिक (अधुना) राजा चन्दगुप्त या अवन्तिवर्मा ने किया था। प्राचीन भारत में सामान्यतः विदेशियों को 'म्लेछ' कहा जाता था; वे वर्णाश्रम-धर्म को नहीं मानते थे। ईस्वी सन की प्रारम्भिक शताब्दियों में क्रमश: शकों तथा हूणों को म्लेच्छ कहते थे; यह बात अवश्य थी कि म्लेच्छों ने यहाँ शासन करना आरम्भ कर दिया था। 'अवन्तिवर्मा' पाठ मानने वाले कहते हैं कि इस राजा ने प्रभाकरवधर्न (हर्ष के पिता) के सहयोग से 582 ई० में हूणों को पराजित किया था। किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा अपने सिंहासनारोहण के समय ही शकों को पराजित करने का तथ्य इसकी अधिक प्रबल है; शकराज को मारकर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने ध्रुवदेवी से परिणय किया ताकि म्लेच्छों से आक्रान्त पृथ्वी पर पुनः सनातन व्यवस्था स्थापित की। इसकी संगति अधिक ग्राह्य है।

चन्द्रग्रहण का उल्लेख

मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में ऐसे चन्द्रग्रहण का उल्लेख है जो बुध-योग के कारण टल जाता है। यद्यपि इसमें श्लेष द्वारा ज्योतिषशास्त्रीय एवं प्रकृत विषय-दोनों का निरूपण है,' किन्तु इसमें निर्दिष्ट तथाकथित चन्द्रग्रहण की व्यवस्था को लेकर भी विद्वानों ने विशाखदत्त का काल निरूपित किया हैं विशाखदत्त ज्योतिष के विद्वान् थे। इस शास्त्र में बुध योग से चन्द्रग्रहण का निवारण-सिद्धान्त वराहमिहिर (500ई० के लगभग) के पूर्व में ही प्रचलित था। वराहमिहिर ने अपनी 'बृहत्संहिता' में कहा है कि बुधयोग से चन्द्रगहण का निषेध नहीं होता। यह स्थिति विशाखदत्त को 500ई० पूर्व सिद्ध करती है जो चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के राज्यकाल में या उससे कुछ ही बाद विशाखदत्त का काल मानने का समर्थन करती है।

जैन-बौद्ध धर्मों के प्रति धारणा

मुद्राराक्षस के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त के समय में जैन और बौद्ध धर्म समाज में आदरणीय थे। इस नाटक के सप्तम अंक में राक्षस कहता है कि बोधिसत्त्वों का तग तो प्रसिद्ध है किन्तु चन्दनदास ने अपने कर्म से (मित्र के लिए प्राणत्याग करते हुए) उनके चरित्र को भी न्यून बना दिया (7/5)। इसी प्रकार क्षपणक जीवसिद्धि का ब्राह्मणों के साथ रहना भी जैनधर्म के प्रति आदरभाव का सूचक है। ये दो धर्म सप्तम शताब्दी से हासोन्मुख हुए। अतः विशाखदत्त को 600ई० से पूर्व रखना उपयुक्त है। इस दृष्टि से वे मौखरि अवन्तिवर्मा के अथवा चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में भी रखे जा सकते हैं किन्तु अन्य स्थितियाँ (जैसे सम्पूर्ण भारत का एकछत्र राज्य मानना, विष्णु से अपने आश्रयदाता की भरतवाक्य में तुलना, देवीचन्द्रगुप्त की रचना इत्यादि) विशाखदत्त को चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में सिद्ध करती हैं। प्रो० हिलब्राँ ,स्पेयर, टॉनी, रणजित पण्डित, सी० आर० देवधर आदि इसी के समर्थक हैं। इस मत के प्रवर्तक प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल थे।

विशाखदत्त का कृतित्व—

मुद्राराक्षस के अतिरिक्त विशाखदत्त के अन्य दो ग्रन्थ हैं-देवीचन्द्रगुप्तम् तथा अभिसारितवच्चितकम्। 'देवीचन्द्रगुप्तम' में चन्द्रगुप्त द्वितीय के पराक्रम का भव्य वर्णन है। 'अभिसारितवच्चितकम्' में वत्सराज उदयन के चरित्र का वर्णन है।

मुद्राराक्षस का परिचय— मुद्राराक्षस में राक्षस की मुद्रा (अंगुठी) की विशेष भूमिका है। इसी मुद्रा के द्वारा चाणक्य ने राक्षस को वश में किया। मुद्राराक्षस का ही यही अर्थ है-मुद्रया गृहीतः राक्षसः यस्मिन् तत् मुद्राराक्षसं नाटकम्। चाणक्य ने शकटदास से एक गुप्त पत्र लिखवाकर उस पर राक्षस की अंगूठी से चिन्ह लगाया तथा उसी पात्र के आधार पर मलयकेतु को राक्षस से अलग कर दिया। संस्कृत नाटकों में

मुद्राराक्षस का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यह सात अंकों में विभक्त है। इसका नायक धीरोद्धत ब्राह्मण चाणक्य है तथा प्रतिनायक अमात्य राक्षस है। चन्द्रगुप्त उपनायक तथा मलयकेतु उपप्रतिनायक है। इसमें वीररस प्रधान रस है। सम्पूर्ण नाटक में चाणक्य की कूटनीतियों का विलास है। अपनी कूटनीतियों के जाल में चाणक्य राक्षस को फंसाकर उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनने के लिये विवश कर देता है।

मुद्राराक्षस की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1.सामान्यतया संस्कृत नाटक प्रेमकथा पर आश्रित रहते हैं। कालिदास के तीनों नाटकों का आधार प्रेमकथा ही है, किन्तु मुद्राराक्षस में प्रेमकथा का सर्वथा अभाव है। इसलिये मुद्राराक्षस में नायिका ही नहीं है। यहाँ तक कि इस नाटक में स्त्रीपात्र भी केवल तीन हैं- मलयकेतु की प्रतिहारी शोणोत्तरा, विजया तथा चन्दनदास की पत्नी। किन्तु ये स्त्रीपात्र भी श्रृंगार का उद्दीपन नहीं करते हैं। इस नाटक में श्रृंगार भावना का पूर्णतः अभाव है। चाणक्य की कूटनीति के दांव-पेचों से सारा नाटक व्याप्त है।

2.नायिका के साथ-साथ इस नाटक में विदूषक का भी अभाव है। राजीनीति के दांव-पेचों में उलझे हुए दर्शकों को विदूषक का अभाव जरा भी नहीं खलता है।

3.मुद्राराक्षस की तीसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें बिना युद्ध के ही चाणक्य ने राक्षस को वश में कर लिया है- विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जयं परबलमिति। नाटक में एक भी अस्त्र-शस्त्र नहीं चला, न ही कोई मारा गया या घायल हुआ फिर भी केवल कूटनीति के आधार पर ही राक्षस की पराजय हो जाती है।

4. मुद्राराक्षस एक नवीन प्रकार की रचना है। यह नाटक के नियमों के पूर्णतः अनुरूप नहीं है, क्योंकि इसकी रचना कोई नाटय शास्त्रीय नियमों को मानकर चलने के लिये नहीं हुई, बल्कि जनमनोरंजन के लिए हुई है। यद्यपि विशाखदत्त नाटयशास्त्र के नियमों के पूर्णतः ज्ञाता थे, तथापि उन्होंने नवीन प्रयोग कर अपनी वैयक्तिक प्रतिभा दिखाने का सफल प्रयास किया है। मुद्राराक्षस में नाटकों में प्राचीन परम्परा के अनुसार कोई प्रख्यातवंशीय राजा नायक नहीं बना है, अपितु एक साधारण ब्राह्मण नायक बना है। इसका इतिवृत्त भी किसी प्रेमकथा पर आधारित न होकर ऐतिहासिक है। इस प्रकार विशाखदत्त ने अपनी इस रचना में नवीन प्रयोग किया है।

5. मुद्राराक्षस में सभी प्रमुख पात्रों का चरित्र अत्यन्त सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। राक्षस-चाणक्य तथा मलयकेतु-चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वन्द्व प्रमुख रूप से वर्णित है। चन्द्रगुप्त चाणक्य का अंधभक्त है, जबकि मलयकेतु पग-पग पर राक्षस पर संदेह करता है। राक्षस तथा चाणक्य के परस्पर संघर्ष पर ही उन दोनों का चारित्रिक विकास निर्भर है।

6.मुद्राराक्षस की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है-उसके इतिवृत्त की योजना। विशाखदत्त ने सम्पूर्ण नाटक में कथा के तीनों-बानों का जाल बड़ी कुशलता से बुना है। कथा के प्रारम्भ में सभी घटनाएँ अलग-थलग बढ़ती हुई दिखाई देती हैं तथा अन्त मे उन सभी घटनाओं का एक स्थान पर सामंजस्य होता है। सम्पूर्ण नाटक में कोई भी ऐसा पात्र नहीं है जो कि निरर्थक हो। चाणक्य के द्वारा नाटक के प्रारम्भ में प्रयुक्त सभी व्यक्ति अन्ततः राक्षस को वश में करने में सफल भूमिका निभाते हैं। कथावृत्त की ऐसी चातुर्यपूर्ण योजना विशाखदत्त की अनुपम विशेषता है।

विशाखदत्त की शैली

मुद्राराक्षस में विशाखदत्त का अभिनव रचना कौशल दिखलाई पड़ता है। मुद्राराक्षस की शैली प्रसादगुणयुक्त तथा प्रांजल है। इसकी भाषा मधुर तथा सरल है।

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्
सन्ध्यारुणामिव कलां शशला छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं

को हर्त्तुमिच्छति हरेः परिभूय द्रंष्ट्राद्रम्।। -1/8

मुद्राराक्षस में शब्दविन्यास या तो असमस्त है या अल्पसमस्त। इसमें श्लोकों की भी प्रचुर योजना है। इसका गद्यभाग भी अत्यन्त प्रभावशाली तथा संवाद बड़े रूचिकर हैं। जैसे-

''अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः।''

''कीदृशः पुनः तृणानामग्निा सह विरोधः।''

इसमें सभी पात्रों का चित्रण भी बड़ा स्वाभाविक है। इतिवृत्त की योजना में कवि नितान्त निपुण हैं।

बोध प्रश्न-2

अभ्यास प्रश्न-2

(अ) विशाखदत्त के पिता का नाम क्या था ?

(क) अन्नभट्ट

(ख) भास्करदत्त या पृथु

(ग) विभ

(घ) भानुदत्त

(ख) मुद्राराक्षस कितने अंकों में विभक्त है?

(क) 5

(ख) 10

(ग) 7

(घ) 12

(स) नायिका रहित नाटक का नाम बताइये

(क) हर्षचरित

(ख) वासवदत्ता

(ग) अभिज्ञानशाकुन्तल

(घ) मुद्राराक्षस

निम्न में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) विशाखदत्त का समय ---------- माना गया है।

(ख) मुद्राराक्षस के नायक का नाम.....है।

(ग) .....के गुरु का नाम चाणक्य है।

3. निम्न प्रश्नों में सही के सामने (√) तथा गलत के सामने (×) चिन्ह लगायें।

(क) राक्षस ब्राह्मण वर्ण का है। ( )

(ख) चाणक्य ने शक वंश का नाशकिया ( )

(ग) इस नाटक में वीर रस का प्रयोग ( )

4.3.3 भर्तृहरि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भर्तृहरि का जीवन परिचय—

व्यक्ति विशेष के साथ यह कम ही दिखलाई पड़ता है कि उसमें सरस्वती और लक्ष्मी का वास साथ-साथ हो। ऐसा इसलिए माना जाता है कि हिन्दू धर्म दर्शन में अनेक स्थानों पर इनमें आपस में वैमनस्यता का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में तो इन्हें (सरस्वती और लक्ष्मी) को सौत माता तक की उपाधि प्रदान की जाती है। इस आधार पर दोनों माताओं का साथ रहना निश्चित रूप से अद्भुत संयोग ही

माना जाता है। स्वभावगत विश्लेषण भिन्न होने का एक प्रमुख कारण यह भी कहा जाता है कि एक बुद्धि तथा दूसरे को वैभव के प्रतीक के रूप में उजागर कर विद्वान दोनों को अलग ही रखते हैं। सामाजिक जीवन में भी यह पाया जाता है कि सम्पन्न व्यक्ति, सेठ, साहूकार राजा महाराजा विद्वान नहीं होते अपितु व्यवस्था को चलाने के लिए हर क्षेत्र विशेष के विद्वानों का एक पुंज अपने साथ रखते हैं जबकि इसके विपरीत कवि, लेखक, कलाकार, गायक, शिल्पकार, विद्वान धन से विहीन पाये जाते हैं।

यहॉ इस संयोग का सीधा प्रभाव व्यक्ति पर पड़ने से तात्पर्य है कि वह व्यक्ति विद्वान भी होगा और सम्पन्न भी होगा। वैश्विक इतिहास को यदि हम छोड़ दे और भारतीय इतिहास को देखें ऐसे अनेक राजा महाराजाओं का उल्लेख मिलेगा जो विद्वान और सम्पन्न थे किन्तु यह गिनती के ही मिलेगे। राजा भर्तृहरि ऐसे ही पूर्ण प्रकृति पुरूषों की संज्ञा में आते हैं जिनपर लक्ष्मी और सरस्वती की समान कृपा थी। यह संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे साथ ही उनकी प्रसंशा एक प्रसिद्ध कवि और परिपूर्ण शास्त्री के रूप में की जाती है। भर्तृहरि एक विशाल साम्राज्य के शासक थे जिसकी राजधानी उज्जयिनि भी जिसे वर्तमान में उज्जैन के नाम से जाना जाता है।

मालवा राज्य पर राजा भर्तृहरि का शासन था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। राज्य और शासन व्यवस्था पर राजा भर्तृहरि का ध्यान समान रूप से था। भर्तृहरि के छोटे भाई राजा विक्रमादित्य थे। यह नाम उनकी प्रसिद्धि के पश्चात् ही प्राप्त हुआ जबकि इस नाम से पूर्व उनको विक्रम के नाम से जाना जाता था। विक्रम के विषय में ऐसा विचार था कि वह विद्वान, न्यायप्रिय, धर्मामात्मा राजनीति के ज्ञाता और प्रतिभाशाली तथा प्रभावशाली राजा थे। यही कारण था कि राजा भर्तृहरि ने इनको अपना प्रधानमंत्री बनाया। दोनों भाईयों के मध्य प्यार और सर्मपण की मिसाल मिलती रही है। ऐसा कहा जाता है कि ऐसा प्रेम राजा रामचन्द्र और लक्ष्मण जैसा ही था। विश्वास शब्द इन दोनों से ही आरम्भ होता था। भर्तृहरि विक्रम से पुत्रवत् स्नेह करते थे और विक्रम राजा भर्तृहरि से पितावत श्रद्धा और सम्मान रखते थे। राजा भर्तृहरि ने दो विवाह किये थे परन्तु इन दोनों विवाहों के पश्चात् भी आपने पिंगला नाम की राजकुमारी से विवाह किया। पिंगला अप्सराओं की भांति सम्पूर्ण सौन्दर्य को समेटे हुए थीं। असाधारण सौन्दर्य की धनी पिंगला पर राजा भर्तृहरि इस प्रकार से मोहित हुए कि वह विद्या, विवेक, संयम को त्याग कर दास स्वरूप जीवन व्यतीत करने लगें। पिंगला यद्यपि राजा के समक्ष तो पतिव्रता की मूर्ति स्वरूप थी किन्तु उनके मन में घुड़साल का दारोगा बसे थे। वह घुड़साल के दरोगा की पूजा मन में करती थीं, जबकि घुड़साल का दरोगा नगर की वेश्या पर मुग्ध था। राजा भर्तृहरि के राज्य में एक निर्धन ब्राह्मण रहता था जो ईश्वर की अराधना में लीन रहता था एक दिन साक्षात् ईश्वर ने दर्शन देकर कहा कि हे! राजन मैं तुमको एक फल देता हूँ जो तुम्हें निरोगी और चिर आयु रखेगा। वह ब्राह्मण फल लेकर राजा के पास आया और राजा ने उसको उपहार स्वरूप धन देकर वह फल ले लिया और उस फल को पिंगला को दे दिया कि इससे तुम सदैव सुन्दर और युवा बनी रहो किन्तु पिंगला ने वह फल घुड़साल के दरोगा को दे दिया दरोगा ने वह फल वेश्या को दिया और वेश्या ने वह फल पुनः राजा को दिया और सारी सच्चाई राजा के सम्मुख आ गयी। राजा भर्तृहरि इससे अत्यन्त दुःखी हुए और सारा राज-पाठ अपने छोटे-भाई को देकर स्वयं जंगल की ओर चले गये।

भर्तृहरि की कृतियाँ—

भर्तृहरि संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वानों में गिने जाते थे। उनकी यह विद्धता उनके द्वारा रचित अनेक पुस्तकों, ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है। भर्तृहरि को जो भी प्रसिद्धि प्राप्त हुई उनमें नीतिशतक, श्रृंगारशतक तथा वैराग्यशतक का उल्लेख प्रमुखता से मिलता है। आपके तीनों शतकों का विश्लेषण वर्गीकरण के आधार पर निम्न प्रकार से किया जाता है।

नीतिशतक :- यह सर्वविदित रूप में प्राप्त होता है कि भर्तृहरि उज्जयिनी के राजा थे। इनकी राज व्यवस्था तथा नीतियों से प्रजा, जनता एवं पदाधिकारी सभी लाभान्वित तथा सुखी होने का अनुभव व्यतीत करते हैं। भर्तृहरि की विद्वता पर किसी प्रकार का संशय किया ही नहीं जा सकता था। आपने नीतिशतक के अन्तर्गत व्यवस्था संचालन की प्रथम इकाई मानव का चयन किया। वह उसके व्यवहार का सूक्ष्म अध्ययन यह प्रकट करना चाहते थे कि जैसा व्यक्ति वैसा व्यवहार तथा इन दोनों के अनुरूप वैसी नीति का क्रियान्वयन सम्मिलित होना चाहिए। भर्तृहरि ने नीतिशतक में सर्वप्रथम सृष्टि के विभाजक नियामक स्त्री पुरूष को मोहने के लिए बनायी गयी है। वह उनके व्यवहार का चित्रण करते हुए कहते हैं कि वास्तव में वह बात किसी से करती है हॉव-भाव किसी और को दिखाती हैं जबकि विचार किसी अन्य के प्रति रखती हैं। विद्याधन को सर्वोत्तम धन के रूप में स्वीकारते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि विद्याधन चुराने की वस्तु नहीं है क्योंकि यह चुराने वाले व्यक्ति को दिखाई नहीं देती है। विद्या से प्रत्येक का कुछ न कुछ कल्याण होता है यह आपेक्षितों को नियमित देने से भी बढ़ती ही रहती है, यह अन्त तक समाप्त नहीं होने वाली वस्तु है अतः हे राजाओं जिनके पास भी यह धन है किसी प्रकार का घमण्ड़ अहंकार विद्या के लिए मत आने दो। विद्या अर्थात् सरस्वती के पश्चात् लक्ष्मी की चर्चा करते हुए कहते हैं कि लक्ष्मी वैभव का प्रतीक है जिनको यह प्राप्त होती है वह धन्य हो जो हैं किन्तु इस परम को प्राप्त करने के पश्चात् किसी जाति, विषय और धर्म के पाण्डित्य का अपमान न करें क्योंकि यह धन सम्पत्ति इन विद्वानों को किसी बंधन में नहीं बांध सकती हैं। यह उनके वैसे ही है जैसे कमल, डण्ठल से निकलने वाले धागों से मदमस्त हाथी को बांधने का असफल प्रयास है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा भर्तृहरि ने नीतिशास्त्र के अन्तर्गत धर्म और सामाजिक जीवन को संतुलित बनाने का प्रयास किया है।

श्रृंगार शतक :- राजा भर्तृहरि सांसारिक सुन्दरता से प्रभावित थे, राजा भर्तृहरि ने दो विवाह किये थे इन दोनों विवाहों के पश्चात् भी आपने तीसरा विवाह पिंगला नामक राजकुमारी से किया है जो अत्यन्त सुन्दरी तथा सौन्दर्य में वह अप्सराओं को भी मात दिये हुए थीं। उनके सौन्दर्य से प्रेरित होकर इन्होंने श्रृंगारशतक को जमीनी आधार प्रदान किया। अपने श्रृंगारशतक के अन्तर्गत सर्वप्रथम कामदेव को प्रणाम किया और इस बात को स्वीकारा कि यह कामदेव भगवान की देन है कि विराट पुरूष भी मृगनयनियों के वश में हो जाता है। आपने यह कहा है कि स्त्रियों का सबसे बड़ा गहना उनकी भौहों की चंचलता, आँखों का तिरक्षापन तथा लज्जा में परिवर्तित होने वाली हँसी है जिसे वह समय-समय पर अस्त्रों के रूप में प्रयोग करती हैं। स्त्रियों के नयनों की व्याख्या करते हुए राजा भर्तृहरि कहते हैं कि इन नयनों का ही प्रबल प्रभाव है जो धरती पर सभी दिशाओं में खिले हुए कमल की भांति सुन्दर बनाती हैं। अर्थात् देखने वाली सभी सुन्दर वस्तुओं में सबसे सुन्दर चित्र मृगनयनियों के द्वारा देखने की कला से ही प्रचारित होता है।

श्रृंगारशतक के अन्तर्गत कामदेव की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि कामदेव केवल राजा, महाराजाओं तथा धनी व्यक्तियों, सम्पन्न गुणों वालों को ही प्रभावित करते हुए नहीं पकड़ते अपितु मरे हुए व्यक्तियों को भी मारते हैं। इसका प्रभावपूर्ण विस्तृत वर्णन करते हुए यह उजागर किया जाता है कि जब श्रृंगार एक नशा के रूप में व्यक्ति पर छा जाता है तो वह बेहाल और व्याकुल तथा विभिन्न व्याधियों से पीड़ित होते हुए भी केवल और केवल वासना की आसक्ति को स्वीकार करता है। कामदेव के इस प्रभाव को प्रकट करते हुए राजा भर्तृहरि कहते हैं कि नारी अमृत और विष दोनों है नारियों का प्यारा कोई नहीं होता है यह राजा भर्तृहरि के श्रृंगार शतक के अंतिम पक्ष को दर्शाता है और अन्त में आप यह भी स्वीकार करते हैं कि वेश्या विवेक रूपी कल्पना के लिए कुल्हाडी के समान है अतः कुलीन पुरूषों को

वेश्याओं से दूर ही रहना चाहिए और उन्हें यह मानना चाहिए कि वियोग में संयोग होता है और संयोग में वियोग होता है।

वैराग्य शतक :- अपने नीतिशास्त्र के अन्तिम पक्ष में यह माना कि धीर का धैर्य नष्ट नहीं होता है अर्थात् धैर्य पूर्ण स्वभाव वाला मनुष्य कितना ही दुःख में पड़ा हो पर उसका धैर्य समाप्त नहीं किया जा सकता है इसकी तुलना करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि यदि आग का मुँह नीचे की ओर कर दिया जाय तो भी उससे उठने वाली लपटे नीचे की ओर नहीं जाती हैं। नीति शास्त्र का अन्तीम श्लोक भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक के आरम्भिक रूप-रेखा को तय करने के लिए ही बनाया होगा। पिंगला के छल से जागृत होने के पश्चात् कवि, साहित्यकार भर्तृहरि ने अपने छोटे भाई राजा विक्रमादित्य को उज्जयिनी का शासन देने के बाद वैराग्य को ही जीवन दर्शन का आधार बनाया और साधुवादी दृष्टिकोण को अपनाकर सुन्दर उपदेश देना आरम्भ कर दिया। वह धार्मिक आधार पर नवजीवन को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि बह्म ज्ञान के अतिरिक्त सभी ज्ञान केवल एक सामाजिक व्यापार है। ज्ञान, धर्म और तपस्या के माध्यम से ही संसार सागर से पार हुआ जा सकता है जाने का उपाय है।

बोध प्रश्न-3

अभ्यास प्रश्न-3

(1) बहुविकल्पीय प्रश्न-

(क) भर्तृहरि के छोटे भाई का नाम था -

(अ) राज्यवर्धन (ब) विक्रमादित्य (स) चन्द्रगुप्त (द) समुद्रगुप्त

(ख) वाक्यपदीय किसकी रचना है-

(अ) भतृहरि (ब) सुबन्धु (स) दण्डी (द) कालिदास

(ग) भर्तृहरि किससे प्रभावित होकर शतकत्रय की रचना किया

(अ) मधुबाला (ब) रदनिका (स) वसन्तसेना (द) पिंगला

(2) निम्नप्रश्नों में सही (√) के सामने सही तथा गलत के (×) का चिन्ह लगइये-

(क) शतकत्रय की रचना आचार्य दण्डी ने की थी (×)

(ख) भर्तृहरि उज्जयिनि के राजा था। (√)

(ग) राजा भर्तृहरि ने तीन विवाह किया था (×)

(3) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) भर्तृहरि के पिता का नाम.....था।

(ख) श्रृंगारशतक.....की रचना है।

(ग) वैराग्य में .....श्लोक है।

4.3.4 बाण का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

बाणभट्ट का जीवन परिचय—

हर्षचरित प्रारम्भिक उच्छवासों से बाणभट्ट के जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। वे वत्सगोत्रीय ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम चित्रभानु और माता का नाम राजदेवी था। बाण की माता का निधन उनकी वाल्यावस्था में ही हो गया था। बालक बाणभट्ट का पालन-पोषण उनके पिता चित्रभानु ने किया। जब बाण की आयु चौदह वर्षकी थी तभी दुर्भाग्य से उनके पिता का भी देहावसान हो गया। इसके पूर्व ही उनके पिता ने बाण के सभी ब्राह्मणोचित संस्कार यथासमय शास्त्रसम्मत

रीति से अपनी कुलपरम्परा के अनुसार सम्पन्न करा दिया था। बचपन में ही बाण के सिर से माता-पिता के हाथों की छाया उठ जाने से बाण अत्यन्त सन्तप्त हो गये किन्तु काल-प्रभाव से जब शोक कम हुआ तो बाण में सहज चपलता पूरी तरह घर कर गयी। पिता, पितामहादि के द्वारा अर्जित और संचित धन-वैभव प्रभूत मात्रा में था। अतः बाण की मित्र-मण्डली खूब जम गयी और वे उन सबके साथ देशाटन के लिए घर से निकल पड़े। इस तरह विभिन्न स्थलों का भ्रमण करने के पश्चात् वे अपनी जन्मभूमि में वापस आ गये।

हर्षचरित के अनुसार, ग्रीष्मकाल में एक दिन महाराज हर्ष के भाई कृष्ण ने बाण को बुलवाया बहुत विचार करके युवक बाण ने वहाँ जाने का निश्चय किया। प्रातःकाल तैयार होकर वे अपने ग्राम प्रीतिकूट से निकले। प्रथम दिन मल्लकूट तथा दूसरे दिन यष्टिग्रहक नामक ग्राम में रात बिताने के पश्चात् तीसरे दिन मणितार के समीप अजिरवती के तट पर स्थित महाराज हर्षदेव के स्कन्धावार में पहुँचे तथा राजभवन के समीप ही निवास किया।

सायंकाल बाणभट्ट महाराज हर्ष से मिलने पहुँचे। प्रथमतः उन्होंने हर्षके हाथी 'दर्पशात' को देखा और तब राजभवन में प्रविष्ट होकर हर्षके दर्शन किये। किन्तु 'यह वही भुजंग बाण है'-कहकर हर्ष ने बाण से बात नहीं की। बाण ने अपनी भुजंगता (लम्पटता) के भ्रम को मिटाने के लिए अपनी ओर से पर्याप्त स्पष्टीकरण दिया किन्तु हर्ष उन पर प्रसन्न न हुए फिर भी हर्ष के प्रति बाण के हृदय में श्रद्धा भर गयी। वे राजभवन से निकलकर अपने मित्रों के यहाँ रूक गये। राजा ने धीरे-धीरे बाण के सम्बन्ध में अच्छी तरह पता किया और उनके वैदुष्य तथा ब्राह्मणोचित स्वभाव से परिचित होने पर प्रसन्न हो गये। पुनः बाण राजभवन में प्रविष्ट हुए तो राजा ने उन्हें प्रेम, मान, विश्वास और धन की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। महाराज हर्ष के साथ बहुत समय तक रहकर बाण पुनः अपनी जन्मभूमि प्रीतिकूट को लौट आए।

बाणभट्ट विवाहित थे। बाण के पुत्र का नाम भूषणभट्ट या पुलिनभट्ट था। इस नाम के विषय में ऐकमत्य नहीं है। भूषणबाण, पुलिन्द, पुलिन्ध्र या पुलिन नाम भी कहे जाते हैं। कादम्बरी विषयक एक जनश्रुति के अनुसार बाणभट्ट के दो पुत्र थे। बाण के चन्द्रसेन और मातृशेण नामक दो भाई भी थे। बाणभट्ट के गुरु का नाम भत्सु या भर्वु था। इनके अन्य भी पाठभेद पाये जाते हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि गुरु का सही नाम क्या था? वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में 'भश्चु' द्वारा निर्मित श्लोक उद्धृत किये गये हैं। महाराजा हर्ष के यहाँ लौटने के पश्चात् अपने बन्धु-बान्धवों के आग्रह पर बाणभट्ट ने महाराज हर्षवर्धन का चरित सुनाया था (अर्थात् अपनी अलंकृत गद्य-शैली में 'हर्षचरित' की रचना की)। इसके पश्चात् बाण के शेष जीवन का वृत्त उपलब्ध नहीं होता। हाँ, किंवदन्ती है कि बाण 'कादम्बरी' को पूरी नहीं कर सके थे और मृत्यु-शैया पर पड़ गये। अपने जीवन के अन्तकाल में उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर पूछा कि कादम्बरी कौन पूरी करेगा ? दोनों पुत्रों ने इसके लिए हामी भरी। तब उन्होंने कादम्बरी के अनुरुप भावकल्पना और भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में परीक्षा लेकर भूषणभट्ट या पुलिनभट्ट को कादम्बरी पूर्ण करने की आज्ञा दी।

बाण का समृद्ध ब्राह्मण-परिवार में पैदा हुए थे। महाराज हर्ष ने भी उन्हें पर्याप्त धन प्रदान किया था। अतः भोग-ऐश्वर्य की प्रचुर सामग्री उन्हें उपलब्ध थी। इस तरह उन्हें किसी भी प्रकार का अभाव न था और उनका जीवन आर्थिक दृष्टि से निरापद एवं सुखमय था। बाण और मयूर के सम्बन्ध की चर्चा अनेकत्र प्राप्त होती है। बाण की मित्रमण्डली में स्त्री-पुरुष मिलाकर प्रायः चालीस की संख्या में तरह-तरह के लोग थे। इनमें से एक विषवैद्य 'मयूरक' भी था। मित्रों के नाम और उनके गुण वैशिष्ट्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि ये नाम उनके गुणों के आधार पर रख दिये गये थे (यथा-विषवैद्य मयूरक, पुस्तक-वाचक सुदृष्टि, स्वर्णकार चर्मकर आदि)। किन्तु जिस मयूर के साथ बाण के मैत्री-सम्बन्ध की चर्चा मिलती है, वे हर्ष के सभाकवि के रूप में जाने जाते हैं। कुछ लोग मयूर को बाण का श्वसुर और कुछ

लोग साला कहते हैं। प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा विरचित 'प्रभावकचरित' में बाण और मयूर का श्लोकबद्ध आख्यान मिलता है। तद्नुसार मयूर ने विद्वान् कवि युवक बाण के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया था। एक बार बाण अपनी रूठी हुई पत्नी को मना रहे थे चूँकि बाण पद्य-कवि नहीं थे अतः एक श्लोक की तीन पंक्तियाँ ही बराबर दुहरा रहे थे, चौथी पंक्ति नहीं बन पा रही थी। बाहर उनसे मिलने के लिए आये हुए मयूर खड़े थे। उनसे नहीं रहा गया और उन्होंने श्लोक के भावानुरूप चौथी पंक्ति बनाकर ऊँचे स्वर में कह दी। इस पर पिता का स्वर पहचाने बिना बाण की पत्नी ने चौथी पंक्ति बनाने वाले उस व्यक्ति को मान-रस-भंग करने के अपराध के लिये कुष्ठ होने का शाप दे दिया । बाद में अपने पिता को तत्काल कुष्ठ हुआ देखकर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। फिर मयूर ने 'सूर्यशतक' की रचना करके भगवान सूर्य की आराधना की और उनके प्रभाव से कुष्ठ रोग से मुक्त हो गये। मयूर की काव्यात्मक स्तुति का अद्भुत प्रभाव देखकर बाणभट्ट ने भी अपना प्रभाव प्रकट करने के लिए अपने हाथ-पैर काट डाले और देवी चण्डिका की स्तुति की। भगवती की अनुकम्पा से बाण पुनः पूर्ववत् कमनीय भक्तों वाले हो गये। बाणभट्ट द्वारा विरचित 'चण्डीशतक' प्राप्त होता है। 'प्रबन्धचिन्तामणि' में भी इसी प्रकार का बाण-मयूर विषयक आख्यान मिलता है। अन्यत्र भी इस विषय में संकेत प्राप्त होते हैं। आचार्य मम्मट ने भी काव्यप्रकाशमें मयूर के सम्बन्ध में संकेत किया है।

बाणभट्ट का स्थितिकाल—

संस्कृत साहित्य के जिन कवियों के स्थितिकाल का निर्धारण अत्यन्त दुष्कर है, महाकवि बाणभट्ट उनमें से नहीं है। अन्तः साक्ष्यों के आधार पर बाणभट्ट के स्थितिकाल का निर्धारण सरलता से हेा जाता है। सम्राट हर्षवर्धन के साथ बाणभट्ट का संबंध ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्ट है। बाण, हर्ष की सभा के सम्मानित सदस्य थे। हर्षवर्धन का शासनकाल 606 ई० से 647 ई तक था। बाणभट्ट का समय सातवीं शताब्दी ई० निश्चित ही है। चीनी यात्री ह्वेनसांग 629 ई० से 645 ई० तक भरत में रहा और उसने अपने यात्रा-विवरण में हर्षवर्धन और उनकी राज्यव्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। बाण ने भी हर्ष के जीवनवृत्त का कुछ अंश साहित्यिक रीति से हर्षचरित में सन्निविष्ट किया है। दोनों वर्णनों की तात्विक तुलना करने पर सिद्ध होता है कि दोनों द्वारा वर्णित हर्ष एक ही हैं। बाणभट्ट के समय सम्बन्ध में बर्हिःसाक्ष्यों पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी ई०) ने अपने रचनाओं में अनेकश: बाण का उल्लेख किया है। भोजराज अपने सरस्वती- कण्ठाभरण में बाण की रचनाओं से उदाहरण देते हैं भोजराज भी 11वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में शासन करते थे ऐसा प्रमाणों से पता चलता है। सोड्ढल ने उदयसुन्दरीकथा में कई श्लोकों में बाण की प्रशंसा की है। सोड्ढल का समय प्रायः 1000 ई० है। आचार्य धनंजय (10 वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध) ने कादम्बरी और बाण का उल्लेख कई बार किया है। धनपाल ने भी 'तिलकमंजरी' वाणभट्ट और उनकी कृतियों-हर्षचरित तथा कादम्बरी की प्रशंसा की है। धनपालका का समय भी 10वीं शताब्दी का उतरार्ध है। त्रिविक्रम भट्ट ने 'नलचम्पू' का रचनाकाल 10वीं शताब्दी ई० का पूर्वाद्ध है। आन्दवर्धन-कृत 'ध्वन्यालोक' में बाण और कादम्बरी का उल्लेख हुआ है। उसमें 'हर्षचरित' के भी उद्धरण प्राप्त होते हैं। आनन्दवर्धन कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के समकालिक थे जिनका शासनकाल 855 ई०से 884 ई० तक था। अभिनन्द का समय नवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है। अभिनन्द ने 'कादम्बरीकथासार' की रचना की है जिसमें कादम्बरी-कथा संक्षेपतः श्लोकबद्ध निबद्ध है। आचार्य वामन ने अपनी'काव्यलंकारसूत्रवृति' में कादम्बरी से उद्धरण दिये हैं। वामन का स्थितिकाल 800 ई० के आसपास माना जाता है। प्रकाशवर्ष ने अपने रसार्णवालंकार में बाण का उल्लेख किया है। प्रकाशवर्षका समय सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हमें यह ज्ञात होता है कि बाणभट्ट का उल्लेख तथा उनकी कृतियों से उद्धरणों का प्रयोग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही किया जाने लगा था। अतः बाणभट्ट के स्थितिकाल की पूर्व सीमा सातवीं शताब्दी ई० के पश्चात् कथमपि नहीं रखी जा सकती। सम्प्रति अन्तः साक्ष्यों का अवलोकन कर उन पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। बाणभट्ट की कृतियों में अनेक लेखकों और ग्रंथों का उल्लेख प्राप्त होता है। कादम्बरी और हर्षचरित में रामायण और महाभारत (वाल्मीकि और व्यास) का उल्लेख हुआ है। ये दोनों आर्ष महाकाव्य निश्चित रूप से ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व विरचित हो चुके थे। हर्षचरित में महाकवि (नाटककार) भास का उल्लेख हुआ है। भास का समय ई० पूर्व चतुर्थ पंचम शताब्दी माना जाता है। कादम्बरी में 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य का नामोल्लेख किया गया है। अर्थशास्त्र की रचना ई० पू० 321 से 300 के मध्य की गयी होगी। हर्षचरित में महाकवि कालिदास की सूक्तियों की प्रसंशा बाण ने मुक्तकण्ठ से की है। अधिकांश विद्वान कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मानते हैं। कुछ विद्वान कालिदास को गुप्तकाल (350 ई० से 450 ई० के मध्य) में मानते हैं। बाणभट्ट ने गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' का प्रशंसार्य हर्षचरित में की है। 'बृहत्कथा' अब उपलब्ध नहीं है किन्तु बाणभट्ट ने अवश्य ही इसका अवलोकन किया होगा। 'बृहत्कथा' की रचना पैशाची प्राकृत में की गयी थी। 'बृहत्कथा' पर आधारित कथासरित्सागर' (सोमदेव) और 'बृहत्कथामञ्जरी' (क्षेमेन्द्र) दो ग्रंथ में पद्यात्मक रूप में उपलब्ध होते हैं। उनसे तुलना करने पर प्रतीत होता है कि बाणभट्ट की 'कादम्बरीकथा' अवश्य ही बृहत्कथा की वस्तु और रचनाशिल्प से प्रभावित है। बृहत्कथा का रचना काल प्रथम शताब्दी ई० अनुमानित है। हर्षचरित में ही बाण ने 'सेतुबन्धु' के रचयिता प्रवरसेन का उल्लेख किया है। यह प्रवरसेन वाकाटक वंश के राजा प्रवरसेन द्वितीय हैं, जिनका समय पांचवी शताब्दी ई० है।

उपर्युक्त प्रमाणों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि बाण ने अपनी रचानाओं में जिन कृतियों और कृतिकारों का उल्लेख किया वे ई०पूर्व से लेकर पांचवी ई० तक के हैं। इससे भी सातवीं शताब्दी ई०, बाण का स्थिति काल पुष्ट होता है। सबसे पुष्ट प्रमाण तो सम्राट हर्ष की समकालिक होना ही है।

बाणभट्ट का कृतित्व—

बाणभट्ट की तीन कृतियां प्रसिद्ध हैं-हर्षचरित, कादम्बरी और चण्डीशतक। प्रथम दो गद्यकाव्य है और तीसरी कृति पद्यकाव्य है। इनके अतिरिक्त भी बाण के नाम से कुछ अन्य ग्रंथ कहे जाते हैं। यहाँ हम क्रमशः बाणभट्ट की कृतियों का परिचय संक्षेपतः प्रस्तुत कर रहे हैं।

हर्षचरित - विदित ही है कि महाकवि बाणभट्ट ने अपने जीवन के अनेक वर्ष सम्राट हर्षवर्धन के समृद्ध आश्रय में व्यतीत किये थे। इसलिए स्वाभाविक है कि हर्ष जैसे महान् सम्राट का गुणकीर्तन उसके आश्रित प्रतिभाशाली विद्वान कवि के द्वारा किया जाय। हर्षचरित, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित एक उच्चकोटि की गद्यकाव्य रचना है जिसे समीक्षकों ने:आाख्यायिका' की कोटि में रखा है। इसमें महाकवि बाण और सम्राट हर्ष के जीवन में कुछ अंशों की अलंकृत गद्यशैली में काव्यात्मक प्रस्तुति है।

हर्षचरित आठ उच्छ्वासों में विभक्त है। इनके प्रारम्भिक तीन उच्छ्वासों में कवि वंशानुकीर्तन पूवर्क अपना परिचय तथा शेष पाँच उच्छ्वासों में अपने आश्रयदाता सम्राट हर्षवर्धन के जीवन का कुछ अंश प्रस्तुत किया है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि हर्षचरित एक अपूर्ण रचना है। किन्तु यदि हम हर्षचरित में बाण के कथनों का अनुशीलन करें तो ज्ञात होगा कि यह एक पूर्ण रचना है।

कादम्बरी- बाणभट्ट द्वारा विचरित यह गद्यकाव्य 'कथा' की कोटि में परिगणित है। इसके संबंध में विस्तृत विवरण आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

चण्डीशतक- 102 श्लोकों में निबद्ध भगवती चण्डी की स्तुति बाण विरचित है। देवी महिषासुर का वध करती है- यही इस स्तोत्रकाव्य का कथानक है। अमरूशतक के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव चण्डीशतक से श्लोक उद्धृत किया गया है। चण्डीशतक पर चार टीकाओं का उल्लेख मिलता है। यह गंगारथ मार्कण्डेयपुराण के दुर्गासप्तशतीय (देवीमाहात्म्य) से प्रभावित है। इन तीनों प्रसिद्ध रचनाओं के अतिरिक्त बाण के नाम से अन्य भी कई रचनायें जुड़ी हैं। उनका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है-

मुकुटताडिक-चण्डपालकृत नलचम्पू की व्याख्या से ज्ञात होता है कि बाण ने 'मुकुटताडितक' नामक नाटक की रचना की थी। चण्डपाल ने इसका एक पद्य भी उल्लिखित किया है। भोजकृत श्रृंगारप्रकाश में इसका उल्लेख है।

शारदचन्द्रिका-शारदातनयकृत भावप्रकाशन से ज्ञात होता है कि बाण ने 'शारदचन्द्रिका' की रचना की थी।

पार्वतीपरिणय- कुछ विद्वान् गोत्र और नाम साम्य के आधार पर इसे बाणभट्ट की रचना मानते हैं। वस्तुतः यह ग्रंथ पन्द्रहवी शताब्दी ई० के वत्सगोत्रीय वामनभट्टबाण की रचना है।

इनके अतिरिक्त 'पद्यकादम्बरी', शिवस्तुति', 'सर्वचरितनाटक' रचानाओं को भी बाण के नाम से जोड़ा जाता है।

कादम्बरी-कथा का मूल स्रोत—

यद्यपि 'कादम्बरी' के प्रथम पात्र 'शूद्रक' के अनेक विद्वान् इतिहास प्रसिद्ध राजा सिद्ध करते है। तथापि कथानक वस्तुतः कविकल्पित (उताद्य) है। गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' का मकरन्दिकोपाख्यान को कादम्बरी-कथा का मूलस्रोत माना जाता है। बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में निबद्ध थी और वर्तमान में अनुपलब्ध है किन्तु बाणभट्ट ने अवश्य ही उसका अवलोकन किया होगा। सम्प्रति बृहत्कथा के दो पद्यात्मक संस्करण प्राप्त होते हैं-सोमदेवकृत कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी। इसके अतिरिक्त 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' भी प्राप्त होता है। इन तीनों में ही 'मकरन्दिकोपाख्यान' प्राप्त होता है। 'मकरन्दिकोपाख्यान' के पात्रों के नाम कादम्बरी-कथा के पात्रों से भिन्न हैं किन्तु दोनों के ही कथानकों का ढांचा प्रायः मिलता-जुलता है। चूँकि बाण सप्तम शताब्दी ई० के हैं और गुणाढ्य ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी के आस-पास के अतः निश्चय ही कादम्बरी का कथानक बृहत्कथा से प्रभावित है। कादम्बरी-कथा में और कथासिरत्सागर के राजा सुमनस् की कथा में बहुत अधिक समानता है। कथासरितसागर की यह कथा बृहत्कथा में रही होगी। बाण ने कादम्बरी की रचना में इससे प्रेरणा ग्रहण की है। किन्तु अपनी काव्यप्रतिमा, वैदुष्य (पाण्डित्य), उत्प्रेक्षाशक्ति के बल पर उसे पूर्णतः स्पोज्ञ (मौलिक) बना दिया। कादम्बरी के शूद्रक, चाण्डाल-कन्या, वैशाम्पायन (शुक), जाबालि, हारीत, तारापीड, विलासवती, चन्द्रापीड, शुकनास, महाश्वेता, पुण्डरीक और कादम्बरी क्रमशः कथासरित्सागर के सुमनस् मुक्तलता, शास्त्रगप्र, पौलस्त्य, मारीच, ज्योतिष्प्रभ, हर्षवती, सोमप्रभ, प्रभाकर, मनोरथप्रभा, रश्मिवान् और मकरन्दिका हैं। कुछ अन्य गौड़ पात्रों और स्थानों के नाम भी भिन्न हैं।

बाणभट्ट ने अपनी प्रतिभा और रचना-शक्ति से मूलकथा में पर्याप्त परिवर्तन करके कादम्बरी को वैसा ही नवीन रूप दे डाला है जैसे फाल्गुन के महीने में शोभांजन वृक्ष (सहजन या सहिजन का पेड़) नवीन कलेवर धारण कर लेता है। उन्होनें उत्स के रूप में एक सामान्य लोककथा को लेकर उसे संस्कृत वाड्.मय की उत्कृष्टतम कथा के रूप में प्रस्तुत कर लिया। यह बाण के लोकोत्तरवर्णन निपुण कतिकर्म का ही परिणाम है। उन्होंने अलंकृत गद्य-शैली के आश्रय से काल्पिक प्रणय कथा को अत्यन्त हृदयावर्जन बनाने के साथ ही शुकनासोपदेश जैसे जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। औचित्य और रस के निर्वाह की दृष्टि से मूल कथा में आवश्यक परिवर्तन भी किये गये है।

कादम्बरी के पात्रों का परिचय

शूद्रक:—संस्कृत वाड्.मय में 'शूद्रक' एक बहुचर्चित नाम हैं। पुराणों से लेकर लौकिक संस्कृत-काव्यों से इसे अनेकत्र राजा के रूप में चित्रित किया गया है। इसे 'मृच्छकटिक' नामक रूपक का कर्त्ता भी कहा गया है। इसके नाम से अन्य रचनायें भी प्राप्त होती है।

कादम्बरी-कथा का आरम्भ ही शूद्रक के उल्लेख (आसीत्.....राजा शूद्रकों नाम) से होता है। वह विदिशा का शासक और चन्द्रापीड का अवतार है। उसकी सभा शुकनास जैसे विशुद्ध आचरण वाले विद्वान ब्राह्मण मन्त्रियों से सुशोभित थी। वह अमित पराक्रमशाली और अप्रतिहत शक्तिसम्पन्न था। सभी राजा सिर झुका कर उसकी आज्ञा का पालन करते थे। जितेन्द्रिय था और सदाचार, धार्मिक तथा यज्ञों का अनुष्ठाता था। शास्त्रज्ञ और साथ ही काव्यज्ञ भी था। प्रजापालक और विद्वानों का समादरकर्ता था। वह गुणग्राही था। वैशम्पायन शुकशावक द्वारा उच्चारित आर्या-''स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ती हृदयशोकाग्नेः। चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्।'' सुनकर आश्चर्य चकित हो जाता है। प्रशंसा करता हुआ अपने मन्त्री कुमारपालित से कहता है-''श्रुता भवद्भिरस्य विहंगमस्य स्पष्टता वर्णोच्चारणे स्वरे च मधुरता।''

तारापीड — तारापीड उज्जयिनी के सम्राट हैं। वे चन्द्रापीड के पुत्रवत्सल पिता और महारानी विलासवती के प्रणयी पति हैं। वे धर्म के अवतार और पमरेश्वर के प्रतिनिधि हैं। वे कामदेव के समान शोभासम्पन्न हैं। वे एक योग्य शासक के सभी गुणों से सम्पन्न हैं तथा कौटुम्बिक सम्बन्धों के प्रति भी अत्यन्त संवेदनशीलता हैं। विलासवती के साथ वे भी सन्तान सुख न पाने से दुःखी है तथा पत्नी का प्रसादन करते है। वे उसे कर्म और भाग्य का भरोसा दिलाकर आश्वस्त करते हैं तथा देव, गुरु और अतिथि के समाराधन सपर्या का सुझाव देते हैं। वे पुण्य और पाप को अच्छी तरह समझते हैं तथा अनजान में भी अपने द्वारा अपराध न होने देने के लिए सचेष्ट रहते हैं। तारापीड दैव के विधान से उद्विग्न नहीं होते। उनमें गाम्भीर्य, दृढ़ता और मृदुता, हृदय की विशालता और उदारता ये सब कुछ हैं आदर्शसम्राट के सभी गुणों उनमें मूर्तिमान है। वे अपने कर्तव्य का निर्वाह बड़ी कुशलता से करते हैं। उनका चरित्र अत्यन्त पवित्र और अनुकरणीय है।

चन्द्रापीड— चन्द्रापीड कादम्बरी कथा का नायक है। वह धीरोदात्त नायक है। लक्षण ग्रन्थों में इस कोटि में रखे गये नायक के जो गुण-महासत्त्व, अत्यन्त गम्भीर प्रकृति, क्षमावान्, आत्मश्लाघा से रहित, अचलबुद्धि, विनम्र, दृढ़संकल्पवान्-कहे गये हैं, वे सभी चन्द्रापीड में पाये जाते हैं। चन्द्रापीड चन्द्रदेव का अवतार है। उसने उच्च राजर्षिकुल में जन्म लिया है। वह मनोहर कलेवर, काला बुद्धिमान, स्नेही और पराक्रमी है। स्वाभाविक जिज्ञासा से भरा हुआ है। किन्नर युगल का पीछा करते हुए अच्छोद सरोवर तक पहुँच जाता है और फिर वहां शिवाराधन में तल्लीन वीणा वादिनी एकाकिनी कन्या को देखकर कुतूहल भरी जिज्ञासा होती है। बाल्यावस्था में उसने आचार्यों के चरणों में बैठकर अनेक शास्त्रों और विद्याओं का अध्ययन किया था। उसने व्याकरण, मीमांसा, तर्कशास्त्र, राजनीति, मल्लविद्या, नृतयशास्त्र चित्रकर्म, आयुर्वेद, धनुर्वेद, वस्तुविद्या, नाटक, कथा, आख्यायिका, काव्य आदि में अध्ययन एवं अभ्यास द्वारा कुशलता अर्जित की थी। वह अत्यनत धैर्यवान् है- 'अहो बालस्यापि सतः कठोरस्येव ते मह्दधैर्यम्।'' उसमें गुरुजनों के प्रति असाधरण श्रद्धा एवं भक्ति है। शुकनास का उपदेश पाकर वह अपने को धन्य मानता है।-''उपशान्त वचसि शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिरूपदेशवाग्भिः प्रक्षालित इव, उन्मीति इव, स्वच्छीकृत इव, निर्मष्ट इव, अभिषिक्त इव, अलंकृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव, प्रीतहृदयो मुहूर्त स्थित्वा स्वभवनमाजगाम।'' वह अपने गुरुजन का सम्मान करता है। माता-पिता की पाद वन्दना करता हैं मन्त्री शुकनास का अभिवादन करता है और उनके समक्ष भूमि पर बैठता है। शिष्टाचार का वह जंगम

स्वरूप ही है। अपने परिजनों का भी यथोचित आदर करता है। इन्द्रायुध अश्व को देखकर उसके विस्मय की सीमा नहीं रहती। वह मन ही मन कहता है-''महात्मन्! आप चाहे जो भी हों, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मेरे आरोहण की धृष्टता को क्षमा कीजिए। अज्ञात देवता भी अनुचित अनादर के भाजन हो जाते हैं। वह दूसरों की इच्छाओं का सदैव ध्यान रखता है। महाश्वेता के आग्रह पर वह हेमकूट जाने के लिए तैयार हो जाता है। उधर से लौटकर आने पर पिता के बुलाने पर शीघ्रतापूर्वक उज्जयिनी के लिए प्रस्थान कर देता है। चन्द्रापीड परिहास कुशल भी है। कादम्बरी में उसके हास्य-व्यंग्य के अनेक प्रशंसा प्राप्त होते हैं। चन्द्रापीड एक आदर्श मित्र और सखा है। 'सुहृद्' शब्द की अन्वर्थकता उससे ही है। वह मैत्री के पवित्र सम्बन्ध का प्रयत्नपूर्वक निर्वाह करता है। महाश्वेता के साथ उसकी मैत्री अत्यन्त पवित्र है। महाश्वेता द्वारा यह बताने पर कि वैशम्पायन को उसने शुक होने का शाप दे दिया है, वह महाश्वेता को कुछ नहीं कहता। उज्जयिनी में यह संवाद पाते ही कि वैशम्पायन सेना के साथ नहीं है, पीछे छूट गया है; वह तुरन्त ही वैशम्पायन के ढूँढ निकालने के लिए चल पड़ता है। वैशम्पायन उसका बालसखा हैं महाश्वेता द्वारा शापग्रस्त होकर उसकी मृत्यु का संवाद सुनते ही उसका हृदय विदीर्ण हो गया और वह भी निष्प्राण हो गया। सच्ची मित्रता का यह अनुपम निदर्शन है।

चन्द्रपीड यथार्थतः प्रेमी है। वह कादम्बरी को हेमकूट में देखकर उसके प्रति आकृष्ट होता है। उसकी अनुरागमयी स्मृति अपने हृदय में सदैव बनाये रखता है। अभी वह हेमकूट से महाश्वेता के आश्रम में आया ही था कि कादम्बरी की अस्वस्थता का हाल जानकर पुनः अविलम्ब पत्रलेखा के साथ कादम्बरी को देखने जाता है और पत्रलेखा को कादम्बरी के पास ही छोड़ कर वापस होता है। कुलूतेश्वर की राजकन्या पत्रलेखा (नवयुवती सुन्दरी) विलासवती के द्वारा, चन्द्रापीड नवयुवक राजकुमार की ताम्बूलकरंकवाहिनी बनायी गयी। वह चन्द्रापीड की अतिविश्वासपात्र हो गयी किन्तु कादम्बरी में कहीं भी चन्द्रापीड का उसके प्रति आकर्षण संकेतित नहीं है। इस पर कुछ समीक्षकों ने चन्द्रापीड को निष्ठुर और हृदयहीन कहा है। किन्तु चन्द्रापीड पर ऐसा आक्षेप करना उचित नहीं है वह एक आदर्श भारतीय युवक है और धर्माविरुद्ध काम की मर्यादा का पालन करने वाला है। इस प्रकार, चन्द्रापीड को बाणभट्ट ने इस महनीय कालजयी कथा के आदर्श नायक के रूप में प्रस्तुत किया है।

शुकनास— सदाचारी ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न शुकनास, उज्जयिनी के सम्राट तारापीड का मन्त्री है। वह शास्त्रों का मर्मज्ञ वेत्ता है और नीतिशास्त्र के सम्यक् प्रयोग में अत्यन्त निपुण है। वह राजा का अत्यन्त विश्वास पात्र और सम्मान भाजन है। वह प्रजा के कल्याण के लिए सतत निरत रहता है। विपत्काल में भी उसकी प्रज्ञा तनिक भी मलिन नहीं होती और स्थिर चिन्तन में समर्थ रहती है। वह धैर्य का धाम, मर्यादा का स्थान, सत्य का दृढ़ सेतु, गुणों का गुरु और आचारों का आचार्य हैं चन्द्रापीड के यौवराज्याभिषेक के अवसर पर चन्द्रपीड को उसके द्वारा प्रदत्त उपदेश संस्कृत साहित्य की अनुपम अमूल्य निधि होने के साथ ही एक शासक के लिए उसके धर्म-कर्म की आदर्श आचार संहिता है। शुकनास परिस्थितियों का ठीक-ठीक आकलन करता है और कालोचित निर्णय लेता है। वह राजा को सदैव सत्यपरामर्शदेता है। शुकनास के विचार अत्यन्त पवित्र और दृष्टि सर्वथा निर्मल है। उसके लिए अपने-पराये में कोई भेद नहीं है। शुकनास एक योग्य शासक का सुयोग्य मन्त्री है।

वैशम्पायनट— वैशम्पायन पुण्डरीक का अवतार है जो महाश्वेता के शाप से शुक की योनि में उत्पन्न होता है जिसे उसकी माता लक्ष्मी, चाण्डालकन्या के रूप में स्वर्णपिंजर में लेकर शूद्रक की सेवा में उपस्थित होती है। वैशाम्पायन, पूर्व जन्म में महामुनि श्वेतकेतु का पुत्र होने के कारण सदाचार सम्पन्न संस्कारवान् और शास्त्रज्ञ है। शुकनासपुत्र वैशम्पायन के रूप में वह चन्द्रापीड का बाल सखा है और उसने उनके साथ ही विद्याध्ययन किया है। वह सदैव चन्द्रापीड का अनुगामी रहता है।

पुण्डरीक: — महामुनि श्वेतकेतु और लक्ष्मी का पुत्र मुनिकुमार पुण्डरीक है। मुनिवृत्ति के प्रतिकूल कामुकता इसके अन्दर भरी हुई है। यही कारण है कि महाश्वेता को देखते ही वह उस पर आसक्त हो जाता है और अपनी सुध-बुध खो बैठता है। उसका मित्र कपिञ्जल उसे लाख समझाता है किन्तु उसका कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ता, पलटे वह उसी पर खीझने लगता हैं पुण्डरीक की सुन्दरता अवर्णनीय है।

विलासवती— उज्जयिनी-नरेश तारापीड की महारानी विलासवती है। वह निःसन्तानता की असह्य पीड़ा से अत्यन्त दुःखित होती है। अपने पति महाराज तारापीड के समझाने पर गुरुजनसेवा और देवाराधन में तत्पर होती है। फलतः उसे चन्द्रमा के समान सुन्दर पुत्र प्राप्त होता है। उसका नाम चन्द्रापीड रखा जाता है। पुत्र के प्रति जो स्वाभाविक वत्सलता माँ में होती है, विलासवती में उससे कहीं अधिक है क्योंकि अनेक व्रतानुष्ठानादि पुण्य उपायों से पुत्र-प्राप्ति हुई है। चन्द्रापीड विलासवती का एकमात्र पुत्र है। आचार्य कुल में चन्द्रापीड के भेजे जोने का वह भरसक प्रयत्न करती हैं। इस विषय में वह अपने पति को कठोर हृदय कहती है। विलासवती पति परायण का आदर्श भारतीय स्त्री है। लज्जा उसका सहज अलंकरण है। वह एक आज्ञाकारिणी भार्या है, पुत्रवत्सला माता है तथा उदार गृहिणी है।

महाश्वेता— चन्द्रापीड ने अच्छोद सरोवर पर शिवायतन में वीणावादनपूर्वक भगवान् शिव की आराधन करती हुई जिस अनिन्द्य सुन्दरी कन्या को देखा था, उसका नाम 'महाश्वेता' है। महाश्वेता कठोर व्रत और तपश्चर्या का मनो जीवित विग्रह है। उसका चरित एवं चरित्र सर्वथा निर्मल है। यथार्थनामा गौरवर्णा महाश्वेता के शरीर से चतुर्दिक प्रभामण्डल का विस्तार हो रहा है मानो सुदीर्घकाल से राशीभूत तपःप्रभा ही विकीर्ण हो रही है। समीपवर्ती वनप्रान्त को वह अपनी कान्ति से धवल बना रही है। वन्य पशु पक्षी भी उसके सान्निध्य से वीणा की स्वरलहरी का आनन्द ले रहे हैं। चन्द्रापीड महाश्वेता के दिव्य सौन्दर्य को देखकर विस्मित हो उठा।

जिस तरह महाश्वेता का शरीर श्वेताभ है उसी तरह सका अन्तःकरण भी नितान्त निष्कलुषहै। वह निर्मत्सर, निरहंकार और विनय की पराकोटि में स्थित है। वह सदाचार की प्रतिमूर्ति है। चन्द्रापीड को देखते ही बोल पड़ती है-''अतिथि का स्वागत है। महाभाग इस स्थान पर कैसे आ पहुँचे? तो आइए अतिथि सत्कार स्वीकार कीजिए।'' विनम्र और निश्छल व्यवहार से उसके हृदय की उदारता झलकती हैं अपरिचित पुरुष-अतिथि से भी वह इस प्रकार निवेदन करती है जैसे वह उससे चिरपरिचित हो। महानुभाव चन्द्रापीड के द्वारा उसके विषय में पूछने पर वह रोने लगती है। उसका सन्ताप उसके कोमल हृदय को पिघला देता है। वह निःसंकोच अपना सारा वृत्तान्त चन्द्रापीड से कह डालती है। पुण्डरीक नामक मुनिकुमार के दर्शनमात्र से ही वह उसे अपना हृदय दे देती हैं स्तम्भित सी, लिखित सी, उत्कीर्ण सी ऐसी अनिर्वचनीय दशा में पहुँची हुई वह बहुत देर तक अपलक पुण्डरीक को निहारती रहती है -

'तत्कालाविर्भूतेनावष्टम्भकेन अकथितषिक्षितेनानायेयेन, स्वसंवेद्येन, केवलं न विभाव्यते किं तद्रूपसम्पदा, किं मनसा, किं मनसिजेन, किमभिनवयौवनेन, किमनुरागेणैवोपदिष्यमानं, किमन्येनैव वा केनापि प्रकारेण, अहं न जानामि, कथं कथमिति तमतिचिरं व्यलोकयम्।'

पुण्डरीक भी काम के वशीभूत हो जाता है। महाश्वेता अपनी माँ के बुलाने पर किसी-किसी तरह अच्छोद सरोवर में स्नान करके उसके साथ वापस घर जाती है। कपिंजल, महाश्वेता के घर जाकर पुण्डरीक की विषमावस्था का वर्णन करता है। महाश्वेता पुण्डरीक से मिलने जाती है किन्तु उसके पहुँचने से पूर्व ही पुण्डरीक का प्राणान्त हो जाता है। महाश्वेता विलाप करने लगती है। दिव्य पुरुष के आश्वासन पर विश्वास करके वह पुण्डरीक से पुनः मिलने की आशा बाँधे तपश्चर्या करने लगती है। भारतीय नारी के निरवद्य प्रतिमान के रूप में महाश्वेता हमारे समक्ष आती है। उसमें निश्चिल और निश्छल प्रेम की पराकाष्ठा दिखायी पड़ती है। एक बार पुण्डरीक को अपने हृदय में बैठा लेने पर फिर उससे मिलने की

आशा में निरवधि प्रतीक्षा के कठिन व्रत का पालन करती है। दिव्य पुरुष के वचन ओर आकाशवाणी पर उसे पूर्ण विश्वास हैं चन्द्रापीड के साथ उसका सहज मैत्री भाव उसके हृदय की उदारता है । एकान्त शिवाराधन, ईश्वर के प्रति उसकी असीम श्रद्धा का परिचायक है। कादम्बरी उसकी अत्यन्त प्रिय सखी है । चन्द्रपीड, को साथ लेकर वह उसका हाल जानने उसके घर जाती है और चन्द्रापीड-कादम्बरी के मध्य प्रणय-सेतु का कार्य करती है।

पुण्डरीक के प्रति उसकी इतनी दृढ़ प्रीति है कि उसके अतिरिक्त वह किसी का नाम भी इस विषय में लेना पसन्द नहीं करती । वैशम्पायन उसे देखते ही उस पर आसक्त हो जाता है और बार-बार प्रणय याचन करता है। इस पर क्रुद्ध होकर वह उसे शुक योनि में जन्म लेने, का शाप दे देती है। बाद में यह जानकर कि यह चन्द्रापीड का मित्र था-पश्चाताप भी करती है। ये सारी चारित्रिक विशेषतायें महाश्वेता को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त कराती हैं। महाश्वेता गम्भीर भाव और सरल वचन वाली है। वह उदारता, शुचिता त्याग, तपस्या ओर प्रीति की एकत्र भास्वर राशि है-

कादम्बरी— कादम्बरी हेमकूट पर निवास करने वालो गन्धर्वराज चित्ररथ की पुत्री (कन्या) है । यह बाणविरचित 'कादम्बरी' कथा-ग्रन्थ की नायिका है। बाण ने अपनी नायिका के नाम पर ही इस कथाग्रन्थ का यथार्थ नामकरण कादम्बरी किया है-

'कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम्।' वस्तुतः नायिका कादम्बरी में जो रूपसौन्दर्य की मादकता और प्रीतिमाधुर्य का जो उल्लास है वह हूबहू कादम्बरी कथा में भी है। एक महाकवि की उदात्त कल्पना है और दूसरी उसकी आलंकारिक अभिव्यक्ति।

कादम्बरी कन्या मुग्धा, परकीया कोटि की नायिका है। कथा में महाश्वेता-वृत्तान्त के पश्चात् कादम्बरी की कथा आती है। वह सहानुभूति और त्याग की प्रतिमूर्ति के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तु की जाती है। वह महाश्वेता की अतिप्रिय सखी है । उसने प्रतिज्ञा कर ली है कि जब तक महाश्वेता का मिलन 'पुण्डरीक' से नहीं हो जाता, वह अपना विवाह नहीं करेगी। महाश्वेता ने उसे समझाया भी किन्तु वह इस विषय में अविचलित रहती है।

नारी-सौन्दर्य का एक दिव्य परिवेश कादम्बरी से निसर्गतः सम्पृक्त है। उसमें प्रीति की अनुपम विच्छित्ति है, भावों की प्रौढि है, जीवन का आदर्श है, लौकिक व्यवहारों के प्रति नैष्ठिक चेतना है, मैत्रीनिर्वाह के लिए असीम धैर्य है, स्नेह की सरल तरलता है, तपश्चर्या की दृढ़ता है व मानवीय संवेदनाओं की मनोरम मूर्ति है। कादम्बरी का अनुभव प्रथम दर्शन में ही चन्द्रापीड को

प्रभावित कर उस पर अमिट छाप छोड़ देता है।

चन्द्रापीड को देखकर कादम्बरी के मन में कामवेदना का संचार हो जाता है। जब वह ताम्बूल देने के लिए चन्द्रापीड की आगे अपना हाथ बढ़ाती है, तो साध्वसभाव के कारण उसके अंगों में कम्पन उत्पन्न हो जाता है। उसकी आँखों में आकुलता व्याप्त हो जाती है और सारा शरीर पसीने से नहा उठता है। उसे पता भी नहीं चलता कि उसके हाथ से रत्न वलय गिर गया है।

यद्यपि कादम्बरी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक पुण्डरीक से महाश्वेता का मिलन नहीं हो जाता, वह अपना विवाह कथमपि नहीं करेगी किन्तु चन्द्रापीड को देखते ही वह कामदेव के बाणी से बिंध जाती है। चन्द्रापीड प्रथम दर्शन में ही उसके हृदयराज्य का अधिपति बन जाता है। महाश्वेता के पूछने पर कि चन्द्रापीड कहाँ ठहरेंगे? कादम्बरी कहती है कि जबसे इनके दर्शन हुए है तभी से परिजन और भवन की क्या बात, ये तो मेरे तन-मन के भी स्वामी हो गये है। आपको अथवा इनको जहाँ भी अच्छा लगे, वहीं रहें। कादम्बरी मर्यादा का पालन करना अच्छी तरह जानती है। विनम्रता और लज्जा, उसका सहज गुण है। यद्यपि वह चन्द्रापीड की ओर आकृष्ट है फिर भी अपने इस आचरण से उसे क्षोभ है-

'अगणितसर्वषया तरलहृदयां दर्शयन्त्याद्य मया किं कृतमिदं मोहान्धया ? तथा हि, अदृष्टपूर्वोऽयमिति साहसिकता मया न संचितम् लघुहृदयां मां कलयिष्यतीति निशंकया नाकलितम् । कास्य चित्तवृत्तिरिति मया न परीक्षितम्। दर्शनानुकूलाहमस्य नेति वा तरलया न कृतो विचारक्रमः।

गुरुजन के प्रति आदर एवं श्रद्धा तथा प्रियजन के प्रति स्नेह और सहानुभूति कादम्बर के चरित्र की विशेषता हैं वह अपनी सखी (अथवा सुहृद्) के दुःख और सुख से सुखी होती है । महाश्वेता के प्रति उसके हृदय में अगाध सम्मान और प्रीति है । बाण ने कादम्बरी को एक आदर्शसखी तथा प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है ।

पत्रलेखा— पत्रलेखा 'कादम्बरी' की एक महत्वपूर्ण स्त्रीपात्र है । यह चन्द्रापीड की ताम्बूल करंकवाहिनी नियुक्त है । यह कुलूतेश्वर की पुत्री है जो महाराज उज्जयिनी नरेश के द्वारा कुलूत की राजधानी जीतकर इसे भी बन्दिनी बनाकर अन्तःपुर में रखा गया था । एक अनाथ राजदुहिता होने के कारण पत्रलेखा के प्रति महारानी विलासवती की अत्यन्त स्नेह हो गया और वे उसे अपनी कन्या के समान मान देने लगीं थी, जब चन्द्रापीड अध्ययन समाप्त कर राज भवन लौट और युवराज पद पर अभिषिक्त हुए, उसी बीच महारानी ने अपने प्रिय पुत्र की सेवा में अपनी दुहिता तुल्य पत्रलेखा को कंचुकी की साथ भेजा । चूँकि चन्द्रापीड पत्रलेखा के कुलशील से परिचित न था अतः महारानी ने पत्रलेखा के विषय में सविस्तार सन्देश चन्द्रापीड को दिया था ।

पत्रलेखा राजकन्या होते हुए भी दुर्भाग्य से दासी बनी । वह अनिन्द्य सुन्दरी थी और चन्द्रापीड की रात दिन की संगिनी थी । वह चन्द्रापीड की प्रिय विश्वासप्रात्र थी किन्तु बाण ने कहीं भी इन दोनों के बीच काम विकास का संकेत भी नहीं किया है । कुछ समीक्षकों ने महाकवि बाण की अन्धदृष्टि की कटु आलोचना की है किन्तु बाण मर्यादित प्रेम का चित्रण करने वाले कवि है । उन्होंने परिचारिका के रूप में पत्रलेखा के उदात्त चरित्र का सुन्दर चित्रण किया है ।

बोध प्रश्न-4

अभ्यायस प्रश्न-4

बहुविकल्पीय

(अ) चण्डीशतक में श्लोको की संख्या क्या है?

(क) 102 (ख) 99 (ग) 201 (घ) 120

(ब) कादम्बरी कथा का मूलस्रोत क्या है?

(क) दशकुमार चरितम् (ख) जातकथा (ग) वृहद्कथा (घ) महाभारत

(स) चन्द्रापीड राजकुमार था-

(क) विदिशा (ख) उज्जैनी (ग) कन्नौज (घ) हस्तिनापुर

4 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए?

(क) कादम्बरी गन्धर्वराज.....की पुत्री थी ।

(ख) बाण भट्ट के पिता का नाम.....था ।

(ग) हर्षचरित आठ.....में विभक्त है ।

5. निम्नलिखित वाक्यों में सही वाक्य के समक्ष ( ) का चिन्ह तथा गलत के समक्ष ( ) का चिन्ह लगाये?

(क) बाणभट्ट की माता का नाम भीमादेवी था । ( )

(ख) शूद्रक प्रीतिकूट का राजा था । ( )

(ग) तारापीड उज्जैनी का राजा था । ( )

4.3.5 सुबन्धु का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

सुबन्धु का जीवन परिचय—

'सर्वानुक्रमणी में एक सुबन्धु का उल्लेख किया गया है जिनको ऋग्वेद के चार ऋषियों में से एक तथा गोपायन तथा लोपायन का पुत्र बताया गया है। एक और सुबन्धु है जिनका उल्लेख दण्डी ने किया है। नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने 'नाट्यायित' के दृष्टान्त के रूप में 'वासवदत्तानाट्यधारा' नामक रूपक का उल्लेख किया है जिसके कृत्तिकार का नाम उन्होंने महाकवि सुबन्धु बताया है। रामचन्द्र और गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण में भी इसी रूपक का वर्णन मिलता हैं। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' में सुबन्धु नामक एक नाट्यशास्त्री का उल्लेख किया है जिसने नाटक के पाँच विभाग किये है। लेकिन पी०वी० काणे के अनुसार यह सुबन्धु 'वासवदत्तनाट्यधारा' वाले सुबन्धु से भिन्न है।

'वासवदत्ता' के रचनाकार सुबन्धु उपर्युक्त सभी सुबन्धु नामक व्यक्ति से भिन्न हैं। इनकी एकमात्र कृति 'वासवदत्ता' ही है जिसमें प्रदर्शित अपनी विद्वता और विलक्षण श्लेषयुक्त शैली के कारण सुबन्धु ने संस्कृत गद्यसाहित्य में प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्राप्त किया है। 'वासवदत्ता' की एक पाण्डुलिपि के अनुसार सुबन्धु को वररूचि की बहन का पुत्र बताया गया है। 'वासवदत्ता' के प्रारम्भ के तृतीय श्लोक के आधार पर आर०जी० हर्षे का अनुमान है कि दामोदर सुबन्धु के गुरु थे। 'वासवदत्ता' के प्रारम्भ में सुबन्धु ने विष्णु की स्तुति दो श्लोकों में किया है। जबकि शिव की स्तुति में एक ही श्लोक लिखा है। इसके अतिरिक्त 'वासवदत्ता' में शिव की अपेक्षा विष्णु के संकेत बहुलता से मिलते है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि सुबन्धु वैष्णव थे, यद्यपि उन्होंने शिव और अन्य देवो देवताओं के प्रति भी अपनी श्रद्धा दिखायी हैं

सुबन्धु का समय—

'वासदत्ता' नामक गद्यकाव्य के रचयिता सुबन्ध का स्थितिकाल निश्चित नहीं है। निश्चित साक्ष्यों के अभाव में सुबन्धु का काल निर्धारित कर पाना दुरुह कार्य हैं कुछ स्रोतों के आधार पर सुबन्धु का सम्भावित समय प्राप्त किया जा सकता है।

वामन, (समय 800ई०) ने 'काव्यलंकारसूत्र' में 'उत्कलिकप्राय' गद्य के उदाहरण के रूप में एक गद्यांश उद्धृत किया है कुलिशशिखरखरनखरप्रचयप्रचण्डचपेटपातिमत्तमातङ्.गकुम्भस्थल-गलन्मदच्छटाच्छुरितचारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि.....।

यही गद्यांश बाण के 'हर्षचरित' में भी ज्यो का त्यों पाया जाता है। अत्यधिक भिन्नताओं के साथ ही गद्यांश सुबन्धु की 'वासवदत्ता'में भी पाया जाता है-

कुलिशशिखरखरनखरप्रचयप्रचण्डचपेटपातिमत्तमातङ्.गकुम्भस्थल-
रुधिरच्छताच्छुरितचारुकेसरभासुरकेसरिकदम्बेन.....।

वामन और बाण के उद्धरणों में एकरूपता होने से यह प्रतीत होता है कि इस गद्यांशके सन्दर्भ में वामन बाण के 'हर्षचरित' से ही प्रभावित हुए होंगे क्योंकि बाण का काल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध लगभग निश्चित हैं। बाण हर्ष के दरबारी कवि थे। हर्षका समय 606 से 647 ई० माना जाता है। अतः बाण इस समय के आधार पर वामन (800ई०) पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। पुनः 'हर्षचरित' और 'वासवदत्ता' में उद्धरणों की साम्यता से यह प्रतीत होता है कि बाण ने सुबन्धु से इस गद्यांश को ग्रहण किया होगा क्योंकि बाण ने 'हर्षचरित' के प्रारम्भ में 'वासवदत्ता' नामक रचना का उल्लेख किया है। इसमें बाण ने 'वासवदत्ता को कवित्व के गर्व का नाशक बताया है। यह भी कहा जा सकता है कि बाण की उपरोक्त उक्ति भास के

'स्वप्नवासवदत्तम् के बारे में भी हो सकती है लेकिन ऐसा सोचने के लिए कोई आधार नहीं है क्योंकि बाण ने 'हर्षचरित' के प्रारम्भ में भास का अलग से उल्लेख किया है। इसके अतिरक्त 'स्वप्नवासवदत्तम् सरल शैली में रचित एक नाटक है, जिसमें श्लिष्टता या विद्धता का कोई विशेष पुट नहीं दिखता। अतः कहा जा सकता है कि कवियों का मान-मर्दन कर सकने में कोई 'वासवदत्ता' सक्षम है तो वह है-सुबन्धु की 'वासवदत्ता'। अपने विद्वतापूर्ण वर्णनों के कारण, जटिल श्लेषयुक्त सामसिक शैली के कारण सुबन्धु की 'वासवदत्ता' को ही यह गौरव दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध डॉ॰ भोलाशंकर व्यास का विचार द्रष्टव्य है- हमें ऐसा प्रतीत होता है, बाण को सुबन्धु की कृति का पूरी तरह पता था और हर्षचरित से भी अधिक इस बात की पुष्टि कादम्बरी की कथानक रूढ़ियों के सजाने और शैली के प्रयोग से होती है।अतः बाण सुबन्धु से परवर्ती सिद्ध होते हैं।

वाक्पतिराज (700-725) ने प्राकृत-काव्य 'गउडवहो' की रचना किया हैं। इसमें उन्होंने सुबन्धु का उल्लेख किया है लेकिन बाण का नहीं। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय तक सुबन्धु की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी, पर बाण अभी तक अप्रसिद्ध ही थे। इन तथ्यों के आधार पर सुबन्धु के काल की उत्तरसीमा बाण से पूर्व अर्थात् लगभग 550 ई॰ आंका जा सकता है। अब सुबन्धु के काल की पूर्व सीमा पर विचार अपेक्षित है। सुबन्धु के काल की पूर्व सीमा 'वासवदत्ता' में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर भी कुछ-कुछ निर्धारित की जा सकती है। इसमें रामायण, महाभारत, गुणाढ्य की बृहत्कथा, कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् इत्यादि का उल्लेख मिलता है। सुबन्धु ने एक रमणी के वर्णन के प्रसंग में श्लेष के माध्यम से नैयायिक उद्योतकार तथा बौद्धधर्मकीर्ति के 'बौद्धसंगत्यालंकार' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है परन्तु ये प्रमाण सुबन्धु के काल की पूर्वसीमा निर्धारित कर सकने में सक्षम नहीं है क्योंकि उपरोक्त कृतियों या उद्योतकार का समय बहुत निश्चित नहीं हो पाया है लेकिन इतना निश्चित है कि उल्लेख करने के कारण सुबन्धु इन सबके बाद के विरूद्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में एक साक्ष्य सहायक सिद्ध हो सकता है। सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' के प्रारम्भ में महान विक्रमादित्य की मृत्यु पर विलाप करते हुए लिखा है कि-

''सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरित नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

यहाँ पर वर्णित विक्रमादित्य कौन था, इसका यथार्थ परिचय नहीं मिल पाता है । इतिहास में
अनेक विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है इसलिए यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि किस विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है लेकिन यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय (374-413ई॰) का ही उल्लेख किया गया है क्योंकि वामन ने अपने 'काव्यलंकारसूत्र' में सुबन्धु को चन्द्रगुप्त के एक पुत्र का मन्त्री बताया है। अर्थप्रौढ़ी के पाँच भेदों में से अन्तिम साभिप्राय का वर्णन करते हुए वामन ने लिखा है-साभिप्रायत्वं यथा-

सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्तनयश्चन्द्रपकार्शो युवा,
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्टया कृतार्थश्रमः।

इसी की वृत्ति में वामन लिखते हैं-आश्रयः कृतधियामित्यस्य च सुबन्धुसाचिव्योपक्षेपमरत्वात् साभिप्रायत्वम्। डॉ॰ मानसिंह का मत है कि 'चन्द्रगुप्तनयः' से चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम का अभिप्राय है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमार गुप्त प्रथम युवावस्था में अपने पिता के पश्चात् 414ई॰ में सत्तासीन हुआ (सम्प्रति चन्द्रगुप्तनयष्चन्द्रप्रकाषोयुवा), उसने सुबन्धु को बुद्धिमान (कृतार्थ) समझकर अपना मन्त्री बनाया। सुबन्ध को उस समय तक युवावस्था पार कर लेना चाहिए। इसलिए उनका जन्म कुछ पहले (400ई॰) हुआ होगा और उन्होंने विक्रमादित्य चन्द्रगुप्तद्वितीयका शासनकाल भी देख था। कुमारगुप्त प्रथम के शासन के उत्तरार्द्ध में शत्रुओं का आक्रमण हुआ जिसको सुबन्धु ने भी देखा।

'वासवदत्ता' उनके जीवन के उत्तरार्द्ध की रचना होगी। स्कन्दगुप्त (455-676) के शासन काल में भी सुबन्धु जीवित रहे होंगे। अतः सुबन्धु को 400-465ई॰ के बीच का माना जा सकता है।

ऐसा भी माना जा सकता है कि 'चन्द्रप्रकाश:' कुमारगुप्त प्रथम का विशेषण है क्योंकि कुमारगुप्त प्रथम के उनके सिक्कों में उसकी तुलना चन्द्रमा से की गयी है। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर कुमार गुप्त प्रथम का मृत्युकाल लगभग 455ई॰ माना गया है।

सुबन्धु द्वारा उद्योतकार का उल्लेख करना भी उपरोक्त समय को मानने में सहायक है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि उद्योतकार ने प्रसिद्ध तर्कशास्त्री दिङ्.नाग की आलोचना की है और ए॰बी॰कीथ ने दिङ्.नाग को 400ई॰ का माना है। बलदेवउपाध्याय ने भी दिङ्.नाग का समय 345-425ई॰ माना है। इस प्रकार उद्योतकार उसके बाद के ही रहे होंगे। बलदेव उपाध्याय के अनुसार उद्योतकार का समय षष्ठ शतक ई॰ हैं सुबन्धु द्वारा उद्योतकार का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि उद्योतकार का 'न्यायवार्तिक' 'वासवदत्ता' की रचना के समय ख्याति प्राप्त कर चुका होगा।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर सुबन्धु के काल की पूर्वसीमा 385-414ई॰ के लगभग मान जा सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने भी अपने शोध के आधार पर सुबन्धु के समय के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट किया है, जो इस प्रकार है-'

1.पण्डित शंकदेवशास्त्री ने सुबन्धु का समय 500 ई॰ या इससे कुछ पूर्व माना है।

2.डॉ॰ भोलाशंकर व्यास के अनुसार सुबन्धु का काल छठीं सदी का मध्य है।

3.चन्द्रशेखर पाण्डेय ने सुबन्धु को 600 ई॰ या इससे कुछ पूर्व का ठहराया है ।

4.डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी का मानना है कि सुबन्धु 600ई॰ के लगभग रहे होंगे।

5.आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी इनको षष्ठ सदी के अन्त का बताया है ।

अन्त में सुबन्धु के समय के सम्बन्ध में लुईस एच॰ डो के शब्दों को निष्कर्ष माना जा सकता है। इनके अनुसार सुबन्धु के काल की पूर्वसीमा उद्योतकार के बाद तथा उत्तरसीमा बाणभट्ट के पूर्व निर्धारित की जानी चाहिए। इस प्रकार सुबन्धु का काल 400-550ई॰ निर्धारित किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि सुबन्धु इसी बीच कभी रहे होंगे।

इस प्रकार हम सुबन्धु के काल एव जीवनवृत्त के सम्बन्ध में उपर्युक्त तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सुबन्धु 'वासवदत्ता' के रचयिता है जो उनकी एकमात्र कृति है। विक्रमादित्य-चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमार गुप्त प्रथम (415 ई॰ 455) के दरबारी कवि थे और 385-500ई॰ के बीच में कभी रहे होंगे। वे मध्यभरत के निवासी थे, सम्भवतः मालव के वैष्णव और सुबन्धु वररुचि की बहन के पुत्र थे। इनके गुरु का नाम दामोदर था। सुबन्धु के काल एवं निवास-स्थान के विषय में डॉ॰ मानसिंह का मत भी उक्त बिन्दुओं को पुष्ट करने में सहायक हो सकता है।

सुबन्धु का कर्तृत्व—

सुबन्धु का नाम संस्कृत साहित्य के लिए अपरिचित नहीं है। संस्कृत साहित्य में इनकी ख्याति 'वासवदत्ता नामक कथाग्रन्थ के रचनाकार के रूप में ही हैं परन्तु संस्कृत साहित्य मं इनसे इतर अन्य सुबन्धुओं का भी विवरण मिलता है, जिनका यहाँ पर उल्लेख कर देना समीचीन होगा।

नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने 'नाटयायिका' के दृष्टान्त के रूप में 'वासवदत्तनाट्यधारा' नामक रूपक का उल्लेख किया है जिसके कृतिकार का नाम उन्होंने महाकवि सुबन्धु बताया हैं रामचन्द्र और गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण' में भी सुबन्धु नामक एक नाट्यशास्त्री का उल्लेख किया है जिसने नाटक के पाँच विभाग किया है लेकिन पी॰वी॰ काणे के अनुसार यह सुबन्धु 'वासवदत्तनाट्यधारा' वाले सुबन्धु से भिन्न है। 'वासवदत्ता' रचनाकार सुबन्धु उपर्युक्त सभी सुबन्धुओं से

भिन्न हैं। इनकी एक मात्र कृति 'वासवदत्ता' ही है जिसमें प्रदर्शित अपनी विद्वता और विलक्षण श्लेषयुक्त शैली के कारण सुबन्धु ने संस्कृत गद्यसाहित्य में प्रतिष्ठा पूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

वासवदत्ता का समीक्षात्मक परिचय

सुबन्धु नाना विद्याओं, तथा मीमांसा, न्याय, बौद्ध आदि नाना दर्शनों में नितान्त प्रवीण थे। इन्होंने श्लेश और उपमा के प्रसंग में रामायण, महाभारत तथा हरिवशंकी अनेक प्रसिद्ध तथा अल्प-प्रसिद्ध घटनाओं और पात्रों का प्रचुर निर्देश कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया है। उनकी दृष्टि में सत्काव्य वहीं हो सकता है जिसमें अलंकार का चमत्कार, श्लेष का प्राचुर्य तथा वक्रोक्ति का सन्निवेश रूप से रहता है- **''सुश्लेषवक्रघटनापटु सत्काव्यविरचनमिव''।**

इसी भावना से प्रेरित होकर सुबन्धु की लेखनी श्लेष की रचना में ही विशेष पटु है। उन्होंने स्वयं अपने प्रबन्ध को 'प्रत्यक्षर-श्लेषमयप्रपज्जविन्यासवैदग्धनिधि' बनाने की प्रतिज्ञा की थी ओर इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह उन्होनें इस गद्यकाव्य में किया हैं सुबन्धु वस्तुतः श्लेषकवि है। इन्होंने अभंग उभय प्रकार के श्लेषों का विन्यास कर अपने काव्य को विचित्रमार्ग का एक उत्कृष्ट उदाहरण बनाया हैं परन्तु उनके श्लेष कहीं-कहीं इतने अप्रसिद्ध, अप्रयुक्त तथा कठिन हो गये हैं कि उन्हें समझने के लिये विद्वानों के भी दिमाग चक्कर काटने लगते हैं। कहीं-कहीं तो बिना कोष की सहायता से पाठक एक पग भी आगे नहीं बढ़ता और उसके ऊपर 'कोशं पश्यन् पदे-पदे' की उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है। प्रसन्नश्लेष का यह उदाहरण रोचक तथा कमनीय है-

''नन्दगोप इव यशोदयान्वितः जरासन्ध इव घटित-सन्धि-विग्रहः, भार्गवइवा सदा न भोगः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितों रक्षितगुष्च।''(आशय है कि यशोदा से अन्वित नन्दगोप के समान वह राजा यश और दया से अन्वित था, जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राजा जरासन्ध के समान वह सन्धि और विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था। सदा नभ (आकाश) में गमन करनेवाले (सदा+नभो+गः) शुक्र के सदृश वह सदा दान तथा भोग से सम्पन्न था।

सुबन्धु ने विरोध, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि नाना अलंकारों से अपने काव्य को सजाया है, परन्तु इन सब में भी श्लेष के कारण ही चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया हैं अनेक उपमायें केवल शब्द साम्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। 'रक्त-पाद' होने के कारण कवि ने वासवदत्ता की उपमा व्याकरण शास्त्र से दी है। अष्टाध्यायी का एक पाद (4/2) 'तेन रक्तं रागात्' सूत्र से समन्वित है। उधर नायिका के भी पैर रक्त वर्ण के हैं। इस शब्द -साम्य के कारण ही यहाँ उपमा का चमत्कार है। नायिका का स्वरूप अत्यन्त प्रकाशमान है और इसी कारण वह उस न्यायविद्या के समान बतलाई गई है जिसके स्वरूप का निष्पादन तथा ख्याति उद्योतकर नामक आचार्य के द्वारा सम्पन्न है (न्यायविद्यामिव उद्योतकरस्वरूपाम्)। इस प्रकार के कौतूहलजनक उपमाओं के द्वारा पाठकों का मस्तिष्क अवश्य पुष्ट होता है तथा कवि की विलक्षण चातुरों का भी पूर्ण परिचय मिलता है, परन्तु यह केवल शब्द क्रीड़ा है, जो पाठकों के हृदय को तनिक भी स्पर्श नहीं करती। इस खेलवाड़ में कौतुक का ही विशेष स्थान है। शब्दों का यह तमाशा तमाशबीनों के लिये ही आनन्दवर्धक हो सकता है, रसिकों के लिए नहीं।

परन्तु जहाँ सुबन्धु ने अपने श्लेष-प्रेम को छोड़कर काव्य का प्रणयन किया है वहाँ की शैली रोचक है तथा सहृदयों का पर्याप्त मनोरंजन करत है। साधारणतया गद्यकवि पद्यों के लिखने में कृतकार्य नहीं होता, परन्तु सुबन्धु का दृष्टान्त इससे विपरीत है। वे कोमल पद्यों की रचना में सर्वथा समर्थ हैं सत्कविता की यह स्तुति बहुत ही कोमल शब्दों में विन्यस्त की गई-

अविदितगुणापि सत्कवि-भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालती-माला ।।11।।

(जिनके गुणों का ज्ञान नहीं होता वह भी सत्कवियों की वाणी श्रोताओं के कानों में मधु की धारा उड़ेलती है। गंध से परिचय न मिलने पर भी, मालती पुष्पों की माला नेत्रों को बरबस खींचती है)। वासवदत्ता की कल्पनाओं का प्रभाव पिछले कवियों पर भी पड़ा था। विरहदुःखों की अवर्णनीयता की यह अभिव्यंजना महिम्नःस्तोत्र के एक सुप्रसिद्ध पद्य की जननी है। सुबन्धु के शब्दों में-''त्वत्कृते याऽनया यातनाऽनुभूता सा यदि नभः पत्रायते, सागरो मेलानन्दायते, ब्रह्म लिपिकरायते, भुजगपतिर्वा कथकायते तदा किमपि कथमप्यनेर्कर्युगसहस्रैरभिलिख्यिते कथ्यते वा'' (वासवदत्ता, पृ॰ 306-307)। (तुम्हारे लिए इसने जो यातना झेली है, वह यदि आकाश कागज बने, समुद्र दावात बने, ब्रह्मा, लिखने वाला हो अथवा सर्पो का राजा कथक का काम करे तब किसी तरह से हजारों युगों में लिखी या कही जा सकती है।) महिम्नःस्तोत्र का 'असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रें' वाला प्रख्यात पद्य इसी की छाया पर निर्मित बहुत रुचिर तथा रोचक है। सुबन्धु की यह प्रसन्न श्लेषमयी वाणी आलोचकों के लिए नितान्त आह्लादजनक है-

विषधरतोऽतिविषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः।।6।।

विद्वानों का यह कथन झूठा नहीं है कि खल विषधर सर्प से भी अत्यन्त विषम होता है। देखिए, विषधर तो कवेल 'नकुलद्वेषी' ही होता है, अर्थात् वह नकुल से ही द्वेष करता है, परन्तु 'न+कुलद्वेषी' वह अपने कुल से कभी द्वेष नहीं करता, लेकिन खलों की विचित्र दशा होती हैं वह तो अपने कुल से भी द्वेष तथा विरोध करता है। इस पद्य का प्राण है 'नकुलद्वेषी' पद, जो सुभंग श्लेष के कारण नितान्त सरस तथा सरल है।

कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन प्रस्तु किया है, जो श्लेष के प्रपंच से रहित होने के कारण काफी मनारंजक हैं। प्रभात का वर्णन इसका स्पष्ट उदाहरण है स्वरूप का निष्पादन तथा ख्याति उद्योतकर नामक आचार्य के द्वारा सम्पन्न है (विद्यामिव उद्योतकरस्वरूपाम्) इस प्रकार के कौतूहलजनक उपमाओं के द्वारा कवि का मस्तिष्क अवश्य पुष्ट होता है तथा कवि की विलक्षण चातुरी का भी पूर्ण परिणाम मिलता है, परन्तु यह केवल शाब्दी क्रीड़ा है, जो पाठकों के हृदय को तनिक भी स्पर्श करती। इस खेलवाड़ में कौतुक का ही विशेष स्थान है। शब्दों का यह तमाशा ....बीनों के लिये ही आनन्दवर्धक हो सकता है, रसिकों के लिए नहीं।

कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है, जो श्लेष के प्रपंच से रहित होने के कारण काफी मनोरंजक है। प्रभात का वर्णन इसका स्पष्ट उदाहरण है। परन्तु यहाँ भी उपमा तथा उत्प्रेक्षा का साहित्य नहीं हैं सच तो यह है कि सुबन्धु के काव्य में कलापक्ष का ही साम्राज्य हैं उनकी यह 'वासवदत्ता' उस विशाल सुसज्जित प्रसाद के समान है जिसक प्रत्येक कक्षा चित्रों से भूषित है तथा अलंकारों के प्राचार्य से जो दर्शकों की आँखों को हमेशा चकाचौध किया करता है। कुन्तक के द्वारा वर्णित 'विचित्र-मार्ग' का सबसे सुन्दर उदाहरण है सुबन्धु की यही कृति। बाणभट्ट की यह आलोचना वस्तुतः श्लाध्य तथा तथ्यपूर्ण है, जिसमें वासवदत्ता के द्वारा कवियों के दर्प को चूर्ण कर देने की बात कही गई है-

कवीनामंगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पांडुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्।।

सुबन्धु तथा बाणभट्ट की शैली में महान् अन्तर है। सुबन्धु का गद्य यदि 'अक्षराडम्बर' का साक्षात रूप हैं, तो बाण का गद्य स्निग्ध, रसपेशल 'पांचाली' का भव्य प्रतीक है। सुबन्धु ने आँख मूँदकर सन्दर्भ का बिना विचार श्लेष का ही व्यूह खड़ा किया, परन्तु बाणभट् की दृष्टि वर्ण्य विषय तथा अवसर के ऊपर गड़ी हुई है। वह जो लिखते है वह अवसर तथा सन्दर्भ से संघर्ष नहीं करता। स्निग्ध, रसपेशल तथा हृदयावर्जक गद्य का जीवित प्रतीक बाण सहृदयों के हृदय को स्पन्दित करता है, जब कि सुबन्धु का गद्य केवल

मस्तिष्क से ही टक्कर खाता हुआ कथमपि प्रवेश पाता है। दण्डी से भी सुबन्धु का पार्थक्य स्पष्ट है। दण्डी की तीव्र निरीक्षणशक्ति तथा यथार्थवादी शब्दविन्यास का अभाव 'वासवदत्ता' के लोकप्रिय न होने का पर्याप्त हेतु हैं सुबन्धु, बाणभट्ट तथा कविराज के साथ 'वक्रोक्ति-मार्ग' के एक निपुण कवि माने गये है अवश्य, परन्तु बाण का 'कादम्बरी' के सामने 'वासवदत्ता' का काव्य पण्डितों की गोष्ठी का ही कवेल विषय है, विदग्धों की गोष्ठी से उसका सीधा सम्पर्क नहीं है।

बोध प्रश्न-5

अभ्यास प्रश्न-5

बहुविकल्पीय प्रश्न

(1) वामन का ग्रन्थ है

(क) अलंकारसार मंजरी (ख) काव्यलंकारसूत्र

(ग) साहित्य दर्पण (घ) काव्य प्रकाश

2 हर्ष का समय है-

(क) 800ई॰ (ख) 400ई॰ (ग) 606 से 647 (घ) 609 से 640ई॰

3. वासवदत्ता के लेखक है-

(क) मम्मट (ख) हर्ष (ग) वाणभट्ट (घ) सुबन्धु

(2) अतिलघुउत्तरी प्रश्न

(क) कन्दर्पकेतु के साथ कौन भागती है ?

(ख) पाषाणमूर्ति को कौन स्पर्श करता है ?

(ग) बररूचि के बहन के पुत्र का नाम बताइये?

बोध प्रश्न बहु विकल्पीय प्रश्न

1. वासवदत्ता है

(क) नाटक (ख) आख्यायिका (ग) नाटिका (घ) कथा

2. सुबन्धु के काल की पूर्वसीमा है-

(क) 385 से 414 ई॰ (ख) 263 से 281 ई॰ (ग) 400 से 480 ई॰ (घ) 606 ई॰

3. श्रृंगारशेखर में श्रृंखलाबन्ध किया जाता था-

(क) प्रजा का (ख) सेनापति का (ग) काव्यों का (घ) कवियों का

4.रिक्त स्थानों की पूर्ति

(क) वासवदत्ता के पति का नाम.....है।

(ख) वासवदत्ता के नायक का नाम.....है।

(ग) चित्र दो प्रकार के .....और.....होते हैं।

4.3.6 दण्डी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महाकवि दण्डी-जीवन परिचय—

जिस प्रकार रूद्रट, आनन्दवर्धनाचार्य और मम्मट जैसे लब्ध प्रतिष्ठ सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यो ने भामह का नाम और उसका मत गौरव के साथ उल्लेख किया है, तादृश उल्लेख यद्यपि दण्डी के विषय में दृष्टिगत नहीं होता है, पर उसका यही कारण नहीं कि दण्डी के ग्रंथ का महत्व भामह के समकक्ष नहीं, यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो भामह का न्यायदोष प्रकरण यदि दण्डी से अधिक महत्वपूर्ण है, तो दण्डी की अलंकार, रीति और गुणों के विवेचन की मौलिकता भामह की अपेक्षा कही

अधिक परिष्कृत और उपयोगी है। सुप्रसिद्ध प्राचीन साहित्याचार्यों द्वारा भामह के समान दण्डी का उल्लेख न किये जाने का एकमात्र कारण संभवतः यही है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे और भामह काश्मीरी। साहित्य के प्राचीन प्रसिद्ध लेखक प्रायः काश्मीरी ही अधिक हुए हैं। इसी से उनके द्वारा भामह को इतना गौरव प्राप्त हो सका है और उस गौरव का मम्मट एवं रूय्यक के समय तक उसी प्रकार प्रभाव रहा है। किन्तु आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश की व्यापक और अत्यंत विद्वत्तापूर्ण विवेचना के प्रकाश ने केवल भामह के ग्रंथ को ही नहीं, अपितु प्रायः सभी पूर्वा पर ग्रंथों को निस्तेज कर दिया, फिर ऐसी अवस्था में दण्डी के ग्रंथ का-जो स्वयं ही निर्विकास था, अपनी पूर्वावस्था में रहना स्वाभाविक ही था। दण्डी ही ऐसा प्रधान साहित्याचार्य है जिनमें अपने पूर्ववर्तियों से सबसे अधिक अलंकारों के उपभेदों का एवं गुण और रीति का विस्तृत निरूपण किया है। किन्तु उसके निरूपित अंलकारों के उपभेदों का अधिकांश में उसके परवर्ती आचार्यो के अनुसरण नहीं किया है।

'अवन्ति-सुंदरी के आधार पर दण्डी का थोड़ा चरित्र प्राप्त होता है कविवर भारवि के तीन लड़के हुए, जिनमें मनोरथ मध्यम पुत्र था। मनोरथ के भी चारों वेदों की भांति चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें वीरदत्त सबसे छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम गौरी था। इन्हीं से कविवर दण्डी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता-पिता मर गये थे। वे कांची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार कांची में विप्लव उपस्थित हुआ तब ये कांची छोड़कर जंगलों में इधर-उधर भटकते फिरते थे। अनन्तर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे। भारवि और दण्डी के समभावित संबंध के विषय में अब संदेह होने लगा है। जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह दामोदर की एकता मानी जाती थी उस श्लोक में नये पाठ भेद मिलने से इस मत का बदलना पड़ा है। नया पाठ नीचे दिया जाता है-

स मेधावी कविर्विद्वान भारवि प्रभवं गिराम्।
अनुरूध्याकरोन्मंत्री नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

पहला पाठ प्रथमान्त 'भारवि' था, जब उसके स्थान पर द्वितीयान्त 'भारवि' मिला है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि भारवि की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन के साथ हो सकी। अतः दामोदर दण्डी के प्रपितामह थे, भारवि नहीं। इस नये पाठभेद से दोनों के समय-निरूपण के विषय में किसी तरह का परिवर्तन आवश्यक नहीं है। इस वर्णन से दण्डी के अंधकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है भारवि का संबंध उत्तरी भारत से न होकर दक्षिण भारत में था। हिन्दुओं की पवित्र नगरी कांची (आधुनिक कांजीवरम्) दण्डी की जन्मभूमि थी। इनका जन्म अत्यंत शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था। भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। कांची के पल्लव-नरेशों की छाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे। इस वर्णन से दक्षिण भारत की एक किंवदन्ती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम॰ रंगाचार्य ने एक किंवदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दण्डी ने'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यदर्शन के प्राचीन टीकाकार तरूणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में कांची तथा वहां के शासक पल्लव-नरेशों की ओर इगिंत किया है - **नासिक्यमध्या परितष्चतुर्वर्णविभूषिता। अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाहया नृपा॥**

अतः एव दण्डी को कांची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानना इतिहास तथा किंवदंती दोनों से सिद्ध होता है। दण्डी ने अपने काव्यादर्शमें दक्षिण प्रान्त के मलयानिल (2।174 और 3।136), काची (अस्पष्ट 3।114) कावेरी (3।166) और चोल (अस्पष्ट 3।166) स्थानों का वर्णन किया है। ऐसे ही आधारों पर दण्डी को दाक्षिणात्य कल्पना किया जाता है। संभव है यह कल्पना ठीक हो, जब कि

दण्डी का वर्णन शैली भी वैदर्भी रीति प्रधान है जो काश्मीर प्रांत के साहित्यकों से प्रायः भिन्न प्रतीत होती है।

'' जाते जागति बाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।।''

साहित्य के उपलब्ध प्राचीन लक्षण-ग्रंथों में भामह के बाद दण्डी का काव्यदर्श ही मिलता है। काव्यदर्श में तीन परिच्छेद हैं।

(1) प्रथम परिच्छेद में काव्य-परिभाषा, काव्य-भेद, महाकाव्य लक्षण, गद्य के प्रभेद, कथा, आख्यायिका, मिश्र-काव्य, भाषा-प्रभेद, वैदर्भ आदि मार्ग, अनुप्रास, गुण और काव्य-हेतु का विवेचन है।

(2) द्वितीय परिच्छेद में 35 अर्थालंकार (संसृष्टि सहित) निरूपण किये गये हैं।

(3) तृतीय परिच्छेद में यमक, गोमूत्रादि चित्रबंध काव्य, प्रहेलिका और दश दोषों का निरूपण है।

दण्डी का समय एवं स्थिति-काल—

नवम शताब्दी के ग्रंथों में दण्डी का नामोल्लेख पाये जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघली भाषा के अंलकार-ग्रंथ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्शन के आधार पर की गई है। इसका रचयिता राजा, सेन प्रथम महावंश के अनुसार 846 - 66 ई० तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ भाषा के अलंकारग्रंथ ' कविराजमार्ग ' में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से पूर्णतः लिये गये या कहीं - कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गये है। हेतु अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण तो दण्डी से अक्षरश: मिलते हैं। इसके लेखक 'अमोघवर्ष' का समय 815 ई के आसपास माना जाता है। अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनन्तर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती है। यह तो दण्डी के काल की अंतिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिए। यह निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दण्डी की ही मौलिक रचना नहीं है, उनमें प्राचीनों के भी पद्य सन्निविष्ट है। लक्ष्म लक्ष्मी तनोतीति प्रतीति-सुभग वच में दण्डी के इति शब्द के स्पष्ट प्रयोग से यहां जाना जाता है कि कालिदास के प्रसिद्ध **प्रद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति'** से उद्धरण दिया गया है। अतः इनके कालिदास के अनन्तर होने में तो संदेश का ध्यान नहीं है, परन्तु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के भी अनन्तर प्रतीत होते हैं।

अरत्नालोकसंहार्यमवार्य सूर्यरश्मिभिः। दृष्टिरोधंकरं यूना यौवनप्रभवं तमः।।

काव्यादर्श इस पद्य में कादम्बरी में चन्द्रापीड को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है। दण्डी को बाणभट्ट (7 वीं सदी पूर्वार्द्ध) के अनन्तर मानने में कोई विप्रतिपति नहीं जान पड़ती है। प्रो. पाठक की सम्मति में काव्यादर्श में निर्वत्य, विकार्य, तथा प्राप्य हेतु का विभाग वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि (650 ई०) के अनुसार किया गया है। काव्यादर्श के उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंहवर्मा द्वितीय (जिसका विरूद अथवा उपनाम राजवर्मा था।) मान ले तो किसी प्रकार की अनुपपति उपस्थित नहीं होती। प्रो. आर. नरसिंहचार्य तथा डाक्टर बेलबल्कर ने भी इन दोनों की एकता मानकार दण्डी का समय सातवीं सदी का उतरार्द्ध बतलाया है। शैव-धर्म उत्तेजक पल्लवराज नरसिंह वर्मा का समय 690-715 ई० माना जाता है। अतः इनके सभा कवि दण्डी का भी समय बाण के पश्चात् सप्तम शती के अंत तथा अष्टम के आरंभ में मानना उचित प्रतीत होता है।दण्डी का समय भी अत्यंत संदिग्ध है। दण्डी की अन्तिम सीमा के लिये अन्य ग्रंथों में निम्नलिखित आधार प्राप्त होते हैं-

(1) श्री अभिन्वगुप्ताचार्य ने, जिनका समय लगभग दशम शताब्दी है धन्यालोक की व्याख्या लोचन में लिखा है - **यथाहदण्डी-**

(2) प्रतिहारेन्दुराज ने, जिसका समय लगभग ईसवी सन् 925 है, उद्भटाचार्य के काव्यलंकारसारसंग्रह की लघुवृति पृष्ठ 28 में लिखा है- अतएव दण्डिना लिम्सीव इत्यादि।

(3) कनारी भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक एक ग्रंथ राष्ट्रकूट के राजकुमार अमोघवर्ष प्रणीत है। उसके संपादक श्री पाठक के कथानानुसार उस ग्रंथ के साधारणोपमा, अंसभवोपमा, संभवोपमा, विशेषोक्ति, और अतिशयोक्ति की परिभाषाएं दण्डी के काव्यादर्श से सर्वथा अनुवादित हैं। और अन्य भागों पर भी काव्यादर्श का पर्याप्त प्रभाव है। उस ग्रंथ का निर्माणकाल शक 736-797 (815-874ई०) है।

(4) सिंहली भाषा में एक 'सियाकसलकार (स्वभाषालंकार) नामक ग्रंथ है। वह दण्डी के काव्यदर्श पर ही अवलम्बित हैं। उसमें काव्यदर्श का स्पष्ट नामोल्लेख भी है। महावंश के अनुसार इसका लेखक प्रथम राजा सेन का राज्यकाल सेन 846-866 है।

(5) वामन के काव्यलंकार सूत्र से दण्डी के काव्यादर्श को तुलनात्मक विवेचना द्वारा विदित होता है कि वामन से दण्डी प्राचीन हैं। दण्डी ने रीति-सिद्धांत का जो महत्वपूर्ण विवेचन किया था, उसे वामन ने अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया है। दण्डी, वैदर्भी और गौड़ी दो ही मार्ग बतलाता है- तत्र वैदर्भ गौडीयौ (1।40) किन्तु वामन उनमें एक पांचाली और बढ़कर तीन बतलाता है। वामन इनकों 'मार्ग न कह कर 'रीति' कहता हुआ (यद्यपि उसने मार्ग का प्रयोग भी किया है (3। 1।12) इतना महत्व देता है कि रीतिरात्माकाव्यस्य इससे ज्ञात होता है कि वामन को पांचाली रीति से और उसके पारिभाषिक शब्द रीति से दंडी सर्वथा अपरिचित था और भी ऐसे कारण हैं, जिनके द्वारा दण्डी का वामन से प्रथम होना प्रतीत होता वामन का समय आठवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्द्ध है। जैसे कि आगे स्पष्ट किया जायेगा। इन आधारों पर दण्डी की अंतिम सीमा सन 800 ईसवी के लगभग हो सकती है। किन्तु एक और भी प्रमाण मिलता है। जिसके द्वारा यह सीमा भी पूर्व काल तक चली जाती है।

शारंगधर पद्धति में (संख्या 180) विज्जिका नाम्री एक स्त्री लेखिका का-

'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिनाप्रोक्त सर्वशुक्ला सरस्वती।।

यह पद्य है काव्यादर्श में दण्डी ने मंगलाचरण प्रथम पद्य में 'सर्व -शुक्लसरस्वती लिखा है। इस पर विज्जका का यह व्यंग्यपरक उपहास है विज्जका के अनेक पद आचार्य मम्मट आदि के ग्रन्थों में उदाहरण रूप में मिलते है इसके पद्य विजया ;विज्जा के नाम से भी उद्धृत किये गये हैं। इसके विषय में कल्हण की सूक्ति मुक्तावली (सख्या 184) में राजशेखर के नाम से

'सरस्वतीव कार्णाटी विजया जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासनन्तरम्।।

यह पद्य हैं। इसके द्वारा यह दक्षिण प्रान्त की विदित होती है। संभवतः विख्यात कार्णाटी वही भारिका विजिया है; जो चंद्रादित्य की महारानी थी चंद्रादित्य द्वितीय पुलकेशिन का पुत्र था। इसका समय सन् 660 ई0 है। यदि विजिया का पिज्जिक से एकीकरण भ्रमात्मक न हो जैसा कि संभव भी नही है ;क्योंकि जिसने स्वयं अपनी विद्वत्ता के गर्व पर दण्डी पर व्यंग्योक्ति की है और जिसके विषय में राजशेखर जैसे विद्वान् द्वारा ऐसा महत्वपूर्ण उल्लेख हो तो दण्डी की अंतिम सीमा विज्जका के पूर्व लगभग सन् 600 ई0 है। इसके सिवा ईसवी सन् की छठी शताब्दी के सुबन्धु प्रणीत वासवदत्ता में -'यश्र छन्दोविचिति रिव कुसुमविचित्राभिः - छन्दो विचितिरिव मालिनासनाथा। 'छन्दो विचिमिव भ्राजमानतनुमध्याम्' इस प्रकार तीन स्थलापर छन्दों विचिति शब्द का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि दण्डी -'छन्दो

विचित्यां सकलस्तत्प्रपई को विरचित। इस वाक्य में दण्डी ने अपने 'छन्दों विरचित' नामक अपनें छंद-ग्रंथ का नामोल्लेख किया है। उसी के विषय में उपर्युक्त वाक्य सुबन्ध के हैं। यदि वह कल्पना ठीक हो तो इसके द्वारा भी दण्डी का सुबन्धु के पूर्ववर्ती अर्थात ईसवी की छठी शताब्दी में होना सिद्ध होता है। दण्डी का समय बहुत से ऐतिहासिक विद्वान छठी शताब्दी में ही बतलाते है। जैसे मि॰ मैक्समूलर, मि. वेबर प्रोफेसर मेकडोनल और कर्नल जेकौबी आदि।

किन्तु दण्डी की पूर्व सीमा के लिये जो अन्य आधार उपलब्ध होते हैं वे अधिक प्रबल हैं, और उनके द्वारा ऊपर की मान्यता पर आघात पहुंचता है। श्री महेशचंद्र न्यायरत्न मि. पीटरसन और जोकोवी का मत है कि दण्डी के 2।197 में बाण की कादम्बरी (बोम्बे संस्कृत सीरीज संस्करण के पृ. 102 पंक्ति 16) का प्रतिबिम्ब हैं वाण का समय तो महाराज श्री हर्षवर्द्धन के समकालीन 606-647 ई॰ है।

'किरातार्जुनीयपचदशसर्गादिकोंकारो दुर्विनीतनामधेयः।'

इस वाक्य द्वारा विदित होता है। अतएव भारवि का समय लगभग छठी शताब्दी के अंतिम चरण से शताब्दी के प्रथम चरण तक माना जा सकता है। और अवन्तिसुन्दरीकथा के-

'मनोरथाव्हयस्तेषां मध्यमों वंशवर्द्धनः।
ततस्तनूजाश्चत्वार स्त्रटुर्वेदा इवा भवन्' ॥
श्री वीरदत्त इत्येषां मध्यमों वंशवर्द्धनः।
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामा भवत्प्रिया ॥
ततः कथंचित्सा गौरी द्विजाधिपशिरोमणेः।
कुमार दण्डिना मानं व्यक्तशक्तिमजीजनत् ॥

इन पद्यों से विदित होता है, कि भारवि का मध्यम पुत्र मनोरथ के चार पुत्रों में सबसे छोटा वीरदत्त था। वीरदत्त की पत्नी का नाम गौरी था इन्ही वीरदत्त और गौरी देवी से दण्डी का जन्म हुआ है। इनकी जन्मभूमि कांची (आधुनिक कांजीवर) थी। इसके द्वारा दण्डी का दाक्षिणात्य होना भी सिद्ध है, जैसे कि अबतक विद्वानों की कल्पना है। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये 20 वर्ष भी मान लिये जाय तो भी दण्डी का समय इस आधार पर सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण हो सकता है। इसके द्वारा भामह और दण्डी के पूर्वापर के संबंध में जो पहिले विवेचन किया गया है। उसकी पुष्टि भी होती है कि भामह का समय महाकवि बाण के पूर्ववर्ती संभवतः छठी शताब्दी है। और दण्डी का समय सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण ही माना जा सकता है।

दण्डी के प्रमुख ग्रंथ—

राजशेखर ने इस प्रख्यात पद्य में दण्डी के तीन प्रबन्धों के अस्तित्व का स्पष्ट निर्देश किया है-

त्रयोअग्नयस्त्रयों देवास्त्रयों वेदास्त्रयों गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥ (शारंगधरपद्धति)

दण्डी की इस विश्रुत प्रबंधत्रयी में काव्यादर्श निःसंदेह अन्यतम रचना है' इसमें कोई मत नहीं हो सकते। आज कोई भी विज्ञ आालोचक 'छन्दोविचित' तथा कलापरिच्छेद को जो काव्यदर्श के आरंभ तथा अंत के आंरभ तथा अंत में निर्दिष्ट किये गये है, स्वतंत्र ग्रन्थ मानने के पक्ष में नहीं है। तो छंदशास्त्र का ही अभिधान है और दण्डी ने भी स्वयं इसे काव्य में प्रवेश पाने के लिए विद्या के रूप में निर्दिष्ट किया है (सा विद्या नौर्विविक्षूणाम्-काव्यादर्श) दण्डी की ही दृष्टि में यह विद्या है, रचना नहीं। इसी प्रकार 'कलापरिच्छेद' भी काव्यादर्श का ही कोई अनुपलब्ध अंश है जिसे दण्डी ने अवश्य लिखा था, परन्तु आज उपलब्ध नहीं है।

दण्डी का द्वितीय ग्रंथ कौन है ? दण्डी के नाम से दशकुमार-चरित' नामक रोमाचंक आख्यानों तथा कौतूहल से परिपूर्ण ग्रंथ पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। दशकुमार-चरित के विभिन्न पाठ-संस्करणों की परीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ के तीन खण्ड है- भूमिका, मूल ग्रंथ पूरक भाग, जिनमें क्रमश: 5, 8 तथा 9 उच्छवास है। ये तीनों भागों आपस में मेल नहीं खाते। भूमिका भाग (5 उच्छवास) पूर्वपीठिका के नाम से प्रख्यात है तथा पूरक भाग है। मूलग्रंथ और पूर्वपीठिका के कथानकों में अवान्तर चरित के अन्वर्थक नाम से प्रख्यात है। मूलग्रंथ और पूर्वपीठिका के कथानकों में अवान्तर घटना-वैषम्य है। मूलग्रंथ के आठ उच्छवासों में केवल आठ ही कुमारों के विचित्र चरित्र का उपन्यास है, परन्तु नाम की सार्थकता सिद्ध करने के विचार से पूर्वपीठिका में अन्य दो कुमारों का चरित जोड़ दिया गया है और अधूरे ग्रंथ को पूर्णता की कोटि पर पहुंचाने के लिए अंत में उत्तरपीठिका में भी जोड़ दी गई है। इस प्रकार आंरभ में पूर्वपीठिका से और अंत में उत्तरपीठिका से संपुटित समग्र ग्रंथ ही आज 'दशकुमार-चरित' के नाम से प्रख्यात है।

इधर दण्डी के नाम में प्रकाशित 'अवन्तिसुंदरी-कथा' तथा दशकुमारचरित के तुलनात्मक अनुशीलन से प्रतीत होता है कि अवन्तिसुन्दरी कथा ही दण्डी की मौलिक रचना है। हस्तलेखों की पुष्पिका का प्रामाण्य तो है ही अप्पयदीक्षित (प्रसिद्ध वेदान्ती से भिन्न व्यक्ति) ने अपने 'नामसंग्रहमाला' नामक ग्रंथ में 'इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगात्' लिखकर दण्डी को इस ग्रंथ का प्रामाणिक रचयिता सिद्ध किया है। इस कथा में 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका में वर्णित वृत है। अतः अनुमान लगाना सहज है कि 'अवन्तिसुदंरी' ही दण्डी की विश्रुत कथा है, जिसका सारांश किसी व्यक्ति ने दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका के रूप में उपनिबद्ध किया। यह तथ्य ध्यातव्य है कि दशकुमारचरित का नाम न तो अलंकार के किसी ग्रंथ में और न किसी व्याख्या ग्रंथ में ही निर्दिष्ट किया गया है। इसकी सर्वाधिक प्राचीन टीका 'पदचन्द्रिका' कवीन्द्राचार्य सरस्वती की रचना है (पुष्पिका से प्रमाणित)। फलतः दशकुमारचरित की रचना का काल 17वीं शती से कुछ प्राचीन अवन्तिसुंदरी बड़ी उदातशैली में विरचित कथा है। वर्ण्य विषय के अनुसार शैली में भी अंतर पाये पाते है। गाढबंध के लिए जहां समास की बहुलता है, वहां उपदेश के स्थलों पर असमस्त पदों का प्राचुर्य है। इसमें कादम्बरी की कथा का वर्णन है जिससे दण्डी बाण भट्ट के अनन्तर उत्पन्न हुए थे- यह तथ्य निश्चयेन प्रतीत होता है। शैली के ऊपर भी बाणभट्ट का प्रभाव पूर्णतः लक्षित होता है। मेरी दृष्टि में इसी गद्यकथा को लक्षित कर 'दण्डिनः पदलालित्यम् वाला आभाणक विदग्ध-गोष्ठी में प्रचलित हुआ था। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। लक्ष्मी का यह वर्णन ललितपदों का विन्यास प्रस्तुत करता है-रज्जुरियम् उद्बन्धनाय सत्यवादितायः विषमियं जीवितहरणाय माहात्म्यस्य, शस्त्रमियं विषसनाय सत्पुरुषवृत्तानाम्, अग्निरिय धर्मस्य, सलिलमियं निमज्जनाय सौजन्यस्य, धूलिरियं घूसरीकरणाय चारित्रस्य (पृ॰ 47)। इसके आरम्भ में प्राचीन कविविषयक स्तुति-पद्यों के अनन्तर दण्डी तथा उनके पूर्व-पुरुषों का ऐतिहासिक वृत्त वर्णित है जो आरम्भ में दिया गया है और जिससे दण्डी के अविर्भाव का काल सप्तम शती का अन्तिम अथवा अष्टम शती का प्रथम चरण सिद्ध होता है। अवन्तिसुन्दरी कथा ही निश्चयेन दण्डी का प्रख्यात गद्यकाव्य है। यह अधूरा ही उपलब्ध है। यदि यह पूर्णरूपेण उपलब्ध हो जाय, तो दशकुमारचित के साथ इसके सम्बन्ध की पूर्ण समीक्षा हो सके।

दण्डी के तृतीय प्रबन्ध की सूचना हमें भोजराज के श्रृंगारप्रकाश से प्राप्त होती है। भोज ने इसे दो बार अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया ह-'दण्डिनो धनंयस्य वा द्विसन्धाने (सप्तम प्रकाश) तथा 'रामायण-महाभारतयोर्दण्डिद्विसन्धानमिव' (अष्टम प्रकाश)। दण्डी का यह द्विसन्धान काव्य श्लेष के द्वारा रामायण एवं महाभारत के दोनों कथानकों को समान पद्यों में वर्णन करता है, यह महाकाव्य आज उपलब्ध नहीं है

परन्तु भोज के द्वारा निर्दिष्ट होने से इसकी सत्ता एकादश शती में अनुमानत: सिद्ध होती है। इस प्रकार दण्डी की प्रबन्धत्रयी है-काव्यादर्श, अवन्तिसुन्दरी तथा द्विसन्धानकाव्य।

बोध प्रश्न-6

अभ्यास प्रश्न-6

बहुविकल्पीय प्रश्न

(अ) काव्यादर्श में परिच्छेद है ?

(क) 6 (ख) 3 (ग) 9 (घ) 10

(ब) आचार्य दण्डी के पिता का नाम था।

(क) वीरदत्त (ख) चित्रभानु (ग) वाचस्पति (घ) राघव

(स) काव्यादर्श में अंलकारों की संख्या है।

(क) 30 (ख) 62 (ग) 35 (घ) 45

(2) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) आचार्य दण्डी के माता का नाम.....है।

(ख) काव्यादर्श..... में विभक्त है।

(ग) दण्डी का जन्मस्थान.....है।

(3) निम्न वाक्यों में सही के सामने (√) और गलत के सामने (×) का चिन्ह लगायें:-

(क) दशकुमार चरित के रचनाकार आचार्य दण्डी है ( )

(ख) दण्डी ने गौणी रीति का प्रयोग किया है ( )

(ग) दण्डी ने दश गुणों का निरूपण किया है ( )

(घ) दण्डी ने अर्थालंकारों का वर्णन किया है ( )

4.3.7 पण्डितराज जगन्नाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पण्डितराज जगन्नाथ का परिचय—

आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ नैसर्गिक कवित्वसम्पन्न काव्यशास्त्रीय आचार्य थे। आन्ध्रप्रदेश इनकी जन्मभूमि थी। यह तैलंग ब्राह्मण थे। यह जगन्नाथकृत आसफविलास के आरम्भ में ही लिखा है-''तैलश्कुलावतंसेन पण्डितराज जगन्नाथेन''। इनके पिता पेरुभट्ट महान् विद्वान् थे, इसका प्रमाण प्राणभरण के आदि में लिखा है-''श्रीमत्पेरमभट्सूरितनयः। जिन्होंने ज्ञानेन्द्रभिक्षु से वेदान्त, माहेन्द्र पण्डित से न्याय-वैशेषिक, खण्डदेव उपाध्याय से मीमांसा और शेष वीरेश्वर का अध्ययन किया था और सर्वविद्याधर थे। इसका वर्णन रसगंगाधर के आदिभाग में उपलब्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने पिता से अध्ययन किया था और उनके गुरु शेष वीरेश्वर से भी पढ़ा था। ''अस्मदगुरु पण्डितवीरेश्वराणाम्''-मनोरमाकुचमर्दन के प्रारम्भ में वर्णन है। ये व्याकरण, दर्शन और साहित्यशास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् थे। ये प्रतिभाशाली, प्रत्युत्पन्नमति, समयपरीक्षक, युगद्रष्टा और प्रभावशाली पण्डित थे । तरुण होते ही ये विद्वान् हो गये और विद्वान् होते ही दिल्लीश्वर-शाहजहाँ के कृपापात्र होकर पण्डितराज की पदवी प्राप्त कर ली-इन्होंने भामिनीविलास में लिखा है-''दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः''। इन्होंने 'आसफविलास' के आरम्भ में लिखा है कि-''मर्त्तिमतेव नवाब आसफखानमनः प्रसादेन द्विजकुलसेवा-हेवाकि-वाड्मनःकायेन माथुरकुलसमुद्रन्दुना रायमुकुन्देनादिष्टेन श्रीसार्वभौमश्री शाहजहाँ-प्रसादादधिगमत- 'पण्डितराज' पदवी विराजितेन तैलंगकुलावतंसेन पण्डितराजजगन्नाथेन आसफविलासाइत्येयंमाख्यायिका विरमीवत्''।

वहाँ कुछ दिन शाहजहाँ तथा उसके पुत्र दाराशिकोह के आश्रय में अपना 'नवीनवयः' (युवावस्था का पूर्वार्ध, 30 वर्ष तक) सुखपूर्वक बिताया था-''दिल्ली-वल्लभ-पाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयं''(भामिनीविलास)। जगदाभरण में जगन्नाथ ने दाराशिकोह का वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि 1640 ई॰ के बाद ये दिल्ली से निकल पड़े, उस समय यदि इनकी आयु 30 वर्ष माने तो इनका जन्मसमय 1610 ई॰ अनुमानित होता है।

ये अप्पयदीक्षित और भट्टोजिदीक्षित के उत्तरसम-सामयिकविरोधी थे तथा इनके ग्रन्थों पर स्वतन्त्ररूप से खण्डन-ग्रन्थ लिख गये थे। अप्पयदीक्षित के भ्रातुष्पौत्र एवं शिष्य नीलकण्ठ दीक्षित ने 1638 ई॰ में नीलकण्ठविजय काव्य की रचना की थी, जिस समय दीक्षितजी परम वृद्ध रहे होंगे। सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर पण्डितराज के एवं उनके पिता पेरुभट्ट के गुरु थे। बादशाह शाहजहाँ के साथ पण्डितराज ने कश्मीर की यात्रा की थी और वहाँ के नवाब आसफखान द्वारा बादशाह के सत्कारादि का वर्णन इन्होंने 'आसफविलास' में किया है। विद्वान् होते ही जगन्नाथ राजाश्रय को प्राप्त करने बीकानेर गये। वहाँ के राजा जगत सिंह की प्रशंसा में इन्होंने जगदाभरणकाव्य (53 पद्यमात्र) की रचना की। इन्हीं जगत सिंह के पिता कर्ण सिंह के आदेश से मैथिल गशनन्द कवीन्द्र ने कर्णभूषण (रसनिरूपण) ग्रन्थ की रचना की थी। किंवदन्ती है कि वहाँ से ये जयपुरनरेश जय सिंह की सभा में पधारे। वहाँ मुल्लाओं के दो आक्षेपों के निराकरण हेतु पण्डितसभा हुई थी; पर समाधान नहीं हो रहा था। पण्डितराज ने समाधान का वचन दिया और कहा कि 'एक आक्षेप का उत्तर मैं तुरन्त दे सकता हूँ और दूसरे का उत्तर अरबी-फारसी पढ़कर दूँगा। वहाँ इन्हें फारसी पढ़ाने की व्यवस्था की गई और कुछ ही दिनों में ये दस भाषा के पारंगत हो गए। उक्त आक्षेपों का उत्तर देने हेतु इन्हें दिल्ली बादशाह के दरबार में भेजा गया। इनके समाधान से सभी प्रसन्न हो गये।

आक्षेप-(1) राजा जय सिंह आदि वास्तविक क्षत्रिय नहीं है, क्योंकि परशुराम ने जब इक्कीस बार पृथ्वी को निः क्षत्रिय कर दिया तो क्षत्रिय आये कहाँ से ?

समाधान-परशुराम ने जब पहली बार पृथ्वी को निः क्षत्रिय कर दिया, तो दूसरी बार के लिए क्षत्रिय कहाँ से आए ? यह इक्कीस बार कहना ही प्रमाणित करता है कि संहार के बाद भी बहुत क्षत्रिय बचे रहे, जो इन राजाओं के पूर्व थे।

आक्षेप-2, अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीन है।

समाधान-मुसलमानों के 'हदास' धर्मग्रन्थ में लिखा है कि-'मुसलमान हिन्दुओं से विपरीत आचरण करें, यही उनका धर्म है'। इस वाक्य से ही सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्म मुसलमानों के धर्म से प्राचीन है और स्वतः सिद्ध है कि उन हिन्दुओं की भाषा भी अरबी से प्राचीन है। दिल्ली दरबार में रहकर पण्डितराज ने एक परमरमणीय यवनी से प्रेम किया और बादशाह की कृपा से वह इन्हें प्राप्त हो गई। इसका प्रमाण यह है कि-

न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्त, 'लवंगी कुरंगी दृगंगी करोतु ॥

यह समाचार देशभर में फैल गया और इन्हें पण्डितों ने जातिच्युत घोषित कर दिया। इन पण्डितों में अप्पयदीक्षित और भट्टोजिदीक्षित प्रमुख थे। अतः इनसे बैरभाव हो गया था कुछ दिनों के बाद यह यवनी, जिसका नाम 'लवंगी' था, असमय में ही विदशता हो गई और पण्डितराज ने विरक्तभाव से दिल्ली को छोड़ दिया। ये यवनी सम्पर्क से अपने को स्वयं पापी समझने लगे-

सुरधुनिमुनिकन्ये! तारथेः पुण्यवन्तं
स तरित निजपुण्यैस्तत्र किं ते महत्त्वम्।

यदि हि यवनकव्या-पापिनं मां पुनीहि
तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम् ।। (रसलहरी)

कुछ समय पण्डितराज ने नेपाल के समीप कूचविहार (कामरूप) के राजा प्राणनारायण (1633-66ई०) के आश्रय में भी रहे, जहाँ 'प्राणाभरण' की रचना की। यह ग्रन्थ वही है जिसे पूर्व में 'जगदाभरण' कहा गया है, फर्क इतना ही है कि वहाँ जगत सिंह के स्थान में 'प्राणनारायण' रख दिया गया है। इस राजा का वंश इस प्रकार है-विश्व सिंह-मल्लदेव (नरनारायण)-लक्ष्मीनारायण-वीरनारायण- प्राणनारायण। इनमें मल्लेदव के आश्रित काव्यकौमुदीकार देवनाथ ठक्कुर (काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर के पुत्र) थे। वहाँ से लौटकर ये काशी में रहने लगे। अन्य राजाओं का आश्रय इन्हें तुच्छे दिखने लगा। ये लिखते हैं-

दिल्लीश्वरों वा जगदीश्वरों वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्यैनृपालैः परिदीयमानं शाकायं वा स्याल्लवणाय वा स्यात् ।।

रसगंगाधर के मंगलाचरण आदि से ज्ञात होता है कि पण्डितराज वैष्णव थे, हालॉकि अन्य देवताओं की स्तुति भी इनको प्राप्त है। इनका जीवन यद्यपि उल्लासमय रहा, पर इन पर बड़े-बड़े अनर्थपात हुए- युवावस्था में ही पाणिगृहीती 'करुण विलास' में उन्होंने लिखा है-

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशत् करं मे
या रूढत्रवत्यसि शिलाशकलं विवाहे।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि! द्याम्
आरोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति ।।

स्वजातीय पत्नी और पाणिगृहीता (यवनी प्रेयसी) का देहान्त हो गया। युवक पुत्र स्वर्गवासी हो गया। यह रसाशधर-प्रत्यनीक अलंकार के उदाहरण में पुत्रशोक का वर्णन। यवनीसम्पर्क-दोष से पण्डितों द्वारा अपमानित हुए और अन्त में विरक्त होकर गंगा के शरण में गंगालहरी की रचना करते हुए गंगालाभ कर लिया। ये ब्रह्मतेज से युक्त थे किंवदन्ती है कि जब यवनी इनके शयनकक्ष में आयी तो उसे हुआ कि मैं जल जाऊँगी और वह लौट गई। बादशाह के दरबार में पण्डितराज के इस ब्रह्मतेज को कम करने का प्रश्न उठ गया। किसी पण्डित के कहने से इन्हें हुक्के के पानी से नहलाया गया और तब यवनी इनके पास जा सकी। पण्डितराज बहुत गर्वीले स्वभाव के थे और यह गर्व उनका यथार्थ था, परन्तु विद्वत्समाज इन्हें शास्त्रोद्धत कहता है। वे न केवल 'अलंकारान् सर्वान् अपि मलितगर्वान् रचयुत'' जैसी उक्ति रखते हैं, अपितु अपनी कविता की स्वयं ही अत्यधिक प्रशंसा करते हैं-

धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षा-क्षीरेषु-माक्षिक-सुधानाम्।
वन्द्यैव माधुरीयं पण्डितराजस्य कवितायाः।।

ये न केवल अप्पयदीक्षित या भट्टोजिदीक्षित का खण्डन दर्पपूर्ण वाणी से करते हैं, वरन् आनन्दवर्धन, मम्मट आदि की तीखी आलोचना में भी ये पीछे नहीं रहे। परन्तु अन्तिम अवस्था में इन्हें अपने कृत्यों पर पश्चाताप हुआ कि क्यों हमने विद्वानों का अनादर किया ? क्यों यवनीसम्पर्क किया ? और इस विरक्ति के साथ संसार से ऊबकर भगवती भागीरथी गंगा के शरण में पहुँचे। पर उस समय में भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) ने इन्हें नहीं छोड़ा और ये गर्व से गंगा नदी की सबसे ऊपरी सीढ़ी पर बैठ गये ओर बोले-'माता गंगा के लिए मैं इतनी दूर से आया हूँ तो यह माता पुत्र के लिए थोड़ी दूर भी ऊपर नहीं होंगी ? पण्डितराज गंगालहरी के एक-एक पद्य रचते व सुनाते थे और गंगा एक-एक सीढ़ी ऊपर आ रही थी और अन्तिम पद्य समाप्त होते ही एक ऐसा तरंग आया जो पण्डितराज को समेटे हुए प्रवाह में विलीन कर लिया, माता ने पुत्र को गोद में ले लिया। इनके सम्बन्ध में और भी कुछ-लवंगी के ऊपर यह इतने आसक्त थे कि उसके बिना इन्हें तनिक भी चैन नहीं था और स्वर्ग का सुख भी तुच्छ प्रतीत होता था-

यवनी नवनीतकोमलाशी शयनीये यदि नीयते कदाचित् ।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माधवनी विनोदहेतुः ।।
यवनीरमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीसमा ।
उहि-ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यद गता ।।

इत्यादि अनेक श्लोक पण्डितराज ने इस यवनकन्या के विषय में कहे है । अपना यौवनकाल इन्होंने इस यवनकन्या के साथ दिल्ली में बिताया । ढलती उमर में यौवन का नशा उतरने पर इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए 'मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते' मथुरा आकर कृष्ण की आराधना में लग गये और अन्त समय में (अर्थात् काशी जाने से पूर्व) 'यमुनावर्णनम्' तथा 'यमुना लहरी' की रचना की थी । अलंकारशास्त्र के सम्बन्ध में इन्होंने जो ग्रन्थ लिखा, उसका नामकरण 'रसगंगाधर' है । यह प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है । इनमें सारे उदाहरण उन्होंने स्वयं अपने बनाकर दिये हैं । इससे स्पष्ट है ग्रन्थरचना क्रम में सबसे अन्त है इस बात का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है-

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किच्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तुरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।

किन्तु दुर्भाग्य है कि पण्डितराज का यह ग्रन्थ अधूरा है । इसमें केवल दो आनन हैं । प्रथम आनन में अन्य सब काव्यलक्षणों का खण्डन करके 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को काव्य का लक्षण स्थापित किया है । काव्य के हेतुओं में प्रतिभा को ही मुख्य हेतु ठहराया गया है और 1. उत्तमोत्तम, 2. उत्तम, 3. मध्यम तथा 4. अधम ये चार काव्य के भेद बतलाये हैं । द्वितीय आनन में ध्वनि के भेदों को दिखलाकर अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन किया है । उसके बाद 70 अलंकारों का वर्णन किया है । उत्तरालंकार के विवेचन के बाद यह ग्रन्थ बीच में ही समाप्त हो गया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ कृत रचनायें—

1. श्रृंगारविलास-180 पद्य ।
2. आसफविलास-गद्याख्यान, शाहजहाँ की काश्मीरयात्रा एवं वहाँ के नवाब आसफखान से मुलाकात ।
3. करुणविलास (पत्नी वियोग में विलाप) 19 पद्य ।
4. प्रास्ताविक विलास-122 पद्य ।
5. शान्तिविलास-निवेंद पद्य-44 ।
6. जगदाभरण-53 पद्य । विकानेर के राजा जगत सिंह की प्रशंसा ।
7. प्राणाभरण-53 पद्य कामरूप (कुचविहार) के राजा प्राणनारायण की प्रशंसा । यह 'जगदाभरण' में ही नाम परिवर्तन करके प्रस्तुत किया गया है ।
8.यमुनावर्णन-गद्य, अनुपलब्ध, रसगंगाधर के मध्यम काव्य के उदाहरण में इसकी पंक्ति उद्धृत है।
9. लहरी-पंचक-

(1) गंगालहरी-53 पद्य, इसे पीयूषलहरी भी कहते हैं-
''इमां पीयूष लहरीं जगन्नाथेन निर्मिताम्''।।
(2) यमुना लहरी-11 पद्य, इसे अमृतलहरी कहते हैं ।
(3) करुणालहरी-55 पद्य, कृष्ण की स्तुति ।
(4) लक्ष्मीलहरी-41 पद्य ।
(5) सुधालहरी-30 पद्य, सूर्यस्तुति ।

10. भामिनीविलास-588 पद्य।

11.चित्रमीमांसा खण्डनम्-अप्पयदीक्षितकृत चित्रमीमांसा अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ का खण्डन।

12.मनोरमाकुचमर्दनम्-भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा (व्याकरणशास्त्रीय व्याख्या ग्रन्थ) का खण्डन।

13.रसगंगाधर-अलंकारशास्त्रीय महान् ग्रन्थ।

बोध प्रश्न-7

अभ्यास प्रश्न-7

(क) प०राज० जगन्नान्थ की जन्मभूमि थी।

(क) आन्ध्र प्रदेश (ब) हैदराबाद (स) उज्जैन (द) पंजाब

(ख) इनके पिता का नाम था।

(अ) मेरूभट्ट (ब) भट्टलोलट (स) अभिनव (द) पेरूभट्ट

(ग) पं० राज की अन्तिम रचना का नाम।

(अ) साहित्यलहरी (ब) गंगालहरी (स) रसगंगाधर (द) श्रृंगार विलास

(2) अतिलघुउत्तरी प्रश्न

(क) सुधा लहरी किसकी रचना है-

(ख) भामिनी विलास में कितने पद्य है-

(ग) शरीरंतावदिब्यर्थव्यवाच्छिन्ना पदावली यह किस कवि ने काव्य की परिभाषा दी।

(3) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. पं० राज जगन्नाथ.....को केवल काव्य का हेतु मानते है।

2. प्रतिभा.....और.....दो प्रकार की होती है।

3. पं०राज ने काव्य.....भेद बताया है।

4. निम्नकथनों में सही के सामने (√) और गलत के सामने (×) का चिन्ह लगाऐं।

(क) पं० राज जगन्नाथ ने रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्य कहा है।

(ख) आचार्य दण्डी ने लहरी पच्चक की रचना की है।

(ग) भरतमुनि ने सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र की रचना किया है।

4.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके है कि मृच्छकटिकम् के विषय में शूद्रक कहते हैं कि कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से वर्ण्य विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। नाट्यशास्त्र संस्कृत भाषा का परमरमणीय अंग है। शूद्रक ने संस्कृत-साहित्य में शायद पहिली बार मध्यम श्रेणी के लोगों को अपने नाटक का पात्र बनाया है। संस्कृत का नाटक उच्च श्रेणी के पात्रों के चित्रण में तथा तदनुकूल कथानक के गुम्फन में अपनी भारती को चरितार्थ मानता है, परन्तु शूद्रक ने इस क्षुण्ण मार्ग का सर्वथा परित्याग कर अपने लिए एक नवीन पंथ का ही अविष्कार किया है। मुद्राराक्षस सात अंकों का राजनीतिक नाटक है। मुद्रा (राक्षस की अँगूठी) के द्वारा राक्षस को वश में करने का मुख्य कथानक होने से इस 'मुद्राराक्षस' (मुद्रया गृहीतो राक्षसों मुद्राराक्षसः, तमधिकृत्य कृत नाटकं मुद्राराक्षसम्) कहते हैं।

भर्तृहरि के नाम से श्रृंगार शतक वैराग्य शतक और नीतिशतक नामक तीन शतक प्रसिद्ध है-तथा इन तीनों कृतियों ने भर्तृहरि को पर्याप्त लोकप्रियता भी प्रदान की है। इन्हीं शतकों के आधार पर हम भर्तृहारि के जीवन की यह कल्पना कर सकते है कि वह प्रधान रूप से भोगासक्त थे, पर उससे उबकर

कभी-कभी सन्यास ले लेते थे फिर भी गृहस्थ आश्रम की ओर लौटते थे। साथ ही उनके वर्णनों से यह भी प्रतीत होता है कि उनका राजकीय जीवन से अवश्य प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा होगा और उन्होंने राजधानी के वैभव एवं विलास की उपादेयता व हेयता का विवेचन भी किया है। भर्तृहरि के तीनों शतकों में काव्य प्रतिभा का भी वाक् निदर्शन है और उनमें एक की प्रांजल शैली तथा सुन्दर पद-ललित्य के भी दर्शन होते है तथा उदाहरणों की अनुरूपता एवं सूक्तियों की कमनीयता के कारण उन्हें लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि भी प्राप्त हुई है।

बाणभट्ट की काव्य प्रतिभा एवं उनका गद्य वैशिष्ट्य तथा उनका प्रकृष्ट पाण्डित्य, समस्त संस्कृत साहित्य में उनके व्यक्तित्व को गरिमामय बनाता है। अपनी कृति कादम्बरी तथा हर्षचरित के द्वारा उन्होंने संस्कृत कथा एवं आख्यायिका दोनों साहित्यों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया हैं। इस इकाई में आपने जाना कि गद्य काव्य के लेखकों में सुबन्धु ही सर्वप्रथम लेखक हैं जिनका ग्रन्थ अलंकृत शैली में निबद्ध गद्य का उत्कृष्टय उदाहरण है। सुबन्धु कालिदास तथा कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन से अवान्तरकालीन हैं क्योंकि इन्होंने 'वासवदत्ता' में इन दोनों कवियों का उल्लेख किया है। सुबन्धु की इस वासवदत्ताका सम्बन्ध प्राचीन भारत की प्रसिद्ध आख्यायिका वासवदत्ता तथा उदयन की प्रणयकहानी से कुछ भी नहीं है। यह पूरा कथानक कवि के मस्तिष्कस की उपज है। केवल नायिका का अभिधान प्राचीन है। वासवदत्ता कथा में समाजशास्त्री दृष्टि से सामाजिक संचेतना मुख्य विचारणीय बिन्दु है- परिवार, विवाह, प्रेम, संस्था, दाम्पत्य, नारी, शिक्षा, विभिन्न जाति, वर्ग सम्प्रदाय आदि। पारिवार सामाजिक जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज है। इसमें समाज के अन्दर बनते बिगड़ते मानव मूल्यों को अंकित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। विवाह संस्था द्वारा परिवार को स्थायी रूप प्रदान किया जाता है। इसमें प्रेम कथाएँ शुद्ध लौकिक प्रेम का अदर्शन उपस्थित करती है वासवदत्ता विशुद्ध रूप से प्रेमकथा है।

संस्कृत गद्य काव्य के लेखकों में आचार्य दण्डी की कृर्ति आज भी अक्षुण्ण है जिस गद्य शैली को बाण नें अपने मनोरम कादम्बरी के द्वारा प्रसक्त किया उसी शैली को दण्डी ने अपने सरल, सुगम, दशकुमार चरित के द्वारा उज्जवल बनाते हुए चमत्कृत किया है। इनके द्वारा लिखा हुआ लक्षण ग्रंथ काव्यादर्श अलंकारशास्त्र के अत्यंत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ के रूप में विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया है। जिसका अध्ययन आप इस इकाई के माध्यम से बड़े ही सरलता पूर्वक कर सकते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र जिसे साहित्य विद्या या क्रिया कल्प के नाम से अभिहित किया जा रहा है, प्राचीन आचार्यों ने उसे अलंकार शास्त्र या काव्य अलंकार का नाम प्रदान किया है। किन्तु काव्य शास्त्र का विकासशील स्वरूप अलंकार शब्द में पूर्णतः समाहित न हो सकने के कारण अपना दूसरा नाम जोकि सम्प्रदायों के आधार पर अपने-अपने अनुसार आचार्यों ने प्रदान किये है। इनमें रसशास्त्र के प्रमुख विद्वान पं॰ राज जगन्नाथ के विषय में पूर्णरूप से जानकारी प्राप्त की शब्दगुणों में श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन गुणों का ओाजोव्यंजक रचना में अन्तर्भाव हो जाता हैं यदि यह कहें कि श्लेष और उदारता का सब अंशों में गाढ़ रचना रूप होने से ओजोव्यंजक रचना में अन्तर्भाव हो सकता है, किन्तु प्रसाद और समाधि के गाढत्व और शिथिलत्व दोनों के मिश्रण रूप होने से एक अंश (गाढत्व) को ओज का व्यंजक होने पर दूसरे अंश (शिथिलत्व) का अन्तर्भाव कहाँ होगा ? इस पर कहते हैं कि माधुर्य अथवा प्रसाद गुण का अभिव्यंजक रचनाओं में अन्तर्भाव हो जायगा। समता का सर्वत्र होना अनुचित ही हैं, ग्राम्यत्व और कष्टत्व रूप दोष के परित्याग से कान्ति और सुकुमारता गतार्थ है। प्रसादगुण से अर्थव्यक्ति का ग्रहण हो जाता है।

अत: इस इकाई में शूद्रक, विशाखदत्त, भर्तृहरि, बाण, सुबन्धु, दण्डी, प. राज जगन्नाथ, का समय, कृतियां, एवं उनके विविध रूपों को यथा स्थान रखा गया है जिसके अध्ययन से आप इनके विषय में समग्र जानकारी एक स्थान पर प्राप्त कर सकेगें।

4.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
द्युतम्	जुआँ
दीनानाम्	गरीबों के लिये
कल्पवृक्षः	कल्पवृक्ष
हिमवत्	बर्फ के समान
अभिनेता	अभिनय करने वाला
नायक	प्रमुख पात्र
अप्रासंगिक	प्रसंगरहित
प्रयुक्त-प्रयोग	किया हुआ
प्रविण	निपुण
विश्रुत	भूलने योग्य नहीं
स्मितेन	मुस्कुराहट से,
लज्ज्या	लज्जा से
विलासपूर्ण	कामवासना से युक्त
कपोल	गाल
तेजस्वी	अत्यन्त तेज वाला
बौद्धारः	ज्ञानी जन
सुभाषित	अच्छी बाते
श्मशान	मरघट मे
ब्राह्मणोचित्त	ब्राह्मण के अनुरूप
प्रगल्भता	वाक्य चातुर्य
ताम्बूलकरंकवाहिनी	पान के डब्बा को लेकर चलने वाली
जीवनवृत्ती	जीवन से सम्बन्धित
प्राच्य	प्राचीन
सारिका	मैना
निर्दिष्ट-	बतलाया गया
प्रतिबिम्बित	चित्रित
वंशनाली	बांस की चोंगा
अविश्वसनीय	जिस पर विश्वास न किया जा सके
किंवदन्ती	प्रचलित उक्तियां
प्रकृति	स्वभाव
पदावली	वाक्य
रति	प्रेम

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नोत्तर-1

अभ्यास प्रश्न 1 –

(1) शूद्रक (2) राजा शूद्रक (3) वर्धमान नगर के (4) हस्ति शास्त्र में (5) उज्जयिनी की वेश्या
अभ्यास प्रश्न 2 – 1. ग 2. ख 3. ख 4. घ 5. क

बोध प्रश्नोत्तर-2

अभ्यास प्रश्न. 2

अ (ख) ब (ग) स (घ)

2.

(क) 400 से 450ई॰ (ख) चाणक्य (ग) चन्द्रगुप्त

3.

(क) (√) (ख) (ग) (ग) (√)

बोध प्रश्नोत्तर-3

अभ्यास प्रश्न. 3

(1) क (ब) (ख) अ (ग) द

(2) क (×) (ख) (√) (ग) (√)

(3) क वीरसेन (ख) भर्तृहारी (ग) सौ श्लोक

बोध प्रश्नोत्तर-4

अभ्यास प्रश्न-4

3. अ (क) ब (ग) स (ख)

4. (क) चित्ररथ (ख) चित्रभानु (ग) उच्छवास

5 (क) (ग्) (ख) (ग्) (ग) (√)

बोध प्रश्नोत्तर-5

अभ्यास प्रश्न-5

(1) (अ) बहुविकल्पीय

(1) ख (2) ग (3) घ

2 . अतिलघुउत्तरी

(क) वासवदत्ता (ख) कन्दर्पकेतु (ग) सुबन्धु

2 . (अ) बहुविकल्पीय

(2) (घ) (2) (क) (3) (ग)

3. रिक्त स्थानों की पूर्ति

(क) श्रृंगार शेखर (ख) कन्दर्पकेतु (ग) भित्तिचित्र और प्रतिकृति

बोध प्रश्नोत्तर-6

अभ्यास प्रश्न-6

(1) अ (ख) ब (क) स (ग)

(2) गौरी (ख) परिच्छेद (ग) कांची

(3) (√) (ख) (×) (ग) (×) (घ) (√)

बोध प्रश्नोत्तर-7

अभ्यास प्रश्न-7

(1) बहुविकल्पीय प्रश्न

क (अ) ख (द) ग (ब)

(2) अतिलघुउत्तरीय प्रश्न

(क) पं० राज जगन्नाथ (ख) 588 पद्य (ग) आचार्य दण्डी

(3) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

(1) प्रतिभा (2) सहज और उत्पाद्य (3) चार भेद

(4) सही (√) और गलत (×) चिन्ह

(क) (√) (ख) (×) (ग) (√)

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मृच्छकटिकम् ,लेखक -शूद्रक , प्रकाशक - चौखभा संस्कृत भारति चौक वाराणसी
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास-उमाशंकर शर्मा (ऋषि)
3. संस्कृत साहित्य का वृहद इतिहास-पं०बलदेव उपाध्याय
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास-पं० बलदेव उपाध्याय
5. नीतिशतक-श्रीमती शोभा सत्यदेव
6. कन्हैया लाल पोद्दार, संस्कृत साहित्य का इतिहास
7. डा० अमरनाथ पाण्डेय, बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन
8. उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'-संस्कृत साहित्य का इतिहास

4.8 उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्माऋषि
2. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ
3. संस्कृत वांगमय का बृहद् इतिहास: डा० बलदेव उपाध्याय
4. कन्हैया लाल पोद्दार-संस्कृत साहित्य का इतिहास
5. आचार्य दण्डी-दशकुमारचरित
6. शतकत्रयम्-गंगासहाय प्रेमी
7. रसगंगाधर-पं०राजगन्नाथ
8. वासवदत्ता-सुबन्धु
9. आचार्य दण्डी-काव्यादर्श
10. मुद्राराक्षस नाटक-महाकवि विशाखदत्त

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वसन्तसेना कौन थी उसका सामान्य रूप से वर्णन कीजिये।
2. शूद्रक की नाट्यकला का वर्णन कीजिए।
3. वसन्तसेना का चरित्र चित्रण कीजिए।

4. मुद्राराक्षस का कथासार प्रस्तुत कीजिए।
5. मुद्राराक्षस के आधार पर नायक चाणक्य का चरित्र चित्रण प्रस्तुत करें।
6. भर्तृहरि के जीवन परिचय एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए ?
7. भर्तृहरि के शतकत्रय का विस्तृत परिचय दीजिए ?
8. बाणभट्ट के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए ?
9. कादम्बरी एक कथा है सिद्ध कीजिए ?
10. सुबन्धु के जीवन परिचय एवं कृतित्व पर प्रकाश डालें ?
11. वासवदत्ता का राजनीतिक एवं समीक्षात्मक परिचय दीजिए ?
12. महाकवि दण्डी का काल निर्धारण कीजिए।
13. काव्यादर्श लक्षण ग्रन्थ है इसे सिद्ध कीजिए।
14. पं०राज जगन्नाथ जीवन परिचय एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए ?
15. पं०राज जगन्नाथ की काव्य सम्बन्धी अवधारणा पर प्रकाश डालिए ?

संस्कार एवं पुरुषार्थ चतुष्टय
खण्ड- तीन (Section-A)

इकाई-1 संस्कार अर्थ एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 संस्कार अर्थ एवं स्वरूप
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 उपयोगी पुस्तकें
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने संस्कृत साहित्य का परिचय पड़ा । इसी क्रम में भारतीयों के सामाजिक संघटन के आधार स्तंभ के रूप में दो सुदृढ़ स्तम्भों की सृष्टि की गई जो कि संस्कार के नाम से विदित हैं । प्रस्तुत इकाई में आप संस्कार शब्द का अर्थ एवं स्वरूप का अध्ययन करेंगे। हिन्दू व्यवस्था में इन संस्कारों का महत्त्व पूर्ण स्थान है। संस्कार वह प्रक्रिया है जिसके करने से पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य को करने के योग्य हो जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संस्कार का अभिप्राय उन धार्मिक तथा सामाजिक विधि-विधानों से है जिसका उद्देश्य व्यक्ति को नैतिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से परिष्कृत बनाना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह बता पायेंगें कि संस्कार व्यक्ति को परिवार, समाज एवं राष्ट्र के हित-साधन में तत्पर बना देता है । संस्कार से मनुष्य के मन में आस्तिकता की भावनाएं जागृत एवं प्रतिष्ठित होगी और मानव , जप, हवन आदि नित्य तथा व्रत-पर्व आदि नैमित्तिक कर्मों को यथाविधि सम्पदित करता हुआ अपने जीवन को सरल, सात्त्विक एवं सुखमय बना सकता हैं ।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- संस्कार शब्द का अर्थ बता पायेंगे।
- संस्कार के स्वरूप को जान पायेंगे।
- संस्कार का क्या उद्देश्य है इसकी व्याख्या का पायेंगें ।

1.3 संस्कार अर्थ एवं स्वरूप

संस्कार शब्द का अर्थ—

इस शब्द का निर्माण 'सम्' उपसर्ग में 'कृ' धातु के 'धत्र' प्रत्यय लगाने से होता है जिसका अर्थ होता है परिष्कार, शुद्धता अथवा पवित्रता । इस प्रकार हिन्दू व्यवस्था में इन संस्कारों का विधान व्यक्ति के शरीर को पवित्र बनाने के उद्देश्य से किया गया ताकि वह व्यक्तिगत व सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त बन सके। यह वह क्रिया है जिसके सम्पन्न होने पर कोई वस्तु किसी उद्देश्य के योग्य बनती है । इसकी प्रमुख विशेषताओं में शुद्धता, पवित्रता, धार्मिकता एवं आस्तिकता की स्थितियां शामिल हैं । समाज में ऐसी धारणा है कि मनुष्य जन्म से असंस्कृत होता है किन्तु वह इन संस्कारों के माध्यम से सुसंस्कृत हो जाता है अर्थात् इनसे उसमें अन्तर्निहित शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाता है तथा वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है । ये व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं का भी निवारण करते तथा उसकी प्रगति के मार्ग को निष्कंटक बनाते हैं । इसके माध्यम से मानव अपना आध्यात्मिक विकास भी करता है । मनु के अनुसार, यह शरीर को विशुद्ध करके उसे आत्मा का उपयुक्त स्थल बनाता है । इस प्रकार के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति हेतु भारतीय संस्कृति में इनका विधान प्रस्तुत किया गया है । इस शब्द का उल्लेख वैदिक तथा ब्राह्मण साहित्य मे नहीं मिलता। मीमांसक इसका प्रयोग यज्ञीय सामग्रियों को शुद्ध करने के अर्थ में करते हैं । वास्तविक रूप से इसका विधान सूत्र-साहित्य तथा गृहयसूत्र में वर्णित हैं । ये जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक सम्पन्न किये जाते थ। अधिकांश गृहयसूत्रों में अंत्येष्टि का उल्लेख नहीं मिलता है । स्मृति ग्रन्थों में इनका विवरण प्राप्त होता है । इनकी संख्या 40 है । गौतम धर्मसूत्र में इनकी संख्या 48 बतायी गयी है । मनु ने गर्भाधान से मृत्यु पर्यन्त तक तेरह संस्कारों का जिक्र किया है जबकि बाद की स्मृतियों में सोलह स्वीकार की गई हैं ।

संस्कार स्वरूप— 'संस्करणं सम्यकरणं वा संस्कारः' अर्थात् दोषों का निवारण, कमी या त्रुटि की पूर्ति करते हुए शरीर और आत्मा में अतिशय गुणों का आधान करने वाले शास्त्र-विहित क्रिया-कलापों या कर्मकाण्ड के द्वारा उद्भूत अतिषय-विशेष ही 'संस्कार' कहा जाता हैं। इस प्रकार मैल, दोष, दुर्गुण एवं त्रुटि या कमी का निवारण कर शारीरिक एवं आत्मिक अपूर्णता की पूर्ति करते हुए गुणातिशयों या सद्गुणों का आधान या उत्पादन ही संस्कार हैं। संस्कारों से बुराईयां हटती हैं और अच्छाईयां आती हैं। संस्कारों का महत्त्व बताते हुए 'मनुस्मृति' में कहा गया हैं-अर्थात् द्विजो के गर्भाधान, जातकर्म, चौल और उपनयनादि संस्कारों के द्वारा बीज-गर्भादिजन्य सभी प्रकार के दोषों और पापों का अपमार्जन होता हैं। आत्मिक व भौतिक विकास का मार्ग प्रशस्त कर मानव को मानव बनाने वाले, उसके जीवन को अकलुष एवं तेजोदीप्त बनाकर उसे धर्मार्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए अग्रसारित करता है। सतत प्रेरित करने वाले यज्ञोपवीत व विवाहादि षोडश संस्कारों का भारतीय-जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हैं। लोहा हो या सोना सभी धातुओं एवं मणि-माणिक्य आदि रत्नें को घिस-मांजकर, शाण पर चढ़ाकर, कूट-पीटकर या गल -रता कर चमका दिया जाता है, उन्हें व्यवहार के योग्य बना दिया जाता है तथा गुग्गुल आदि औषधियों को गोमूत्र आदि से संशोधित कर एवं संस्कारित कर उनकी गुणवता को शत-सहस्त्र गुना बढ़ा दिया जाता हैं, ठीक उसी प्रकार मानव-जीवन को भी सुसंस्कारित कर उसे उदात गुणों से विभूषित कर दिया जाता हैं।

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारों नान्यथा भवेत्।' (माघ) के अनुसार जीवन के आरम्भिक वषों में जो संस्कार बन जाते हैं, वे अमिट होते है, इसीलिए, 16 में से यज्ञोपवीत आदि 12 संस्कार बचपन में आठ-दस वर्ष की आयु से पहले ही सम्पन्न करने का विधान हैं। संस्कारों के समय स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ, पुण्याहवाचन तथा गणेशादि देवताओं के पूजन, एवं सात्त्विक एवं आध्यात्मिक भावनाओं से परिपूर्ण बना दिया जाता है कि संस्कार व्यक्ति को तो ऐसा अनुभव होता ही हैं कि मानो उसके तन-मन में रोम-रोम में एक अभिनव, पवित्र, उदात्त एवं निर्मल भावनाएं संचारित हो रही हैं। साथ ही अन्य उपस्थित जनों में भी सात्विक भावों का संचार होने लगता है। यही कारण है कि हमारे संस्कारों में बहुत समय लगता है। विवाह और यज्ञोपवीत आदि संस्कारों में तो कई-कई दिन लग जाते हैं।

इस प्रकार संस्कार्य व्यक्ति को परिवार, समाज एवं राष्ट्र के हित-साधन में तत्पर बना दिया जाता हैं। संस्कारों के द्वारा मनुष्य के मन में आस्तिकता की भावनाएं जागृत एवं प्रतिष्ठित हो और मानव सन्ध्यावन्दन, जप, हवन आदि नित्य तथा व्रत-पर्व आदि नैमित्तिक कर्मों को यथाविधि सम्पादित करता हुआ अपने जीवन को सरल, सात्त्विक एवं सुखमय बना लेता हैं। जैसे घिसने-माजने आदि से लोहा सोना तो नहीं बन जाता, तथापि उसे चांदी के जैसा चमकदार तो बनाया ही जा सकता है और उसमें ऐसे गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं कि उसे जंग न लग पाए, या मलिनता न आ पाए। ठीक वैसे ही मानव के जन्मान्तरीय संस्कारों को पूर्णतः बदला भले ही न जा सके, किन्तु उनके दोषों या मलिनताओं का बहुत कुछ अपमार्जन एवं अभिनव गुणों या अतिशयता का आधान अवश्य ही इन संस्कारों के द्वारा किया जा सकता हैं। हमारा तो जीवन ही संस्कारों के तानो-बानों से बना और बुना हुआ है।

'निषेकादिष्मषानान्तोस्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः।' कहकर मुनि ने बताया हैं कि जीवन को उतरोतर शुद्ध, स्वच्छ, पवित्र, सात्विक व तेजस्वी बनाए रखने का प्रयत्न निषेक या गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सतत चलता रहता हैं।

ऊपर से देखने में तो यह बात बड़ी अटपटी-सी लगती हैं कि गर्भ में आने के साथ ही पहली बार दूसरे मास में और दूसरी बार छठे से आठवे मास में दो-दो बार जीव के संसकार कर दिए जाए, किन्तु हैं यह सर्वथा वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है । कारण यह हैं कि माता के गर्भ में रहते हुए जीव को

अपना अहार-विहार माता के द्वारा ही ग्रहण करना पड़ता है, गर्भावास्थ में माता जो कुछ भी और जैसा कुछ खाती-पीती, सोचती-विचारती, पढ़ती-सुनती या देखती-भालती है, गर्भस्थ जीव पर भी ठीक वैसे ही संस्कार पड़ते रहते हैं। ऋग्वेद में कहा गया हैं कि माता-पिता सदा सजग रहना चाहिए कि कहीं यन्मे मता प्रममद्यात् यच्चचारावनुव्रतम्। तन्मेरेतः पिता वृड्.वक्तान्मा भुरण्योपपद्यताम्।।

स्पष्ट है कि गर्भधारण करने के पश्चात् माता के खान-पान, आहार- विचारों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है, उसकी इच्छा और रुचि का पूरा-पूरा ध्यान रखना होता है। उन दिनों उसे किसी प्रकार का शारीरिक और मानसिक कष्ट न पहुंचे, वह स्वस्थ रहे, उसका चित्त प्रफुल्लित और सात्विक विचारों से परिपूर्ण रहें। इसका दायित्व केवल पति पर ही नहीं घर की बड़ी-बूढ़ी सदस्याओं तथा सारे परिवार पर समान रूप से रहता हैं। इन्हीं महत्वपूर्ण तथ्यों एवं तत्वों को ध्यान में रखकर ही हमारे ऋषियों ने गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन इन तीन प्राग्जन्म-संस्कारों का विधान किया हैं। इसी प्रकार जातकर्म, नामकरण, मुण्डन व यज्ञोपवीत आदि अन्य संस्कारो का भी अपना महत्त्व हैं।

संस्कार के संदर्भ में अन्य मत—

हिन्दू समाजशास्त्रियों ने इनका विधान विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया। यहाँ ये उद्देश्य मुख्यतः दो भागों में विभाजित किये गये हैं- (1) लोकप्रिय उद्देश्य (2) सांस्कृतिक उद्देश्य।

लोकप्रिय उद्देश्य- अशुभ शक्तियों के निवारण हेतु- प्राचीन हिन्दुओं का विश्वास जीवन में अशुभ एवं आसुरी शक्तियों का प्रभाव होता है जो अच्छे एवं बुरे दोनों प्रकार के फल देती हैं। अतः उन्होंने इनके माध्यम से उनके अच्छे प्रभावों को आकर्षित करने तथा बुरे प्रभावों को हटाने का प्रयास किया जिससे मानव का स्वस्थ एवं निर्विघ्न विकास हो सके। इस उद्देश्य से प्रेतात्माओं तथा आसुरी शक्तियों को अन्न, आहुति आदि के द्वारा शान्त किया जाता था। गर्भाधान, जन्म, बचपन आदि के समय इस प्रकार की आहुतियाँ दी जाती थी। कभी-कभी देवताओं की मन्त्रों द्वारा आराधना की जाती थी ताकि आसुरी शक्तियों का प्रभाव क्षीण हो जाये। हिन्दुओं की यह धारणा थी कि जीवन का प्रत्येक काल किसी न किसी देवता द्वारा नियन्त्रित होता है। इसी कारण प्रत्येक अवसर पर मन्त्रों द्वारा इन देवताओं का आह्वान किया जाता था। भौतिक समृद्धि की उपलब्धि हेतु- इनका विधान भौतिक समृद्धि तथा पशुधन, पुत्र, दीर्घायु, शक्ति, बुद्धि व सम्पत्ति आदि की प्राप्ति के उद्देश्य से भी किया गया था। इस समय समाज में ऐसी धारणा थी कि प्रार्थनाओं के द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छाओं को देवताओं तक पहुँचाता है तथा तब ये देवगण उसे भौतिक समृद्धि की वस्तुएं प्रदान करते हैं। आज भी इस प्रकार के संस्कारों की यह स्थिति हिन्दू परिवारों में स्पष्ट रूप से देखी जाती हैं।

भावनाओं को व्यक्त करने की कार्यप्रणाली- इनके माध्यम से मनुष्य अपने हर्ष एवं दुःख को व्यक्त करता था। जिनमें पुत्र जन्म, विवाह आदि के अवसर पर आनन्द व उल्लास को व्यक्त किया जाता था। शिशु को जीवन से मिलने वाली प्रत्येक उपलब्धि पर उसके परिवार के लोग खुशियाँ मनाते थे तथा मृत्यु के अवसर पर शोक की स्थिति व्यक्त की जाती थी।

सांस्कृतिक उद्देश्य -हिन्दू धर्म के विचारकों ने संस्कारों के पीछे उच्च आदर्शों का उद्देश्यन भी अपने समक्ष रखा था। मनुस्मृति में यह उल्लेखित है कि संस्कार मानव की अशुद्धियों का नाश कर उसके शरीर को पवित्र बनाने में मदद करता है। समाज में ऐसी मान्यता है कि गर्भस्थ शिशु के शरीर में कुछ अशुद्धियां होती हैं जो जन्म के पश्चात् संस्कारों के माध्यम से ही दूर की जा सकती हैं। मनुस्मृति में यह कहा गया है कि अध्ययन, व्रत, होम-जाप, पुत्रोत्पति से शरीर ब्रह्मीय हो जाता हैं। यह भी धारणा है कि प्रत्येक मानव जन्म से शूद्र होता है, संस्कारों से द्विज, विधा से विप्रत्व तथा तीनों के संयोग के द्वारा श्रोत्रिय कहा जाता है। ये व्यक्ति को सामाजिक अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान करते थे। ध्यातव्य है कि उपनयन के माध्यम से

मानव विद्याध्ययन का अधिकारी बनता था तथा विद्या प्राप्त करने के पश्चात् वह द्विज कहा जाता था। समावर्तन संस्कार मानव को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार प्रदान करता था, जबकि वह विवाह संस्कार से मानव समस्त सामाजिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने का अधिकारी बन जाता था। इसी प्रकार मानव, समाज का एक अंग हो जाता था।

बोध प्रश्न – 1

अभ्यास प्रश्न –1

1. संस्कार शब्द बनता है -

अ. सम् उपसर्ग से ब. उप उपसर्ग से

स. अप उपसर्ग से द. निस् उपसर्ग से

2. संस्कार शब्द का अर्थ है -

अ. निष्कपटता ब. ज्ञान पूर्णता

स. शुद्धता द. सहनशीलता

3. संस्कार कब से कब तक होता है ?

अ. यज्ञोपवीत से मृत्यु तक ब. विवाह से मृत्यु तक

स. गर्भाधान से मृत्यु तक द. जन्म से मृत्यु तक

4. समाजशास्त्रियों के मत में संस्कारों के कितने उद्देश्य है ?

अ. 1 ब. 2 स. 3 स. 4

1.4 सारांश

" वस्तुत: संस्कार-व्यंजक तथा प्रतीकात्मक अनुष्ठान है। उनमे बहुत से अभिनयात्मक उद्गार और धर्म, वैज्ञानिक मुद्रायें एवं इंगित पाई जाती है।" मनुष्य का परम ध्येय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति हैं। आपको इस इकाई के अध्ययन से चतुर्वर्ग प्राप्ति की मार्ग रूप संस्कारों की विवेचना प्राप्त हुई होगी, क्योंकि चतुर्वर्ग के अर्थ मात्र से आपको संस्कार की विशेष आवश्यकता अनुभूति होगी। बिना संस्कार के न तो धर्म न अर्थ, न अर्थ के बिना का की पुष्टि, बिना इन तीनों के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति असंभव हैं। अतः सबके जड़ रूप में संस्कार ही विद्यमान हैं। जिसका अर्थ होता है परिष्कार, शुद्धता अथवा पवित्रता। इस प्रकार हिन्दू व्यवस्था में इन संस्कारों का विधान व्यक्ति के शरीर को पवित्र बनाने के उद्देश्य से किया गया ताकि वह व्यक्तिगत व सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त बन सके। इस प्रकार के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति हेतु भारतीय संस्कृति में इनका विधान प्रस्तुत किया गया है।

1.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
संस्कार	शुद्धता, पवित्रता, धार्मिकता एवं आस्तिकता

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- (अ) 2- (स) 3- (स) 4- (ब)

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संस्कृति, चौखम्भा वाराणसी

2. मनुस्मृति,महर्षि मनु, चौखम्भा वाराणसी

3. यज्ञ मीमांसा,याज्ञिक सम्राट पं. श्री वेणीराम,चौखम्भा विद्याभवनशर्मा गौड़वाराणसी

3. हिन्दू धर्मकोश, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
4.भारतस्य सांस्कृतिक निधि, श्रीरामजी उपाध्याय, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1. वैशेषिक सूत्र, चौखम्भा पब्लिकेशंस वाराणसी
2. भगवत गीता, गीता प्रेस गोरखपुर

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संस्कार शब्द के अर्थ एवं स्वरूप का वर्णन कीजिए।

इकाई-2 संस्कृति महत्त्व एवं विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 संस्कृति का सामान्य अर्थ
    2.3.1 संस्कृति का मानव शास्त्रीय अर्थ
    2.3.2 संस्कृति का समाजशास्त्रीय अर्थ
    2.3.3 मानव संस्कृति के निर्माता के रूप में
    2.3.4 संस्कृति के लक्षण
    2.3.5 संस्कृति और संस्कृति संकुल
2.4 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति
    2.4.1 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर
    2.4.2 संस्कृति की विशेषताएं
2.5 गौरवशाली भारतीय संस्कृति
    2.5.1 संस्कृति का अवधारणा
    2.5.2 भारतीय संस्कृति के मानदण्ड
    2.5.3 उतरदायित्व की पवित्रता
    2.5.4 मनुष्य का सर्वविधि विकास
    2.5.5 भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता
2.6 पुराण भारतीय संस्कृति के आधारस्तम्भ
2.7 सारांश
2.8 शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 उपयोगी पाठ्यपुस्तकें
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाईयों में आपने संस्कार का अर्थ एवं स्वरूप के विषय में अध्ययन किया। इस इकाई में संस्कृति की परिभाषा, सामान्य अर्थ, मानवशास्त्रीय अर्थ, समाजशास्त्रीय अर्थ के साथ संस्कृति के लक्षण, भौतिक-अभौतिक के रूप में संस्कृति के भेद, संस्कृति की विशेषताएं के ज्ञान के साथ-साथ हमारा भारतीय संस्कृति के मापदण्ड, जीवन का पूर्णता तथा नश्वरता का बोध, उत्तरदायित्व की पवित्रता, मनुष्य की सर्वविधः उन्नति पर जोर देते हुए गौरवशाली भारतीय संस्कृति के बारें में जानेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आपको भारतीयता का बोध के साथ-साथ संस्कृति के सामान्य अर्थ, विभिन्न ऐतिहासिकों के मत, समाजशास्त्रियों के संस्कृति के सम्बंधित मत प्राप्त होंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगें कि—

- यदि मानव संस्कृति विहीन हो जाए तो वह पशुवत् हो जायेगा।
- संस्कृति की परिभाषा, सामान्य अर्थ, मानवशास्त्रीय अर्थ, समाजशास्त्रीय अर्थ क्या हैं।
- संस्कृति के लक्षण, भौतिक-अभौतिक के रूप में संस्कृति के भेद कौन- कौन से हैं।
- संस्कृति की विशेषताएं क्या हैं।

2.3 संस्कृति का सामान्य अर्थ

संस्कृति शब्द अनेक अर्थो में प्रयुक्त होता है। संस्कृति शब्द की व्युत्पति संस्कृति की सम्+कृ धातु से हुई है जिसका अर्थ है पूरा किया हुआ या परिष्कृत किया गया। संस्कार शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार का है। अर्थात विभिन्न कार्यो को पुरा करना संस्कार कहलाता है। इस प्रकार संस्कृति भी विभिन्न संस्कारों द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति कराती है जिनके करने से मानव सामाजिक प्राणी बनता है। साहित्यकारों ने संस्कृति को सामाजिक शिष्टता एवं बौद्धिक श्रेष्ठता के अर्थ में प्रयुक्त किया है। समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को नैतिक,आध्यात्मिक और बौद्विक उपलब्धियों के लिये प्रयोग किया है। इस प्रकार संस्कृति अनेक अर्थो में विद्वानों द्वारा प्रयुक्त की गई है। वास्तव में यह व्यक्ति के समग्र जीवन से सम्बधित होती है, जो विभिन्न संस्कारों द्वारा संस्कारित होती है और मानव को संस्कारित व सामाजिक प्राणी बनाती है।

यह एक अवधारणात्मक तथ्य है जो ऐतिहासिक विकास में किसी भूमि पर बसने वाले जन समूह की विशिष्टता को व्यावर्तित कर, उसे अन्य भूमि के जन से पृथक करती हे। इसलिए उसको किसी भूमि पर लम्बे समय से निवास कर रहे जन समूह के चिति के रूप में समझा जा सकता है अर्थात समष्टिगत अनुभव को जो ऐतिहासिक विशिष्टता से युक्त होता है,संस्कृति कहा जा सकता है।

2.3.1 संस्कृति का मानव शास्त्रीय अर्थ- मानवशास्त्रियों ने संस्कृति का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है-

(1) टायलर के अनुसार संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान,विज्ञान,कला, आचार,कानून, प्रथा एवं इसी प्रकार की अन्य क्षमताएं व आदतें सम्मिलित हैं जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के कारण प्राप्त करता है।

टायलर की परिभाषा के आधार पर स्पष्ट है कि मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में जो कुछ सीखता है समाज से प्राप्त करता है, वह संस्कृति है या संस्कृति एक सामाजिक विरासत है, समाज द्वारा मानव को दिया हुआ उपहार है।

(2) मैलिनोवस्की के अनुसार '' संस्कृति व्युत्पन्न आवश्यकताओं की एक व्यवस्था और उद्देश्य क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है ।'' इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति में व्यक्ति की शारीरिक मानसिक और अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले तरीकों को लिया गया है।

(3)हॉवेल ने कहा है कि ''संस्कृति सम्बन्धित सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बताता है और इसीलए प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता। हॉवेल ने इस परिभाषा में संस्कृति को सामाजिक आविष्कारों का परिणाम बताया है, वंशानुक्रमण द्वारा इसका निर्धारण नहीं होता।

(4) राल्फ पिडिंगटन के मतानुसार'' संस्कृति उन भौतिक एवं बौद्धिक साधनों अथवा उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है और अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है'' पिडिंगटन ने अपनी परिभाषा में संस्कृति में दो पक्षों को सम्मिलित किया है- (1) भौतिक वस्तुएं-जिनमें भवन, बर्तन, वस्त्र, औजार, आदि आते है, और(2) अभौतिक बाते जिनमें ज्ञान ,मूल्य,विश्वास आदि समाहित है। संस्कृति के दोनों ही पक्ष एक - दूसरे के पूरक है।

(5) हरकोविट्स के शब्दों में , '' संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।'' इस परिभाषा में यह दृष्टव्य हे कि हमारे चारो ओर की जितनी वस्तुएं मनुष्य द्वारा निर्मित है।'' वे सभी संस्कृति के अन्तर्गत आती है। इन्होने दो प्रकार का पर्यावरण बताया है। (1) प्राकृतिक पर्यावरण और (2) सामाजिक पर्यावरण-संस्कृति में सामाजिक पर्यावरण को लिया गया है- आभूषण,औजार, मकान,परम्परा, विश्वास, कला, धर्म, भाषा आदि सभी मानवकृत होने के कारण संस्कृति का अंग है।

(6) गोल्डन वाइजर ने संस्कृति के अन्तर्गत हमारे दृष्टिकोण,विश्वास,विचार,निर्णय,मूल्य व हमारी संस्थाएं- राजनैतिक व वैधानिक ,विज्ञान,दर्शन, तथा,अन्य बहुत-सी वस्तुओं को समाहित किया है।

(7) लोवी के अनुसार '' सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा ही संस्कृति है।''

(8) लिंटन के मत में '' संस्कृति ज्ञान, धारणाएं एवं प्राकृतिक व्यवहार के प्रतिमानों का कुल योग है जिसके सभी भागीदार होते है तथा जो हस्तान्तरित की जाती है।''

(9) दुबे के अनुसार'' सिखे हुए व्यवहार - प्रकारकी उस समग्रता को जो किसी समुह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है , संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है।'' इस प्रकार मानवशास्त्रियो के मत में संस्कृति विचार करने,अनुभव करने एवं जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है।

2.3.2 संस्कृति का समाजशास्त्रीय अर्थ

अनेक समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को अनेक रूपो में परिभाषित किया है, जो इस प्रकार है-

(1) मैकाइवर एवं पेज के अनुसार संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार में कला , साहित्य,धर्म,मंनोरजंन, और आनन्द में पाये जाने वाले रहन- सहन और विचार के तरीको में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।'' इनके मत में संस्कृति व्यक्तित्व से पूर्णतया सम्बधित है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से यह सम्बधित हैं।

(2) गिलिन एवं गिलिन ने कहा है कि ''संस्कृति प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक समाज में आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहार के ऐसे प्रतिमानों का समूह होता है जो न्यूनाधिक रूप से सदस्यों में सामान्य होते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते है तथा बच्चों को सिखाये जाते है और जिनमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना बनी रहती हैं। इन सामान्य प्रतिमानों को संस्कृति कहा जाता है।'' इस परिभाषा में संस्कृति में समाज के आन्तरिक एवं बाह्य सभी व्यवहार आ जाते है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते हैं।

(3) रॉबर्ट वीरस्टीड के अनुसार'' संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएं सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।'' इस प्रकार इनके मत में संस्कृति जीवन जीने,विचार करने का तरीका है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता है।

(4) लेंडिस के मत में, संस्कृति वह संसार है जिसमें एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।''

(5) टालकॉट पारसन्स ने संस्कृति को ऐसे पर्यावरण के रूप में परिभाषित किया है जो मानव क्रियाओं के निर्माण में मौलिक है। अर्थात इनके मत में संस्कृति मानव के वैयक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है।

(6) फेयर चाइल्ड के अनुसार प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों का सामूहिक नाम संस्कृति है।

(7) ब्रूम एवं सेल्जनिक संस्कृति को सामाजिक विरासत मानते है। इस प्रकार सभी समाजशास्त्री संस्कृति को समाज की धरोहर के रूप में मानते हैं। संस्कृति की मानवशास्त्रिय एवं समाजशास्त्रीय परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृति में विश्वास,विचार,प्रथाए, कानून,आदर्श,कला,निपुणता आदि सभी समाहित है; साथ ही भवन ,यंत्र, चित्रकला आदि भी इसी के अन्तर्गत आते है। निष्कर्षतः संस्कृति भौतिक एवं अभौतिक तत्वों की वह सम्पूर्णता है जिसे समाज का सदस्य होने के कारण हम प्राप्त करते है। इसमें सम्पूर्ण जीवन के तरीके ,मानवकृत,सामाजिक,पर्यावरण भी आता है। इस प्रकार संसार में जो कुछ मनुष्य ने अपनी बुद्वि व अनुभव से बनाया है, संस्कृति का ही अंग है। हाथ के अंगूठे की विशेष बनावट भी इसमें सहायक होती हैं जिसके कारण व्यक्ति अनेक आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है- बड़े-बड़े यन्त्र, कल-कारखाने, भवन-निर्माण व कलाकृति आदि का निर्माण तथा लेखन-क्षमता आदि इन्ही के कारण सम्भव हो सकी हैं। यदि यह क्षमता व्यक्ति में न होती, तो वह कोई भी रचनात्मक-कार्य करने में अक्षम रहता। संस्कृति अनोखे रूप में एक मानव-संघटन है- अर्थात मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो संस्कृति का निर्माता है। संस्कृति मानव की श्रेष्ठ धरोहर है जिसके कारण मानव अनवरत प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। यदि मानव संस्कृति-विहीन हो जाये तो वह पशुवत हो जायेगा क्योंकि पशु संस्कृति के अधिकारी नहीं होते।

2.3.3 मानव संस्कृति के निर्माता के रूप में

निम्नलिखित शारीरिक विशेषताओं के कारण मानव संस्कृति का निर्माता कहा जाता है-

1. सीधे खडें होने की क्षमता- मनुष्य में सीधे खड़े होने की क्षमता पाई जाती है- पशु अपने चारों पैरों से चलते हैं लेकिन मनुष्य दो पैरों से चलता है और दो हाथों को अन्य उपयोगी कार्यो में लगाता है। यह उसकी अनोखी विशेषता है।

2.स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथ- मानव के हाथों की बनावट इस प्रकार की है कि प्रत्येक दिशा में इन्हें सुगमता से घुमाया जा सकता है तथा इनकी सहायता से वह वस्तुओं को भली-भांती पकड़ सकता है। हाथ के अंगूठे की विशेष बनावट भी इसमें सहायक होती है जिसके कारण व्यक्ति अनेक आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है- बड़े-बड़े यन्त्र, कल कारखाने,भवन-निर्माण व कलाकृति आदि का निर्माण तथा लेखन क्षमता आदि इन्हीं के कारण सम्भव हो सकी हैं। यदि यह क्षमता व्यक्ति में न होती, तो वह कोई भी रचनात्मक कार्य करने में अक्षम रहता।

3. तीक्ष्ण व केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि- मानव के पास तीक्ष्ण व केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि हैं जिसके कारण वह घटनाओं को देख सकता है, निष्कर्ष निकाल सकता हैं, नवीन खोज कर सकता है तथा किसी वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता हैं।

4. मेधावी मस्तिष्क- मानव की सर्वाधिक योग्यता मेधावी मस्तिष्क का होना हैं। मानव में विचार करने की शक्ति होती हैं, जिसके कारण वह किसी कार्य की योजना बना सकता हैं, आविष्कार कर सकता हैं, कार्य-कारण सम्बन्धों को जान सकता हैं। इस प्रकार मेधावी मस्तिष्क मानव की सर्वाधिक उपलब्धि हैं। लिण्टन तथा डार्विन जैसे विद्वानों का मानना था कि मानव तथा उच्चकोटि के स्तनधारी जानवरों में मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं हैं लेकिन अनेक विद्वान इसे तर्कसंगत नहीं मानते हैं। वास्तविकता तो यह हैं कि मानव का मस्तिष्क पशुओं की तुलना में अधिक विकसित हैं, जिसके कारण वह तर्क कर सकता है, विचार कर सकता है तथा संस्कृति का विकास कर सकता हैं।

5. प्रतीकों के निर्माण की क्षमता- मनुष्य में यह क्षमता हैं कि भाषा के माध्यम से वह विचारों का आदान-प्रदान कर सकता हैं और उसके लिए मानव ने प्रतीकों को जन्म दिया है अर्थात् अर्थपूर्ण प्रतीकों के माध्यम से अपने विचारों को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक पहुँचा सकता हैं। भाषा व्यक्ति के पास ही है, पशु समाज के पास ऐसी भाषा नहीं होती कि मानव के समान वे विचार अभिव्यक्त कर सकते हों- वास्तविकता तो यही हैं कि भाषा का अन्तर मनुष्य को पशुसे अलग करता है। पशुओं के पास चूँकि भाषा नहीं है, इसी से उनके पास संस्कृति नहीं हैं। संस्कृति का संशोधन, संवर्धन, परिमार्जन, हस्तान्तरण आदि भाषा के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। अर्थात् भाषा या प्रतीक मानव को संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं ।

2.3.4 संस्कृति के लक्षण

संस्कृति को विस्तार से जानने के लिए प्रसिद्ध समाजशास्त्री **मजूमदार एवं मदान** ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक मानवशास्त्र परिचय' में संस्कृति के कुछ लक्षणों का विवेचन किया हैं जो इनके अनुसार नृतत्ववेत्ताओं द्वारा किए गए तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर स्थापित संस्कृति के लक्षणों के बारे में कुछ सामान्यीकरण है, ये निम्नलिखित प्रकार से हैं-

(1) संस्कृति की स्वाभाविक विशिष्टता एवं प्रज्ञप्ति- मानवशास्त्री क्रोबर ने संस्कृति के दो पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया हैं- (1) **ईथोस और ईडोस**। इन्होंने माना हैं कि संस्कृति का निर्माण इन दोनों पक्षों से मिलकर होता है। संस्कृति के घटकों से प्रकट होने वाला इसका औपचारिक व्यक्त रूप **ईडोस (प्रज्ञप्ति)** हैं तथा संस्कृति का दूसरा पक्ष जो उसके गुणों, प्रेरक मान्यताओं और इसकी स्वाभाविक अभिरुचियों को निर्धारित करता है **ईथोस** (स्वाभाविक विशिष्टता) कहलाता हैं।

वांटसन का मानना हैं कि प्रत्येक संस्कृति को दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है- इनमें ईथोस कहा जाने वाला प्रथम पक्ष वह है जिसकी रचना एक संस्कृति की सम्पूर्ण भावात्मक साग्रहता से होती हैं। ईडोस कहे जाने वाले दूसरे पक्ष में एक संस्कृति में प्रचलित संज्ञानात्मक प्रक्रिया से उत्पन्न साग्रहता को लिया जा सकता है। अर्थात् संस्कृति के दो पक्ष है- एक बाह्य अथवा औपचारिक पक्ष जिसे स्पष्टतया देखा जा सकता है। संस्कृति का दूसरा पक्ष आन्तरिक गुणों वाला हैं जिसमें अभिरुचियां, मान्यताएं आदि आती हैं। इसे इस रूप में और अधिक स्पष्ट किया जा सकता हैं कि संस्कृति का ईथोस पक्ष अमूर्त है और ईडोस पक्ष मूर्त हैं।

(2) संस्कृति के व्यक्त एवं अव्यक्त तत्त्व- क्लूखौन ने संस्कृति के तत्वों को दो रूपों में विभाजित किया है। (1) व्यक्त तत्व (2) अव्यक्त तत्व। मानव इन्द्रियों द्वारा हम संस्कृति के व्यक्त रूप को देख सकते हैं। कुछ ऐसे अव्यक्त तत्व भी हैं जिनको किसी विशेष प्रशिक्षण के पश्चात् ही अवलोकित किया जा सकता

हैं क्योंकि ये तत्व मानव-संस्कार में निहित अभिप्रेरकों एवं मनोवेगों के रूप में होते हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं भी प्रायः परिचित नहीं होते। क्लीसिंग ने भी संस्कृति के इन दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला हैं। 1.व्यक्त तत्वों को लिया जा सकता है जिन्हें देखा, छुआ व सुना जा सकता है, ये मूर्त तत्व होते हैं जिनमें मानव-निर्मित भौतिक वस्तुए आती हैं। 2. अव्यक्त तत्वों में विश्वास, मूल्य, न्याय, प्रेरणा, समन्वय आदि को लिया जा सकता हैं, जो अमूर्त होते हैं।

(3) संस्कृति-निर्धारणवाद - कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण के अनुसार सांस्कृति विचारधाराएं, सामाजिक एवं राजनैतिक संरचनाएं सभी आर्थिक संगठन के आधार पर निर्मित होती हैं । इसके विपरीत संस्कृति निर्धारणवादियों के मतानुसार न केवल आर्थिक अपितु समाज भी संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होता हैं। टायलर के मतानुसार संस्कृति मनुष्य को समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है किन्तु संस्कृति निर्धारणवादियों का मानना हैं कि संस्कृति की अभिवृद्धि एवं क्रियाशीलता संस्कृति के नियमों द्वारा ही संचालित होती हैं। संस्कृति की व्याख्या तो मानव-शारीरिकी, मानव मनोविज्ञान और मानव-समाज भी नहीं कर सकते। संस्कृति-निर्धारण समाज के सभी पक्षों- धर्म, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था आदि को परिवर्तित एवं निर्धारित करने के लिए संस्कृति को ही प्रमुखता देते हैं । संस्कृति-निर्धारणवादियों में लेसली व्हाइट का नाम सर्वप्रमुख हैं। किन्तु संस्कृति-निर्धारणवादी संस्कृति को ही सब कुछ मानने लगे हैं जबकि स्थिति इस प्रकार की नहीं हैं। मानव संस्कृति का केवल वाहक एवं दास ही नहीं है, वह उसका निर्माता भी हैं।

(4) संस्कृति बनाम व्यक्ति- लिण्टन के अनुसार परम्परावादी व्यक्तियों के लिए संस्कृति निर्देशक की भूमिका अदा करती हैं। संस्कृति ही उनके लिए व्यवहार के प्रतिमान तय करती है तथा उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक रचनातन्त्र प्रदान करती हैं। संस्कृति मनुष्य को मुक्ति प्रदान करने वाली हैं क्योंकि उसके बिना मनुष्य का जिन्दा रहना मुश्किल है। वह उसे जैविक निर्धारणवाद से मुक्त करती है लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य भी संस्कृति के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करें, इसका मूल्य चुकाए। यदि कोई मनुष्य समाज से लाभ प्राप्त करना चाहता है तो उसे समाज द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति का अनुसरण करना पड़ता हैं और प्रायः प्रत्येक मनुष्य ऐसा ही करता है। इस प्रकार संस्कृति मनुष्य की निर्देशिका है। वह उसे मुक्त करती है साथ ही अपने अधीन भी रखती हैं। मनुष्यों से यह अपेक्षा की जाती हैं कि वह समाज को जड़ न होने दें और ऐसा करने के तरीके भी स्वयं संस्कृति ही बताती है, उसी की सीमा में रहकर उनका प्रयोग करना होता हैं।

टायनबी ने इस प्रकार के लोगों को 'सृजनशील अल्पसंख्यक' कहा हैं। ये लोग अपने नवीन विचारों का परीक्षण संस्कृति के अन्तर्गत ही करते हैं । ये संस्कृति को नष्ट नहीं करना चाहते वरन् रचनात्मक शक्ति द्वारा उसे बदलना चाहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कोई व्यक्ति आगे आए व इन साधनों का प्रयोग करें।

(5) संस्कृति एवं सभ्यता - महान विद्वान् मॉर्गन का कहना हैं कि मानव समाज तीन अवस्थाओं में उद्विकसित हुआ है- (1) असभ्यावस्था (2) बर्बरावस्था (3) सभ्यावस्था। सभ्यता समाज के उद्विकास की ही एक अवस्था हैं जिसमें धातु-कर्म, विज्ञान, लेखन आदि का विकास हुआ, बाद में सभ्यता एक विशेष प्रकार की संस्कृति का बोध कराने लगी। कुछ अमरीकन समाजशास्त्री, जैसे- मैकाइवर तथा जर्मन आदर्शवादी संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विशेष प्रकार का अन्तर करते हैं। ये विद्वान् संस्कृति को मनुष्य की नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उपलब्धि मानते हैं। इनके मत में संस्कृति प्राथमिक और आधारभूत वस्तु हैं, हमारे अन्तर में विद्यमान हैं और जो कुछ हम हैं वही संस्कृति हैं। यह प्रगति और अवनति दोनों का कारण हो सकती हैं। इसकी तुलना में सभ्यता गौण है। यह हमसे बाहर स्थित हैं।

प्रौद्योगिकी, भौतिक-संस्कृति और सामाजिक संस्थाओं से इसका निर्माण होता हैं । यही सांस्कृतिक जीवन के साधनों या उपकरणों की समग्रता हैं, जो कुछ हमारा है वही यह सभ्यता है- यह संचयीमान है, अपने आप न तो इसकी प्रगति होती है न अवनति।

2.3.5 संस्कृति और संस्कृति संकुल

संस्कृति हमारी सम्पर्ण जीवन-पद्धति से सम्बन्धित है तथा यह कई तत्वों से मिलकर निर्मित होती है; जैसे- पूजा, आराधना, कर्मकाण्ड, पत्थर के उपकरण बनाना आदि। इसी प्रकार का प्रत्येक तत्व संस्कृति विशेषक या संस्कृति तत्व कहा जाता हैं । इस प्रकार का प्रत्येक तत्व संस्कृति विशेषक या संस्कृति-तत्व कहा जाता हैं । इस प्रकार के कुछ तत्व जब अर्थपूर्ण ढंग से जुड़े हुए होते हैं तथा सम्पूर्ण संस्कृति का एक भाग हाते हैं जो संस्कृति-संकुल कहलाते हैं । इस प्रकार संस्कृति संकुल विभिन्न-विशेषकों का अर्थपूर्ण संयोग हैं जो सम्पूर्ण संस्कृति का ही एक भाग होता हैं।

2.4 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति

अमेरिकन समाजशास्त्री ऑगबर्न ने संस्कृति के दो भाग किये हैं - (1) भौतिक संस्कृति, (2) अभौतिक संस्कृति। **भौतिक संस्कृति -** भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य के द्वारा निर्मित वस्तुओं को लिया जाता हैं जिनका निश्चित आकार होता है तथा इनसे मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है । भवन, अस्त्र, शस्त्र,आभूषण, मशीने, आवागमन के साधन, सन्देशवाहन के साधन, कृषि आदि के साधन-सभी संस्कृति का भौतिक पक्ष हैं- अर्थात् वे सभी साधन जो मानव द्वारा निर्मित हैं तथा मूर्तरूप में है, भौतिक संस्कृति के अंग हैं । भौतिक संस्कृति के निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती हैं- (1) भौतिक संस्कृति मूर्त होती है । (2) इसे मापा जा सकता हैं अथवा भौतिक संस्कृति मापनीय हैं । (3) भौतिक संस्कृति संचयी होती हैं । (4) इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन किया जा सकता हैं । (5) भौतिक संस्कृति शीघ्रता से परिवर्तनशील है । (6) एक स्थान से दूसरे स्थान पर इसका प्रसार आसानी से होता हैं अतः इसका ग्रहण भी आसानी से किया जा सकता हैं।

अभौतिक संस्कृति - अभौतिक संस्कृति में वे सभी बातें समाहित हैं जो अमूर्त हैं। मैकाइवर आदि कुछ समाजशास्त्री तो संस्कृति के अमूर्त रूप को ही संस्कृति मानते हैं- इसके अन्तर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को लिया जाता हैं जिनका तोल-माप नहीं हो सकता, जो अमूर्त होते हैं, जिन्हें हम केवल अनुभव कर सकते हैं। सोरोकिन तो इसी गुण के आधार पर इसे भावात्मक संस्कृति कहते हैं । अभौतिक संस्कृति हमें विरासत में प्राप्त होती हैं- विचार, विश्वास, मानदण्ड, व्यवहार, मूल्य, प्रथा, रीति-रिवाज, कानून साहित्य, ज्ञान, भाषा आदि इसी के अंग हैं- अभौतिक संस्कृति सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती हैं- अभौतिक संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती है -
(1) यह अमूर्त होती हैं। (2) इसे मापा नहीं जा सकता हैं। (3) इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन प्रकट रूप में नहीं किया जा सकता। (4) अभौतिक संस्कृति जटिल होती हैं। (5) इसमें परिवर्तन बड़ी धीमी गति से होते हैं। (6) सांस्कृतिक प्रसार से इसे उसी रूप में ग्रहरण नहीं किया जा सकता । (7) अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन से हैं।

2.4.1 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर

भौतिक संस्कृति	अभौतिक संस्कृति
1.भौतिक संस्कृति मूर्त होती हैं ।	1. अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती हैं ।
2.भौतिक संस्कृति व्यक्ति के बाह्य जीवन से	2.अभौतिक संस्कृति व्यक्ति के आन्तरिक

सम्बन्धित हैं।	जीवन से सम्बन्धित है।
3.परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से होते हैं।	3. परिवर्तन की गति अति मन्द होती हैं।
4.भौतिक संस्कृति शीघ्र ग्राह्य हैं । अर्थात् सांस्कृतिक सम्पर्क से ये शीघ्र ग्रहण की जा सकती हैं	4. अभौतिक संस्कृति को शीघ्रता से ग्रहण नहीं किया जा सकता हैं।
5.यह मापनीय हैं।	5. यह मापी नहीं जा सकती।
6.इसकी प्रकृति सरल हैं।	6. यह जटिल प्रकृति की हैं ।
7. भौतिक संस्कृति संचयी होती हैं । आविष्कारों से इसमें वृद्धि होती हैं।	7. अभौतिक संस्कृति में न तो वृद्धि होती है न ही इसका संचय किया जाता हैं।
8. इसका मूल्यांकन लाभ अथवा उपयोगिता के आधार पर किया जाता है।	8. अभौतिक संस्कृति का मूल्यांकन उपयोगिता के आधार पर नहीं किया जा सकता हैं ।अन्त में यह कहा जा सकता हैं कि भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति दोनों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता हैं । यदि भौतिक संस्कृति विकसित होती हैं तो अभौतिक संस्कृति का विकास भी स्वतः ही हो जाता हैं। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे का प्रभावित करती है।

2.4.2 संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति की अनेक ऐसी विशेषताएं हैं जो इसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करनें में सहायक होती हैं, ये निम्नलिखित हैं-

1. संस्कृति सीखी जाती हैं- हॉवल की परिभाषा के अनुसार, ''संस्कृति सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग हैं जो कि प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं, बल्कि किसी समाज के सदस्यों की विशेषता हैं।'' इससे संस्कृति की यह विशेषता स्पष्ट होती हैं कि संस्कृति सीखी जाती है, वह शारीरिक विषमताओं के समान वंशानुक्रमण द्वारा प्राप्त नहीं होती। मनुष्य जन्म के समय किसी संस्कृति को नहीं जानता। धीरे-धीरे व्यक्ति का समाजीकरण होता है और वह उस समाज के व्यवहार-प्रतिमानों को सीखता है और उन सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का योग ही संस्कृति कहा जा सकता हैं। अतः यह कहा जा सकता हैं कि जो व्यवहार किसी समाज या समूह की विशेषता होते हैं वही संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं; जैसे- प्रथा, रूढ़ियां, जनरीतियां, परम्पराएं आदि- साथ ही वे व्यवहार जो व्यक्तिगत होते हैं या व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होते हैं, वे संस्कृति नहीं हो सकते है। अतः यह कहा गया हैं कि सभी प्रकार के सीखे हुए व्यवहार संस्कृति के अंग नहीं हैं अपितु संस्कृति में वही व्यवहार-प्रतिमान सम्मिलित हैं जो किसी समूह या समाज के सदस्यों द्वारा स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त हैं।

2. संस्कृति हस्तान्तरित की जाती हैं- सीखे जाने के गुण के कारण ही संस्कृति की यह भी विशेषता हैं कि इसे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अथवा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित भी किया जा सकता हैं। इस संचरण की प्रक्रिया में भाषा महत्वपूर्ण साधन हैं जो केवल मानव की ही विशेषता है। चूंकि मानवेतर प्राणी भाषा नहीं जानते इसलिए वे अपनी संस्कृति का संचारण भी नहीं कर सकते। मानव

भाषा के माध्यम से ही अपने ज्ञान को आगे आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देता हैं। लेखन-कला (जो भाषा का ही लिखित रूप हैं) के द्वारा संस्कृति का संचय किया जा सकता है और इस तरह मानव-ज्ञान व अनुभवों को भी सम्मिलित कर सकता हैं। इस तरह नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से प्राप्त ज्ञान व अनुभवों को अपनी आगे की पीढ़ी के लिए हस्तान्तरित करती जाती हैं और इस तरह मानव-ज्ञान व अनुभव संस्कृति को बढ़ाते जाते है और वह संचयी होती जाती हैं अर्थात् विगत् अनुभवों से लाभान्वित होकर भावी पीढ़ी को उन्नत बनाया जा सकता है; उदाहरणार्थ- एक बार पहिए का आविष्कार हो जाने के उपरान्त व्यक्ति को क्रमश: बैलगाड़ी, रेल, बस, स्कूटर, हवाई जहाज आदि बनाने के लिए पुराने अनुभवों व ज्ञान से सहायता मिली, यह संस्कृति के हस्तान्तरण का परिणाम हैं।

3. प्रत्येक समाज की संस्कृति विशिष्ट प्रकार की होती हैं- चूंकि प्रत्येक समाज की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती है; उसकी सामाजिक, भौगोलिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं अतएव वहां की संस्कृति भी अलग विशेषता लिए हुए होती हैं। अर्थात् हर समाज की सामाजिक आवश्यकताएं भिन्न होती हैं और उन सामाजिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप प्रत्येक समाज से संस्कृति में भिन्नता रखता है; उदाहरणार्थ- पाश्चात्य समाजों में सर्दी अधिक होने के कारण हर समय मनुष्य जूते, मोजे आदि पहने रहते हैं इसी कारण वहां की संस्कृति में रसोई में जमीन पर बैठकर खाना खाने व बनाने की व्यवस्था नहीं हैं- हर कार्य मेज-कुर्सी पर बैठकर होता है, इसके विपरीत भारत में अधिक सर्दी हर मौसम में न पड़ने के कारण भोजन बनाने व खाना जमीन पर बैठकर किया जाता है अतः यहां की संस्कृति में पाश्चात्य संस्कृति से भिन्नता भौगोलिक परिस्थितियों के कारण हैं । अर्थात् संस्कृति पूर्णतः सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम होती है। कुछ क्षेत्रों में संस्कृति का सर्वत्र समान भी दिखाई देती है; जैसे- परिवार, विवाह, प्रथाएं, कानून, नातेदारी, जन-रीतियां, रूढ़ियां आदि समान ही मिलती हैं। इसी आधार पर **मुरडॉक एवं वील्स** आदि का मानना हैं कि ऊपरी तौर पर संस्कृतियों में विभिन्नता दिखाई देती है किन्तु गहराई से देखने पर उनमें समानता ही दृष्टिगोचर होती हैं। अतः यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सभी संस्कृतियों में कुछ तत्व समानता लिए हुए होते हैं तथा कुछ तत्व भिन्नता लिए हुए होते है।

4.संस्कृति मानव निर्मित है- मनुष्य में वह अनोखी क्षमता विद्यमान है कि उसे संस्कृति का निर्माता कहा जा सकता है। मनुष्य की यह क्षमता उसकी शारीरिक संरचना के कारण है- विकसित मस्तिष्क, तीक्ष्ण दृष्टि, हाथों की बनावट, सीधे खड़े होने की क्षमता, अंगूठे व गर्दन की संरचना आदि उसे अन्य प्राणियों से भिन्नता प्रदान करती हैं जिनके कारण ही वह अपने अनुभवों का प्रयोग कर सका हैं, नवीन आविष्कार कर सका है और अपनी संस्कृति का निर्माता बन सका है। अतः कहा जा सकता हैं कि संस्कृति केवन मानव-समाज में ही विद्यमान है किसी मानवेतर समाज में नहीं।

5. संस्कृति में सामाजिकता का गुण निहित है - चूंकि संस्कृति मानव की आवश्यकताओं के अनुरूप होती हैं, साथ ही वह सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती है, अतः संस्कृति की प्रकृति सामाजिक है। संस्कृति व्यक्ति-विशेष की नहीं होती वरन् वह सम्पूर्ण समाज की होती हैं, वह समाज की सम्पूर्ण जीवन-विधि की प्रतिनिध होती हैं क्योंकि उसका जन्म सामाजिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप होता हैं। परम्परा, धर्म, भाषा, कला-दर्शन आदि सम्पूर्ण समाज की विशेषताओं को प्रकट करते हैं। इसलिए कहा जा सकता हैं कि संस्कृति व्यक्तिगत नहीं हैं, अपितु उसमें सामाजिकता का गुण निहित होता हैं।

6. संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती है - संस्कृति हर समाज व समूह की अलग होती है और वह समूह अपनी संस्कृति को एक आदर्श मानता है और उसके अनुसार ही व्यवहार करता है। इसी कारण जब दो संस्कृतियों की परस्पर तुलना की जाती हैं तो प्रत्येक समूह अपनी संस्कृति को दूसरी संस्कृति से

आदर्श व श्रेष्ठ मानता हैं और उसी के अनुसार व्यवहार करने का प्रयास भी करता है। हिन्दू, मुस्लिम, दक्षिण भारतीय आदि सभी स्वयं की संस्कृति को उच्चादर्श मानते हैं।

7. संस्कृति में अनुकूलन करने का गुण होता है - संस्कृति की यह विशेषता हैं कि वह परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको अनुकूलित कर लेती है। इसका कारण यह हैं कि संस्कृति गतिशील होती है, स्थिर नहीं- इसी गतिशीलता के कारण वह समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं। उदाहरण के लिए, रेगिस्तान व बर्फीले प्रदेशों में रहने वालों की संस्कृति में पर्याप्त अन्तर भौगोलिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप आता रहता हैं और उस भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन भी वहां के लोग कर लेते हैं और तद्रूरूप उनकी संस्कृति बन जाती है। उसी प्रकार टुण्ड्रा-निवासियों की संस्कृति वहां के बर्फीले वातावरण के अनुरूप हो जाती है अर्थात् संस्कृति अपने भौगोलिक पर्यावरण के अनुरूप परिवर्तित हो जाती है यह उसका विशेष गुण होता है। किन्तु भौगोलिक पर्यावरण कुछ सीमा तक ही संस्कृति को प्रभावित कर सकता है क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तन की गति धीमी होती है।

8.संस्कृति में सन्तुलन व संगठन होता है- संस्कृति अनेक इकाइयों का समन्वित रूप है और ये इकाइयां पारस्परिक रूप से सम्बन्धित व अन्तः निर्भर होती हैं अर्थात् संस्कृति की विभिन्न इकाइयां परस्पर एक-दूसरे से गुंफित होती हैं और उनका संगठित रूप ही सम्पूर्ण संस्कृति में एक प्रकार का सन्तुलन तथा संगठन लाता है। इसका कारण यह हैं कि इन इकाइयों का अस्तित्व शून्य में नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढ़ांचे के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से ये परस्पर सम्बद्ध होती हैं। प्रत्येक इकाई का ढ़ांचे के अन्दर एक निश्चित कार्य व स्थिति होती है, फलस्वरूप सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढ़ांचे में सन्तुलन व संगठन बना रहता हैं।

9. संस्कृति मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है- मानव एक सामाजिक प्राणी हैं। समाज में उसकी अनेक प्रकार की आवश्यकताएं होती है; जैसे-शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि जिनकी पूर्ति के लिए उसने संस्कृति निर्मित की है। संस्कृति ही मानव की प्राणीशास्त्रीय एवं सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कराती हैं। समाजविद् **मैलिनोव्स्की** एवं **रेडक्लिफ-ब्राउन** संस्कृति को जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि मानते हैं, जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। यदि संस्कृति, निरन्तर अपने समाज के सदस्यों की महत्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रहती हैं तो सम्पूर्ण संस्कृति ही समाप्त हो सकती है- उदाहरण के लिए मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नवीन-नवीन आविष्कारों का निर्माण होता रहता हैं और वे आविष्कार संस्कृति का ही अंग हाते हैं।

10. संस्कृति अधि - वैयक्तिक हैं - क्रोबर ने संस्कृति की यह विशेषता बताई हैं कि संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं अधिसावयवी भी हैं। संस्कृति की ये दोनों ही विशेषताएं महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम देखें कि संस्कृति को अधि-वैयक्तिक क्यों कहा गया हैं ? संस्कृति एक व्यक्ति की नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज अथवा समूह की होती हैं। यद्यपि मनुष्य ही संस्कृति का निर्माता हैं इसके उपरान्त भी संस्कृति की निरन्तरता अथवा उसका अधिकार व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं, अपितु सम्पूर्ण समूह द्वारा निर्मित होती हैं। यह बात भले ही हैं कि किसी का अनुभव, सहयोग इन्हें आगे बढ़ाने में सहायक रहा हो। लेकिन यह अक्षरश: सत्य हैं कि संस्कृति अनेक व्यक्तियों की विचार-विनिमय के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं, कोई भी व्यक्ति इसमें अपना योगदान दे सकता हैं- संस्कृति का निर्माण, विकास, परिमार्जन, संशोधन एवं परिवर्धन होना एक स्वाभाविक क्रिया है जिसे नियन्त्रित करने की क्षमता किसी व्यक्ति में नहीं हो सकती। इसी रूप में संस्कृति को अधिवैयक्तिक कहा गया हैं।

11.संस्कृति अधि-सावयवी हैं- क्रोबर ने संस्कृति को अधि-सावयवी भी कहा हैं। अधि-सावयवी कहने का आशय हैं कि प्राणिशास्त्रीय या जैविक (सावयवी) क्षमताएं और संस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रघटनाएं हैं। संस्कृति को जैविकीय से ऊँचा माना गया हैं क्योंकि संस्कृति से ही मानव जीवन को नियन्त्रित-निर्देशित करती हैं। इससे प्रभावित हुए बिना मानव का अस्तित्व नहीं हैं, संस्कृति के अनुसार ही उसे चलना पड़ता हैं। साथ ही केवल जैविकीय या सावयवी घटनाएँ भी संस्कृति की जनक नहीं हो सकती क्योंकि संस्कृति वंशानुक्रमण द्वारा किसी व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती। वंशानुक्रमण में यह क्षमता नहीं कि उनके माध्यम से सांस्कृतिक लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित हों, इस कारण भी संस्कृति अधि-सावयवी हैं।

इस प्रकार प्राणिशास्त्रीय क्षमताएं संस्कृत से भिन्न होने के कारण तथा शारीरिक विशेषताओं के समान सांस्कृतिक विशेषताएं वंशानुक्रम से व्यक्ति को प्राप्त न होने के कारण संस्कृति अधि-सावयवी हैं। संस्कृत ही व्यक्ति के जीवन को दिशा-निर्देश देती हैं तथा उसे नियन्त्रित भी करती हैं ।

2.5 गौरवशाली भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति हैं। इसके साथ की अन्य संस्कृतियां या सभ्यताएं चाहे वह यूनानी सभ्यता हो या मिस्त्री सभ्यता, आज अपने मूल स्वरूप में प्राप्त नहीं होती हैं। उनके स्वरूप का आकलन पुरातात्विक अवशेषों या लिखित अभिलेखों से ही हो पाता हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति में एक अविच्छिन्नता हैं, इसका कारण कल्पना और यथार्थ का लगभग संरूप आदर्श प्रस्तुत कर, समाज का व्यवस्थापन तथा उसको उदात्त लक्ष्य की ओर प्रेरित करना। भारतीयता की शाश्वत विकास यात्रा का रहस्य, मानव के आचार व्यवहार का यथासंभव सीमा तक सुव्यवस्थापन, तर्क एवं श्रद्धा का समन्वय कर, सन्तुलित और सोद्देश्य जीवन प्रणाली की स्थापना में हैं। भारतीय एक सनातन यात्रा हैं, एक अमृत पंथ हैं, जो अनादि से अनन्त तक विस्तृत हैं। भारत की आत्मा या भारतीयता को मात्र इतिहास के दिशा सन्दर्भ में नहीं समझा जा सकता हैं क्योंकि भारतीय संस्कृति का इतिहास घटनाओं और तथ्यों का पुंज मात्र नहीं हैं। प्रत्येक घटना, प्रत्येक काल का इतिहास एक मूल्यदृष्टि का सृजन करता हैं जो देशानुकूल, कालानुकूल, व्यावहारिक परिवर्तनों के साथ ही सत्य के खोज एवं उसकी प्राप्ति के आग्रह से युक्त हो सर्वतो भावेन लोक मंगल के लिए प्रयासरत समष्टि जीवन का मूल्याधिष्ठित स्वरूप प्रस्तुत करता हैं। भारतीय संस्कृति एवं परम्परा को इन सन्दर्भों में ही समझा जा सकता है।

2.5.1 संस्कृति का अवधारणा

संस्कृति अपने कलेवर में जीवनविधा तथा विचारविधा के समस्त आयामों जैसे व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध, धर्म, कला, साहित्य, विश्राम एवं मनोरंजन की विधि, समाज का व्यवस्थापन, जीवनमूल्य, इत्यादि से व्यक्त होने वाली समष्टिगत प्रकृति को समाविष्ट करती हैं। अतः इसकी कोई सरल परिभाषा संभव नहीं हैं। किन्तु यह एक अवधारणात्मक तथ्य हैं जो ऐतिहासिक विकास में किसी भूमि पर बसने वाले जन समूह की विशिष्टता को व्यावर्तित कर, उसे अन्य भूमि से पृथक करती हैं। इसलिए उसको किसी भूमि पर लम्बे समय से निवास कर रहे जन समूह के स्थिति के रूप में समझा जा सकता है अर्थात् समष्टिगत अनुभव को जो ऐतिहासिक विशिष्टता से युक्त होता हैं, संस्कृति कहा जा सकता हैं। इस स्पष्टीकरण की भी अपनी सीमा है। व्यक्ति से अतिरिक्त समाज का अस्तित्व नहीं होता है, अतः व्यक्तियों से समाज पृथक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती हैं। इस समस्या का पश्चिम की तर्कणा पद्धति से कोई उत्तर नहीं प्राप्त हो सकता। शायद यही कारण रहा होगा कि भारतीय वांड.मय में समाज की उत्पति

को तर्क से सिद्ध करने की चिन्ता न करके यह मान लिया गया कि यह विश्व तथा समाज अनादि और इसी सामाजिक एवं सांकेतिक विश्व में मनुष्य अपने मौलिक संस्कार अर्जित करते हैं और उसे चिरकाल से एक सनातन आदर्श व्यवस्था का लौकिक अनुकरण समझा जाता हैं।

अर्थात् संस्कृति किसी समाज के मानस पर पड़ने वाले प्रभावों की ऐसी प्रवृति का द्योतक है, जो विशेषतः उसकी अपनी होती है और पुनः उसके समस्त इतिहास में उसके भावों, उद्वेगों, विचार, वाणी एवं कर्म का संयुक्त तथा संचित प्रभाव होता हैं। संस्कृति विशिष्ट आत्मचेतना है, जिसको सामाजिक अनुभव का विश्लेषण कर, संकल्पनाओं, प्रतीकों और मूल्यों, दृष्टिकोणों तथा
मनोवृतियों के रूप में ढाला जाता हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति समष्टिगत समान अनुभव से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के पर्वतों, नदियों, झरनों तथा सागर को देखने वाले एक ही प्रकार के सामाजिक, आर्थिक अनुभव एवं सुख-दुःख को भोगने वाले, एक ही प्रकार की ऐतिहासिक परंपरा का वहने करने वाले, समान पूर्वजों की सन्तान समझने वाले ऐसे, समूह को एक संस्कृति वाला कहते हैं जो इन सबके साथ समान रूप से मानापमान का अनुभव करें।

भारतीय संस्कृति - यह स्पष्ट हो चुका हैं कि संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है और जीवन लक्ष्य को निर्धारित करता है। अतः भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए उसकी विशिष्ट संकल्पना, प्रतीक, तथा मूल्यों एवं मनोवृतियों को विश्लेषित कर समझना आवश्यक हैं। भारतीय संस्कृति शब्द से एक विशिष्ट भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का बोध होता है अर्थात् भारत नामक वह भू-भाग है जो इतिहास के प्रारंभ के साथ, पूर्वोक्त विशिष्टताओं से युक्त है। भारत भूमि पर रहने वाले जन समूह ने इतिहास के प्रारंभ से वर्तमान तक बहुत कुछ समान अनुभव अर्जित किये हैं। इन अनुभवों से जिन संस्कारों का निर्माण हुआ है, जो वैचारिक दृष्टिकोण विकसित हुआ हैं, उन सबका द्योतन संस्कृत में होता है। इस संस्कृति की अभिव्यक्ति धर्म, वांगमय, विज्ञान, तकनीक, कला, राज व्यवस्था सभी में स्पष्ट रूप से होती है। लौकिक एवं पारलौकिक स्तर पर व्यक्ति एवं समष्टि के स्तर पर इस विशिष्टता का पूरी स्पष्टता के साथ अनुभव किया जा सकता हैं। श्री0 अरविन्द ने संस्कृति के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए कहा है कि ज्ञान, विज्ञान, कला, चिन्तन और नैतिकता, दर्शन, धर्म ये मनुष्य के वास्तविक व्यापार हैं और उसी से संस्कृति रूप ग्रहण करती है। इसे भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में देखना होगा। भारतीय संस्कृति का वैशिष्टय उसकी परिष्कारवादी विधि में हैं। यह एक ऐसी सामूहिक जीवन-प्रणाली हैं, जो प्रकृति प्रदत पदार्थों के निरन्तर संस्कारपूर्वक उसे सर्वश्रेष्ठ रूप में प्राप्त करने का प्रयास करती हैं। इस सर्वश्रेष्ठता की पूर्णता एक ऐसे अखण्ड बोध की प्राप्ति हैं जिसमें जगत की समस्त वस्तुएं अंगांगी भावपूर्वक एक ही सता के विविध अवयवों के रूप में प्रतिस्थापित हो जाती हैं। परिणामतः मनुष्य और उसके समस्त व्यापार एक दूसरे के पूर्वक बन कर, अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। भौतिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक, समस्त आयाम एक दूसरे के अविरोधपूर्वक सामजंस्य की प्राप्ति के लिए अपने व्यापारों को संस्कारित करने का जो प्रयास करते हैं, उसी का नाम भारतीय संस्कृति हैं। यह काल की एक ऐसी सनातन यात्रा है जिसमें इतिहास की दयता उसके मूल्यबोध में समाहित है जिसमें घटना की अपेक्षा घटना से उत्पन्न मूल्यबोध अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात् घटना प्रधान काल के इतिहास के स्थान पर घटना से प्राप्त होने वाली शिक्षा या उपदेश अधिक महत्वपूर्ण हैं।

प्रथमतः यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति अत्यन्त आशावादी जीवन पद्धति है। इसमें जीवन का उद्देश्य ही आनन्द की प्राप्ति है। तैतरीयोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि 'कोई

क्यों जीवित रहता, कोई क्यों सांस भी लेता यदि आनन्द न होता' अर्थात् जीवन पर्व हैं, उसको अनुष्ठित करने के लिए, ठीक से जीवन जीने के लिए, जो दत्त जीवन हैं, जिसमें मनुष्य एवं पशु के बीच कोई अन्तर नहीं हैं अर्थात् मौलिक आवश्यकताओं की दृष्टि से पशु एवं मनुष्य दोनों समान है, जिसमें सभी भोजन करते हैं, सोते हैं, भय होता है और यौन सुख की अभिलाषा होती हैं। इस समानता को छोड़कर मनुष्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए संस्कारों की आवश्यकता होती हैं। यही संस्कार की प्रणाली धर्म के नाम से ही जानी पहचानी जाती है। संस्कारित होना तथा संस्कारित करने की परंपरा को आगे बढ़ाना, सब तक पहुँचाना ही संस्कृति हैं।

इस व्यापक दृष्टिकोण पर विचार किया जाय तो भारतीय संस्कृति जीवन के समस्त आयामों में विस्तार प्राप्त करने वाली प्रणाली या जीवन विधि हैं। यह किसी निश्चित विशिष्टता से युक्त होने तथा धरती की शेष संस्कृतियों से अलग होने के कारण महत्वपूर्ण नहीं हैं। अपितु इसलिए महत्वपूर्ण है कि इस संस्कृति में युगानुकूल देशानुकूल परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए अपनी नित्य जीवन दृष्टि या मूल्य प्रणाली को संरक्षित करने की क्षमता हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति विश्ववारा संस्कृति हैं। काल के थपेड़ों के साथ इसमें क्षरण तो संभव हैं किन्तु यह मर नहीं सकती। यह अमर संस्कृति है क्योंकि यहां जीवन की अखण्डता और सम्पूर्णता पर बार-बार बल दिया गया है, यहां मान्यता है कि न तो राज्य अपेक्षित है न ही मोक्ष अभीष्ट है, अपेक्षा है, कामना है, तो मात्र इतनी कि कोई दुःखतप्त न रहे अर्थात् दुःखी लोगों के कल्याण के लिए सब कुछ, यहां तक कि अपना जीवन भी समर्पित करने की कामना ही, प्रति क्षण संस्कार के परिष्कार का आदर्श हैं। इसको अत्यन्त संतुलित शब्दों में प्रस्तुत करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार एवं **संस्कृतिविद् प्रो0 राधाकमल मुखर्जी** कहते हैं कि- ''व्यक्ति का लक्ष्य है प्रवीणता की प्राप्ति तथा समाज का लक्ष्य है संस्कृति की उपलब्धि, दोनों लक्ष्य एक ही है, पूर्ण संतुलित एवं व्यावहारिक हैं।'' यहां प्रवीणता जीवन में सद्गुणों का विकास ही हैं।

2.5.2 भारतीय संस्कृति के मानदण्ड

विशाल एवं उदात्त जीवन पद्धति होने के नाते भारतीय संस्कृति को एक विशेष प्रकार की अमर्तता प्राप्त हो जाती है। जगत् में मनुष्य का कोई व्यापार या व्यवहार नितान्त एकाकी एवं अन्य से नितान्त अलग क्रिया नहीं है। किन्तु इस मान्यता के कारण अनेक दृष्टियां या मत संभव हैं, यद्यपि कि यह भी भारतीय संस्कृति की का एक वैशिष्ट ही है कि इसमें मनुष्य को अपने दृष्टि के निर्माण का व्यापक स्वातन्त्र्य प्राप्त है। किन्तु सामान्य बोध की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के कुछ अवधारणात्मक संप्रत्ययों को अवश्य गिनाया जा सकता है जो समग्र भारतीय संस्कृति के मानदण्ड के रूप में समझे जाये और भारतीय दृष्टि से सुसंगत मानव व्यवहार में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। इस दृष्टि से कुछ प्रमुख अवधारणायें निम्नवत् हैं-

1.जीवन की पूर्णता एवं इस जीवन की नश्वरता का बोध।
2.कर्म के प्रति जोर तथा नैतिक सिद्धान्तों की सर्वव्यापकता।
3.मानव मात्र की एकात्मकता में विश्वास।
4.उतरदायित्व की पवित्रता।
5.करूणा का आदर्श।
6.मनुष्य की सर्वविध उन्नति पर जोर।
7.भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता।

इन पर अलग-अलग विचार किया जाए तो ये विशिष्टतायें सार्वभौम एवं मानव मात्र के लिए अपेक्षित है, वरेण्य हैं, ऐसा प्रतिपादित किया जा सकता है यद्यपि कि ऐसा प्रतिपादन सर्वथा संभव हैं और अपेक्षित

भी। किन्तु भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य प्रतिपादक मानदण्ड के रूप में इसे इसलिए प्रस्तुत करना आवश्यक हैं कि भारतीय संस्कृति ही एक मात्र ऐसी संस्कृति हैं, जिसमें ये सभी एक साथ तथा अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक परंपरा में प्राप्त होते हैं।

2.5.3 उत्तरदायित्व की पवित्रता

जिस प्रकार के कर्मवाद की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति में की गई है और कर्म को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया हैं। उससे यह संभावना बनती हैं कि व्यक्ति समस्त कर्मों को अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए करेगा। किन्तु यह संकट भारतीय जीवन पद्धति में खड़ा नहीं होता है, क्योंकि यहां उन सभी सम्भावनाओं को समाप्त करते हुए दायित्व के भाव की सहज प्रतिष्ठा के लिए आनृण्य 'ऋण मुक्त होना' व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया हैं। यह चिन्तन अपने ढंग का अद्वितीय है और विश्व की किसी अन्य संस्कृति में प्राप्त नहीं होता हैं। आनृण्य व्यवस्था व्यक्ति को माता, पिता के प्रति, गुरू के प्रति, देवताओं के प्रति कृतज्ञता के भाव को उत्पन्न करते हुए उनसे जो कुछ प्राप्त हुआ, उससे उऋण होने की प्रस्तावना प्रस्तुत करती हैं। इस व्यवस्था की विशिष्टता यह है कि जिससे ऋण प्राप्त होता है, उसे नहीं लौटाना है अपितु उसके लिए अन्य को लौटाना है, यह समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हैं। इस व्यवस्था के फलस्वरूप मनुष्य अपने समस्त कर्तव्यों की पूर्ति के लिए उत्तरदायी बनता है और अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति में अक्षम होने पर वह पाप का भाजन तो होता ही है, लोकनिन्दा का भी पात्र बनता हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को, जो गृहस्थ है अर्थात् जिसका उत्पादन व्यवस्था में सहकार है, जिसने समाज से अपना प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है। उसका समाज के प्रति यह दायित्व है कि वह उसके भरण-पोषण एवं अभ्युन्नति के लिए प्रयास करें। इस प्रयास को यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हैं। प्रत्येक गृहस्थ की यह जिम्मेदारी हैं कि वह अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में तीन महत्वपूर्ण यज्ञों को स्थान दें। ये यज्ञ है, ब्रह्म यज्ञ अर्यात् अध्यापन, इस अनादि विश्व में अनेकों प्रयास से जो ज्ञान का विकास हुआ है और व्यक्ति तक पहुंचा हैं, उसके आगे संक्रान्त करना, विकसित करना और अगली पीढ़ी तक पहुँचाना प्रत्येक का कर्तव्य हैं। जो इस कर्तव्य का पालन नहीं करता है, वह ज्ञान का द्रोही है, ब्रह्म दोषी हैं। इसी प्रकार पितृयज्ञ अर्थात् तर्पण और प्रजापालन अर्थात् अतिथि सेवा, मानव सेवा, यह मानव का परम उत्तरदायित्व है। प्रतिदिन, प्रत्येक व्यक्ति भोजन के पूर्व एक निश्चित समय सीमा तक, भोजन के पूर्व एक निश्चित समय सीमा तक, भोजन के पूर्व घर के बाहर खड़े होकर, किसी अतिथि की प्रतीक्षा अवश्य करें, जिसे भोजन करा कर, वह अपने नृयज्ञ की पूर्ति की दिशा में, एक सार्थक प्रयास को सम्पन्न कर सके। मनुष्य को इस प्रकार की उदात्त भावना से प्रेरित करने की व्यवस्था मात्र भारतीय संस्कृति में ही प्राप्त होती हैं। अतिथि का स्वागत परम कर्त्तव्य है, और जो मनुष्य अतिथि का स्वागत नहीं करता हैं, वह घोर एवं गम्भीर पाप का भागी होता हैं। इसका विस्तृत वर्णन करते हुए मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि जो गृहस्थ अतिथि का सत्कार नहीं करता है, वह स्वयं केवल पाप का भक्षण करता है। यह व्यवस्था मानव के भाव पक्ष के उदात्तीकरण का अद्भुत प्रयास हैं। भारतीय वंश परंपरा इस व्यवस्था के माध्यम से यात्रियों एवं भोजनावास इत्यादि की व्यवस्था, न केवल व्यवस्था अपितु सम्मानपूर्वक व्यवस्था का प्रबन्ध करती हैं। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को देवता, गुरू तथा माता-पिता के ऋण के माध्यम से अन्यों के प्रति उत्तरदायी होने की जो व्यवस्था की गयी हैं, वह उत्तरदायित्व की पवित्र भावभूमि पर मानव कर्म को स्थापित करने का प्रयास हैं। जिसमें कोई छोटा नहीं हैं, जिसमें कोई अनुत्तरदायी नहीं, सभी विशिष्ट मानवीय गरिमा से युक्त हैं, प्रत्येक पीढ़ी पूर्वजों से प्राप्त भौतिक आध्यात्मिक एवं अन्य उपलब्धियों को अपनी उत्तवर्ती पीढ़ी को देने के लिए जिम्मेदार हैं। इस प्रकार की व्यवस्था के कारण सामाजिक अनुबन्ध

और समाज के प्रति व्यक्ति का दायित्व उसका सहज भाव हो जाता है। इसके लिए किसी बाध्यतामूल नीति की आवश्यकता नहीं होती हैं।

करूणा का आदर्श - भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता हैं करूणा की भावना। ऐसी भावना जो करूणा को विश्वबन्धुत्व के उत्कर्ष तक ले जाती हैं। मानव पीड़ा के प्रति असीम व निर्मल करूणापूर्वक चिन्ता, सार्वभौम करूणा एवं सदृभावना हमारी अनादि विशिष्टता है। सामान्यजन ने विशिष्ट करूणा, धैर्य एवं कृपा से संयुक्त बद्ध एवं महावीर जैसे युग-पुरूषों को भगवान के उच्चासन पर बैठाकर पूजा करते हैं। अनेक स्मारकों एवं प्रतीकों में आज भी वैश्विक करूणा के ये मूर्तिमान स्वरूप पूरे देश में पाये जाते हैं।

करूणा की यह भावना मनुष्य के दैनिक जीवन व्यवहार का ही हिस्सा नहीं रही। अपितु उससे आगे बढ़कर के यह कला एवं अन्य भावनात्मक क्रियाओं का स्थायीभाव बन गयी। करूणा को केन्द्रित करके दुनिया में कहीं भी इतनी रचनाओं की, इतने विस्तृत क्षेत्रों में प्राप्ति नहीं होती हैं। जहां मिस्र सभ्यता के कलातथ्य मिस्र के वैभव, राजा के प्रताप एवं ऐश्वर्य का प्रतिबिम्बन करते हैं, वहीं ग्रीक व रोमन सभ्यता के कलावशेष नागरिक जीवन की जटिलता एवं श्रृंगार एवं विलास से युक्त नगर-जीवन की झलक प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों ही सभ्यताओं के विपरीत भारतीय संस्कृति में करूणा की प्रतिष्ठा, शिव, बुद्ध, महावीर, पशुपति, प्रजापति इत्यादि की प्रतिमाओं में अपनी रचनात्मक भावभूमि से सहज ही होती है और सकल विश्व के दुःख से कातर और उसके परिहार के लिए चिन्तित मानव के उदात्त स्वरूप का दर्शन करती हैं। हमारी संस्कृति में दूसरों के लिए अपने जीवन का त्याग करने की जो महनीय प्रवृति पायी जाती हैं, वह किसी भी अन्य संस्कृति के लिए वरेण्य हैं। करूणा ही इसका आधार हैं। करूणा के भाव से अनासक्ति का उदय होता है। करूणा ने धर्म एवं कला का ऐसा गठबन्धन किया कलाकृतियों में चाहे वह किसी भी पन्थ से अनुप्राणित कृति हो वही प्रेरणा, वही साधना, वही तन्मयता दिखायी देती है जिसने पृथ्वी पर स्वर्ग निर्माण किया है।

2.5.4 मनुष्य का सर्वविधि विकास

करूणा के विस्तार का स्वाभाविक परिणाम था कि मनुष्य की सर्वविध उन्नति के प्रयास हुए। परिणामतः भारतीय संस्कृति का जोर मात्र मनुष्य के आध्यात्मिक और बौद्धिक जगत की सन्तुष्टि तक ही नहीं हैं, बल्कि उसे आगे तर्कशास्त्र, भाषाविज्ञान, आयुर्विज्ञान, ज्योतिषशास्त्र एवं अन्य विज्ञानों के विकास में भी पाया जाता हैं अर्थात् स्थापत्य से लेकर प्राणिविज्ञान तक सभी स्थानों पर करूणा की दृष्टि और दुःखकार प्राणियों के दुःखमोचन का प्रयास सर्वत्र दृष्टिगोचर होता हैं। जैसा कि चर्चा हो चुकी हैं, कि मनुष्य कल्याण, उसकी उन्नति मात्र आध्यात्मिक या उपासना दृष्टि से संभव नहीं हैं। इसके लिए अन्य पक्षों का भी विस्तार एवं विकास आवश्यक हैं। भारतीय संस्कृति में यह विस्तार अत्यन्त प्रबलता एवं प्रखरता से प्राप्त होता हैं। विज्ञान एवं तकनीक क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियां अत्यन्त विस्मयकारी एंव गौरवशाली हैं। भारतीयों ने गणित एवं यन्त्रविद्या की नींव डाली। उन्होंने भूमि का मापन किया, वर्ष के विभाग किये, आकाश का मानचित्र बनाया और सौरमण्डल के परिभ्रमण चक्र का परिशीलन किया और उपग्रहों की गति का अत्यन्त सूक्ष्त सीमा तक मूल्यांकन प्रस्तुत किया। प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र में पक्षियों, पशुओं, पेड़ों, पौधों ओर बीजों आदि तक का अध्ययन किया। चिकित्सा विज्ञान में भी ज्योतिष एवं अध्यात्म विद्या के समान भारतीय संस्कृति की प्रमुखता सन्देह से परे है। आयुर्वेद एवं शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियां आज भी कई दृष्टियों से दुनिया के आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान को चकित कर देने वाली हैं। खगोल विद्या के क्षेत्र में तो मात्र एक उद्धरण ही भारतीय सांस्कृतिक धारा के मनीषा की श्रेष्ठता को सिद्ध की देने के लिए पर्याप्त हैं। कि कोपरनिकस से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व (न्यूनतम) लिखे

गये ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा गया हैं कि ''सूर्य न तो कभी अस्त होता है न तो कभी उदय, जब लोग सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो रहा है, तब वह केवल एक परिवर्तन में आता हैं। दिन के अन्त में नीचे के हिस्से में रात हो जाती हैं और दूसरी ओर दिन हो जाता हैं, फिर जब लोग सोचते हैं कि सूर्य उदित हो रहा हैं, तब वह केवल रात्रि के अन्त में पहुँच कर केवल एक परिवर्तन में आ रहा होता हैं और नीचे के हिस्से में दिन और दूसरे हिस्से में रात कर देता हैं।'' भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी भारत की उपलब्धियां अत्यन्त आह्लादकारी हैं। इस प्रकार समाज विज्ञान के समस्त आयामों का सम्यक् विवेचन राजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्रों में पाया जाता हैं। लोकतंत्र एवं कल्याणकारी-राज्य की अवधारणा भारत में ही विश्व में सबसे पुरानी हैं। इतना ही नहीं सर्वपन्थ-समभाव की अवधारणा को भी राज्य के नीतिनियामक तत्व के रूप में स्वीकार करने के प्राचीनतम उदाहरण भारत में ही प्राप्त होते हैं। यदि राजनीति के क्षेत्र में अंग्रेजों के द्वारा लिखे कल्पित इतिहास से प्रभावित होकर, वेदों एवं उपनिषदों के महान् युग तथा महानतम शिक्षाओं को इस क्षेत्र में कल्पना भी माने तो चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के शासन को तो यथार्थ स्वीकार करना ही पड़ेगा और पश्चिम में लोककल्याणकारी राज्य एवं सेकुलर राज्य की स्थापना से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत में राज्य के लोककल्याणकारी स्वरूप एवं उसके सर्वपन्थ समभाव की दृष्टि से इनकार नहीं किया जा सकता हैं। चन्द्रगुप्त जिस अर्थशास्त्र को आधारित करके राज्य व्यवस्था का संचालन करता था, उसमें स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि जनता के सुख एवं नैतिक जीवन का दायित्व राज्य पर है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य लिखते हैं कि ''प्रजा का सुख ही राजा का सुख है तथा प्रजा का हित ही राजा का हित है। राजा का हित अपने आनन्द में नहीं वरन् प्रजा के आनन्द में हैं।''

अशोक के शिलालेखों से भी यह बात स्पष्ट रूप से ध्वनित होती हैं। राज्य सभी के प्रति सहिष्णु हो तथा सभी के आचारों, विचारों का आदर करें, सबका सब के प्रति समत्व भाव बनें तथा कानून के समक्ष सबकी समानता हो, इसका भारतीय राज्य व्यवस्था में विशेष आदर रखा जाता था।

2.5.5 भू - सांस्कृतिक राष्ट्रीयता

भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवधारणा उसकी भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता हैं। इसको भारतीय संस्कृति के अत्यन्त व्यावर्त्तक लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता हैं। पश्चिम की राज्य राष्ट्र की अवधारणा के विपरीत भारत में प्राचीनतम काल से ही भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का सिद्धान्त रहा हैं। यही कारण हैं कि अनेक प्रभुसता सम्पन्न राज्यों के होते हुए भी भारत भूमि को एक राष्ट्र के रूप में सर्वत्र स्वीकृति मिली, जो कि एक राष्ट्र एक जन की मान्यता का प्रतिपादन करता हैं। इस विशिष्टता को यूरोपीय इतिहास अथवा यूरोपीय इतिहास की दृष्टि से भारतीय इतिहास का लेखन और मूल्यांकन करने के तर्कों ये समझ पाना संभव नहीं हैं। युद्ध, राजनीति और आर्थिक संघर्ष को भारतीय विकास का स्त्रोत मानकर हम भारत तथा भारतीय इतिहास की राष्ट्रीय दृष्टि से कदापि नहीं समझ सकते हैं। स्वयं भारत शब्द भी एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा को ही प्रस्तुत करता हैं, भारतीय संस्कृति में भूमि को माता माना गया है, एक भूमि पर रहने वाले समस्त जन उसके पुत्र हैं, भारत जो इस देश के पूर्वजों में श्रेष्ठतम हैं, उसके नाम पर इसे भारत कहा गया हैं। माता को ज्येष्ठ पुत्र के नाम से जोड़ कर बुलाने की परंपरा भी इस भूमि पर प्राप्त होती हैं। दूसरा अर्थ यह भी प्राप्त होता हैं कि **'भा' यानि प्रकाश, 'रत'** यानि लगा हुआ, अर्थात् प्रकाश की प्राप्ति में लगे हुए लोगों का जो जन भूमि संघात है, वह ही भारत हैं। राष्ट्र शब्द वैदिक काल से ही अपने मूल अर्थ में प्राप्त होता हैं। राष्ट्र एक सुघटित इकाई हैं, राज्य या किसी प्रकार की शासकीय सत्ता से इसका अर्थ सम्बन्ध रंच मात्र का भी नहीं हैं, माता भूमि, भारती वाक्, राष्ट्र इन वैदिक अवधारणाओं का पल्लवन ही भारत हैं। इस भारतवर्ष को एक यज्ञ वेदी के रूप में प्रस्तुत किया गया हैं। जो उत्तर की ओर ऊँची हैं, दक्षिण की ओर ढलुआ है। इसे बाणयुक्त चढ़ा हुआ धनुष कहा गया हैं। हिमालय का

विस्तार उस धनुष का आधार दण्ड हैं और दक्षिणपथ खिंची हुई डोरी, जिसके बीच में बाण रखा हुआ हैं। कन्याकुमारी का अन्तरीप उस बाण की नोक हैं। इस भू-सांस्कृतिक अवधारणा का वर्णन सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्राप्त होता हैं। वेद जीवन की श्रेष्ठता को राष्ट्रीय सम्पन्नता की मांग में देखते हैं, तो पुराण भारतवर्ष का विहंगम मानचित्र खींचते हैं, पर्वतों एवं नदियों के माध्यम से समूचे भारत का विस्तृत वितान प्रस्तुत करते हैं। जीवन पद्धति की दृष्टि से भी प्रातः उठकर, स्नान करते समय, उपासना के समय, सोते समय, नदियों, नगरों, महापुरूषों के स्मरण का एक ऐसा विधान नियोजित होता है जो किसी अन्य संस्कृति में दुर्लभ हैं। पूरब के व्यक्ति को पश्चिम से, पश्चिचम के व्यक्ति को पूरब से, उतर का दक्षिण से, दक्षिण को उतर से प्रतिदिन के व्यवहार में जोड़ने और सुदूर भारत को अपने नित्य के अनुभव का विषय बनाने की जो अनुपम विधि प्रस्तावित की गयी हैं, वह उत्कृष्टतम हैं। यह भारत-भाव ही जीवन विधि हैं, भारत-भाव की प्रतिष्ठा मात्र, भारत के लिए नहीं हैं, वह तो तभी चरितार्थ होता है जब हम अपने, दायित्वों को पूरा करते हुए, सबमें अपनी चेतना का दर्शन करते हुए, सबकी पीड़ा बांटते हुए, समस्त सृष्टि के कल्याण के लिए आकुलता का जागरण करते हुए, अपनी भारतीयता को प्रमाणित करें।

2.6 पुराण भारतीय संस्कृति के आधारस्तम्भ

भारतीय संस्कृति में पुराणों का स्थान न केवल प्राचीन काल में ही अत्यंत महत्वपूर्ण रहा हैं, वरन आज भी है। क्योंकि इनके ही माध्यम से पुरातन भारतीय मनीषा, कला तथा इतिहास की त्रिवेणी का संरक्षण अत्यन्त ही व्यवस्थित रूप में किया जा सका हैं। पुराण आर्य साहित्य रूपी मन्दिर के उन दैदीप्यमान स्वर्णिम कलशों के समान हैं, जिनका अवलोकन करने मात्र ही से मन्दिर की भव्यता, महानता, सुन्दरता और उपयोगिता का आभास हो जाता हैं। वास्तव में पुराण भारत के त्रिकालज्ञ ऋषियों- महर्षियों और महान विद्वानों, चिन्तकों तथा तत्वज्ञों का वह प्रसाद हैं, जिसमें प्राणीमात्र की सर्वांगीण उन्नति और परम कल्याण की साधना-सम्पति अक्षय भण्डार निहित हैं। इस भण्डार के बल पर भारत बौद्धिक दृष्टि से आज भी एक ऐसा सम्पन्न देश हैं, जो प्राणी मात्र के कल्याण के लिए विश्व को बहुत कुछ दे सकता हैं। पुराण मानव सृष्टि की आदि स्थिति के साथ-साथ उसके क्रमिक विकास के अन्तर्गत आधुनिक काल तक का ब्योरा देने के बेजोड़ साधन हैं। विश्व के किसी भी देश या जाति धर्म में ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं हैं, जिसमें इस प्रकार से अनादि काल से सृष्टि क्रम का इतना पुष्ट विवरण सुलभ हो। आज के इतिहासकारों द्वारा जिस युग को प्रागैतिहासिक अथवा अंधयुग कहा जाता है, उसमें भी पुराणों की दिव्य-प्रभा प्रकाश स्तम्भ के रूप में कार्य करती हैं। भारतीय संस्कृति और इतिहास की जो आधारभूत सामग्री पुराणों के माध्यम से हजारों-हजारों वर्ष पूर्व प्रस्तुत की गई हैं, वह आज के भारतीय शिक्षाविदों के लिए भी सुखद विस्मय प्रस्तुत कर देती हैं। वास्तव में पुराण भारतीय संस्कृति की एक अनुपम, अद्भुत, अद्वितीय और अमूल्य निधि है।

अभ्यास प्रश्न -

1.कौन-सी संस्कृति विश्व की प्राचीनतम् संस्कृति है ?

अ. भारतीय ब. चीन

स. अमेरिका द. यूरोप

2.मानव संस्कृति विहीन हो जाये तो किसके समतुल्य माना जाता है ?

अ. देवता ब. असुर

स. पषु द. गन्धर्व

3.मनुष्य और पशु के बीच किसका अन्तर है ?

अ. मनुष्यता ब. पशुता
स. संस्कृति द. उपरोक्त कोई नहीं

4.संस्कृति किसके लिए आदर्शसूचक है ?
अ. समाजआदि का समूह ब. सामाजिक स्तर का समूह
स. भौगोलिक स्थिति का समूह स. अन्तर्जातिक स्तर का समूह

5.संस्कृति में किसका गुण निहित होता है ?
अ. सामाजिकता ब. भौतिकता
स. आदर्शता द. नश्वरता

6.संस्कृति आदर्श होती हैं -
अ. समूह के लिए ब. खुद के लिए
स. परिवार के लिए द. जाति के लिए

7.संस्कृति निर्मित हैं -
अ. मानव से ब. देवता से
स. असुर से द. नेता से

2.7 सारांश

संस्कृति का वर्णन सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्राप्त होता हैं। वेद जीवन की श्रेष्ठता को राष्ट्रीय सम्पन्नता की मांग में देखते हैं, तो पुराण भारतवर्ष का विहंगम मानचित्र खींचते हैं, पर्वतों एवं नदियों के माध्यम से समूचे भारत का विस्तृत वितान प्रस्तुत करते हैं। जीवन पद्धति की दृष्टि से भी प्रातः उठकर, स्नान करते समय, उपासना के समय, सोते समय, नदियों, नगरों, महापुरूषों के स्मरण का एक ऐसा विधान नियोजित होता है जो किसी अन्य संस्कृति में दुर्लभ हैं। पूरब के व्यक्ति को पश्चिम से, पश्चिम के व्यक्ति को पूरब से, उतर का दक्षिण से, दक्षिण को उतर से प्रतिदिन के व्यवहार में जोड़ने और सुदूर भारत को अपने नित्य के अनुभव का विषय बनाने की जो अनुपम विधि प्रस्तावित की गयी हैं, वह उत्कृष्टतम हैं। यह भारत-भाव ही जीवन विधि हैं, भारत-भाव की प्रतिष्ठा मात्र, भारत के लिए नहीं हैं, वह तो तभी चरितार्थ होता है जब हम अपने, दायित्वों को पूरा करते हुए, सबमें अपनी चेतना का दर्शन करते हुए, सबकी पीड़ा बांटते हुए, समस्त सृष्टि के कल्याण के लिए आकुलता का जागरण करते हुए, अपनी भारतीयता को प्रमाणित करें।

2.8 शब्दावली

शब्द	अर्थ
संस्कृति	पूरा किया हुआ या परिष्कृत किया गया

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-(अ) 2- (स) 3- (स) 4- (अ)
5- (अ) 6- (अ) 7- (अ)

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.भारतीय संस्कृति, चौखम्भा वाराणसी
2. राष्ट्र गौरव, डॉ. कौशल किशोर मिश्र, अंजनी कुमार मिश्र मिश्रा ट्रेडिंग कोर्प. शाप नं.12, ज्ञानमण्डल प्लाजा मैदागिन वाराणसी

3. समाजशास्त्र के सिद्धान्त, वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा
4. संस्कृति के ज्ञान, सुधानन्द सरस्वती, राउरकेला आर्य समाज मन्दिर
5. महापुराण सार, रघुनन्दन शर्मा,विश्व हिन्दू परिषद् , नई दिल्ली

2.10 उपयोगी ग्रन्थ

1.भारतीय संस्कृति, चौखम्भा वाराणसी
2. संस्कृति के ज्ञान, सुधानन्द सरस्वती, राउरकेला आर्य समाज मन्दिर

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. संस्कृति के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. संस्कति के मानवशास्त्रीय अर्थ तथा समाजशास्त्रीय अर्थ स्पष्ट कीजिए।

इकाई-3 संस्कार विधि एवं महत्त्व (सोलह संस्कारों का निरूपण)

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 संस्कार विधि एवं महत्त्व

3.3.1 संस्कार के प्रकार

3.3.2 संस्कारों के नैतिक उद्देश्य

3.3.3 व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कारों का योगदान

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 उपयोगी पुस्तकें

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने संस्कृति का महत्त्व एवं उसकी विशेषताओं को जाना । प्रस्तुत इकाई में आप सोलह संस्कारों का अध्ययन करेंगे । धर्म के दो पक्ष होते है, जिनमे एक है विश्वास और दूसरा है क्रिया। विश्वास धर्म का अमूर्त पक्ष है, जबकि क्रिया धर्म का मूर्त पक्ष है। धर्म के क्रियात्मक पक्ष मे संस्कार, अनुष्ठान, विधि-विधान एवं कर्मकांड आदि सम्मिलित है। हिन्दू व्यवस्था में इन संस्कारों का विधान व्यक्ति के शरीर को पवित्र बनाने के उद्देश्य से किया गया ताकि वह व्यक्तिगत व सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त बन सके । यह वह क्रिया है जिसके सम्पन्न होने पर कोई वस्तु किसी उद्देश्य के योग्य बनती है ।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह बता पायेंगें कि संस्कारों के द्वारा मनुष्य के मन में आस्तिकता की भावनाएं जागृत एवं प्रतिष्ठित होगी और मानव , जप, हवन आदि नित्य तथा व्रत-पर्व आदि नैमित्तिक कर्मों को यथाविधि सम्पदित करता हुआ अपने जीवन को सरल, सात्त्विक एवं सुखमय बना सकता हैं ।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चायत् आप –

- संस्कार शब्द का अर्थ बता पायेंगें ।
- संस्कारों का क्या उद्देश्य है इसकी व्याख्या का पायेंगें ।
- व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कारों का क्या योगदान है यह बता सकेंगें ।
- संस्कारो के प्रकारों से परिचित हो पायेंगे ।
- प्रमुख 16 संस्कारों के बारे में अध्ययन कर सकेंगे।

3.3 संस्कार विधि एवं महत्त्व

हिन्दुओं मे संस्कारों को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता। यहां गर्भ से लेकर मृत्यु के बाद तक के लिये अनेक सूक्ष्म संस्कारों की व्यवस्था की गई है। व्यक्ति के जीवन मे कुल कितने संस्कार होते है इस सम्बन्ध मे शास्त्रों मे मतभेद है एवं भिन्नता है। गौतम धर्म सूत्र मे व्यक्ति के लिये 40 संस्कारों का विधान है। इससे भिन्न पारस्कर गृहसूत्र, वाराह गृहसूत्र, मनुस्मृति तथा बौधायन गृहसूत्र मे कुल 13 संस्कारों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कुछ धर्म ग्रंथों मे 11 तथा कुछ मे 18 संस्कारों का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार संस्कार अनेक प्रकार के होते है, जिनमे मुख्य संस्कार सोलह (16) है। भारतीय संस्कृति मे संस्कारों का अत्यधिक महत्व है। भारतीय मान्यता के अनुसार जन्म से सभी वर्णों के व्यक्ति समान होते है। **"जन्मना जायेते शूद्र: संस्काराद् द्विज उच्यते"** अर्थात जन्म से सभी शुद्र होते है, संस्कारों को पूरा करने के कारण द्विज (अर्थात् ब्रांह्राण, क्षत्रिय और वैश्य) वर्णों के लोग शूद्रों से श्रेष्ठ हो जाते है वास्तव मे संस्कार ही व्यक्ति को मनुष्य बनाते है। संस्कार विहीन पुरूष पशु के समान समझा जाता है।संस्कार से आशय उन अनुष्ठानों से है जो एक हिन्दू को अपने जीवन को पवित्र और परमार्जित करने की दृष्टि से करने पड़ते है। संस्कार मनुष्य के जीवन मे नई स्थितियों के परिचायक है। मनुष्य के जीवन मे आगे आने वाले विभिन्न स्तरों के उत्तरदायित्व का बोध कराते हुए उसके जीवन को प्रगतिशील व व्यवस्थित करते है। अधिकांश प्रमुख संस्कार जीवन के निर्माणकारी स्तर अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम के अंतर्गत आते है। इससे स्पष्ट होता है कि इस आश्रम का व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास तथा तत्सम्बन्धी शक्तियों के संचय की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है।

संस्कार व्यक्ति के माँ के गर्भ मे आने के पूर्व से लेकर उसकी मृत्यु के पश्चात तक चलते है। जैसा पूर्व मे कहा गया है कि प्रमुख संस्कार 16 (सोलह) है—

3.3.1 संस्कार के प्रकार—

उपरोक्त स्थितियों के आधार पर यह स्पष्ट है कि 16 संस्कार ही कालान्तर में लोकप्रियता अर्जित कर पाये, जो निम्न हैं-

(1) गर्भाधान, (2) पुंसवन, (3) सीमन्तोन्नयन, (4) जातकर्म, (5) नामकरण (6) निष्क्रमण, (7) अन्नप्राशन, (8) चूड़ाकर्म, (9) कर्णवेध, (10) विद्यारम्भ, (11) उपनयन (12) वेदारम्भ, (13) केशान्त, (14) समावर्त्तन, (15) विवाह तथा (16) अंत्येष्टि।

(1) गर्भाधान - यह जीवन का प्रथम संस्कार हैं जिसके माध्यम से मानव अपनी पत्नी के गर्भ में बीज स्थापित करता था। इस संस्कार का प्रचलन उत्तरवैदिक युग में हुआ। सूत्रों तथा स्मृति ग्रन्थों में इसके लिए उपरोक्त समय एवं वातावरण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके लिए आवश्यक था कि स्त्री ऋतुकाल में हो तथा ऋतुकाल के पश्चात् चौथी से सोलहवीं रात्रियां इसके लिए उपयुक्त बतायी गयी हैं- 'षोडषर्त्तुर्निषाः स्त्रीणां तासु युस्मासु संविशेत्' अधिकांश गृहसूत्रों तथा स्मृतियों में चौथी रात्रि को शुद्ध माना गया है जबकि आठवी, पन्द्रहवीं एवं तीसवीं रात्रियों इसकी क्रिया वर्जित मानी गयी थी। सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारह एवं तेरह को निन्दित माना गया है जबकि शेष दस श्रेयस्कर की श्रेणी में रखी गयी हैं। इसके लिए रात्रि का समय ही उपयुक्त माना गया था, जबकि दिन में यह कार्य वर्जित था। प्रश्नोंपनिषद् में यह उल्लिखित हैं कि दिन में गर्भ धारण करने वाली स्त्री से अभागी, क्षीणकाय एवं अल्पायु सन्तानें जन्म लेती हैं–

'नार्तवे दिवा मैथुनमर्जयेदल्पभाग्याः अल्पवीर्याष्चदिवाप्रसूयन्तेद्रत्या पुत्रष्चेति' परन्तु उस काल में भी उन लोगों के लिए इस नियम में कुछ छूट दी गयी थी जो घर से सुदूर रहते थे। इस कालावधि में गर्भाधान के लिए रात्रि का अन्तिम प्रहर अभीष्ट माना गया था। इसके अन्तर्गत यह भी मान्यता थी कि सम रात्रियों गर्भाधान के पश्चात् पुत्र व विषम रात्रियों में पुत्री उत्पन्न होती हैं- **'युग्मासु पुत्राजायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रियु'** इस समय नियोग प्रथा भी प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत एक स्त्री अपने पति की मृत्यु अथवा नपुंसक की स्थिति में उसके भाई अथवा सगोत्र व्यक्ति से सन्तान उत्पत्ति हेतु यह क्रिया करवाती थी किन्तु अधिकांश ग्रंथों में इसे निन्दनीय माना गया है। मनु ने इसे पशुधर्म की संज्ञा दी है- **'अर्थद्विजेहि विद्वद्भिः पशुधर्मः विगर्हितः '**

प्राचीनकाल में यह क्रिया प्रत्येक विवाहित पुरुष व स्त्री के लिए पवित्र एवं अनिवार्य संस्कार के रूप में मानी जाती थी जिसका उद्देश्य स्वस्थ, सुन्दर एवं सुशील सन्तान प्राप्त करना था। पाराशर ने यह व्यवस्था दी कि जो पुरुष स्वस्थ होने पर भी ऋतुकाल में अपनी पत्नी से समागम नहीं करता है वह निःसन्देह भ्रूण हत्या का भागी होता है- **ऋतुस्नाता तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति।** इस काल में स्त्री के लिए भी यह अनिवार्य था कि वह ऋतुकाल के स्नान के बाद अपने पति के निकट जाये। पाराशर के मतानुसार ऐसा न करने वाली स्त्री का दूसरा जन्म शूकरी के रूप में होता हैं।

वैदिक युग के लिए स्वस्थ एवं बलिष्ठ सन्तानें पैदा करना प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य था क्योंकि इस काल में निःसंतान व्यक्ति समाज में आदर का पात्र नहीं था। ऐसी धारणा थी कि जिस पिता के जितने अधिक पुत्र होंगे तो वह स्वर्ग में उतना ही अधिक सुख प्राप्त करेगा। ध्यातव्य है कि पितृऋण से मुक्ति भी सन्तान पैदा करने पर ही सम्भव हो पाती थी।

(2) पुंसवन संस्कार

गर्भाधान के तीसरे माह में पुत्र प्राप्ति हेतु संस्कार कार्यान्वित किया जाता था। 'पुंसवन' का अभिप्राय हैं कि वह अनुष्ठान जिससे पुत्र की उत्पति हो- **'पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत्पुंसवनमीरितम।'** इस संस्कार के माध्यम से उन देवी-देवताओं को पूजा कर खुश किया जाता था जो गर्भ में शिशु की रक्षा करते थे। ध्यातव्य है कि चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने पर ही यह संस्कार सम्पन्न होता था क्योंकि यह समय पुत्र प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण माना गया। रात्रि के समय वटवृक्ष की छाल का रस निचोड़कर स्त्री की नाक में दायें छिद्र में डाला जाता था कारण कि इससे गर्भपात की आशंका समाप्त हो जाती थी तथा सभी विघ्न-बाधाओं का नाश हो जाता था। इस काल के हिन्दू समाज में पुत्र का बड़ा ही उच्च स्थान था।

(3) सीमन्तोन्नयन संस्कार—

गर्भाधान के चौथे से आठवें माह तक इस संस्कार को सम्पन्न किया जाता था। इसके बारे में ऐसी मान्यता थी कि गर्भवती स्त्री के शरीर को प्रेत्मातायें अनेक प्रकार से बाधा पहुँचाती हैं जिसके निवारण हेतु कुछ धार्मिक कार्य किये जाने चाहिए। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु इस संस्कार का विधान किया गया। इस संस्कार के माध्यम से गर्भवती स्त्री की समृद्धि तथा उसके भ्रूण की दीर्घायु की कामना कर जाती थी। इस संस्कार के सम्पादित होने के दिन स्त्री व्रत रखती थी, पुरुष मातृपूजा करता था तथ उसके द्वारा प्रजापति देवता की आहुति दी जाती थी। इस समय वह अपने साथ कच्चे उदुम्बर फलों का एक गुच्छा तथा सफेद चिन्ह वाले शाही के तीन कांटे रखता था। स्त्री अपने केशों में सुगंधित तेल डालकर यज्ञ मण्डप में प्रवेश करती थी जहां वेद मन्त्रों के उच्चारण के मध्य उसका पति उसके बालों को ऊपर उठाता था तत्पश्चात् गर्भधारित स्त्री के शरीर पर एक लाल चिन्ह बनाया जाता था जिससे भूत-प्रेत आदि भयाक्रांत हो उससे दूर रहे। इस संस्कार के द्वारा स्त्री को सुख और सात्वना प्रदान की जाती थी।

(4) जातकर्म संस्कार—

शिशु के जन्म के समय यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इसे सामान्यतया बच्चे के नार काटने के पूर्व किया जाता था। उसके पिता विधि कर्मों के अनुरूप स्नान करके उसके पास जाता तथा पुत्र को स्पर्श करता व सूंघता था। इस अवसर पर वह उसके कानों आशीर्वादात्मक मन्त्रों का उच्चारण करता था जिसके माध्यम से बच्चे के लिए दीर्घ आयु व बुद्धि की कामना की जाती थी। इस कर्म के तत्पश्चाधत् बच्चे को मधु व घृत चटाया जाता था इसके पश्चात् ही वह प्रथम बार स्तनपान करता था। इस संस्कार की समाप्ति के पश्चात् ब्राह्मणों को उपहार तथा भिक्षुओं को भिक्षा वितरित की जाती थी।

(5) नामकरण संस्कार—

बच्चे के जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन पश्चात् यह संस्कार कार्यान्वित होता था जिसमें उसका नाम रखा जाता था। प्राचीन हिन्दू समाज में इस संस्कार का अन्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। वृहस्पति के अनुसार 'नाम ही मानव के लोक व्यवहार का प्रथम साधन है जो गुण एवं भाग्य का आधार है तथा इसी से मानव यश प्राप्त करता है।' प्राचीन शास्त्रों में इस संस्कार का विस्तृत विवरण देखने को मिलता है। इस संस्कार के लिए निश्चित शुभ तिथि, नक्षत्र एवं मूहूर्त का चयन किया जाता था। इस समय यह ध्यान रखा जाता था कि बच्चे का नाम परिवार, समुदाय एवं वर्ण का बोधक हो। नक्षत्र, माह तथा कुल देवता के नाम पर अथवा व्यावहारिक नाम भी बच्चे को प्रदान किये जाते थे जिनमें कन्या का नाम मनोहर, मंगल सूचक, स्पष्ट अर्थ वाला तथा अन्त में दीर्घ अक्षर को रखे जाने का विधान था। मनु के अनुसार 'बच्चे का नाम उसके वर्ण का बोधक होना चाहिए।' उनके अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक तथा शूद्र का निन्दासूचक होना चाहिए। विष्णु पुराण में यह उल्लिखित है कि ब्राह्मण अपने नाम के अन्त में शर्मा, क्षत्रिय वर्मा, वैश्य गुप्त तथा शुद्र दास लिखें।

इस संस्कार के पूर्व घर को धोकर पवित्र किया जाता था तथा साथ ही साथ माता व शिशु को स्नान कराया जाता था। उसके बाद माता बच्चे का सिर जल से भिगोकर तथा साफ कपड़े से उसे ढ़ककर उसके पिता को देती थी पुनः प्रजापति,नक्षत्र देवताओं, अग्नि, सोम आदि की बलि दी जाती थी। पिता बच्चे की श्वास का स्पर्श करता था तथा पुनः उसका नामकरण किया जाता था। इस संस्कार के अन्त में ब्राह्मण आदि को भोज दिया जाता था।

(6) निष्क्रमण संस्कार—

यह संस्कार बच्चे के जन्म के तीसरे सप्ताह सम्पन्न किया जाता था जिसमें उसे सर्वप्रथम घर से निकाला जाता था। इस संस्कार को माता व पिता सम्पन्न करते थे। उस दिन घर के आंगन में एक चौकोर भाग को गोबर व मिट्टी के साथ लीपा जाता था तथा उस पर स्वास्तिक चिन्ह बनाकर उस जगह धान को छींटा जाता था। बच्चे को स्नान कराने के बाद उसे नये परिधानों में सजाकर यज्ञ के सामने करके वेदमन्त्रों का पाठ किया जाता था। पुनः माँ बच्चे को लेकर बाहर निकलती थी तथा उसे सर्वप्रथम सूर्य का दर्शन कराया जाता था। इसी के बाद उसका सदा के लिए घर के बाहरी वातावरण से सम्पर्क हो जाता था।

(7) अन्नप्राशन संस्कार—

यह संस्कार बच्चे के जन्म के छठे माह में सम्पन्न कराया जाता था जिसमें उसे सर्वप्रथम पका हुआ अन्न खिलाया जाता था। इसके अन्तर्गत दूध, दही, घी व पके हुए चावल खिलाने का विधान था। गृहसूत्रों में इस संस्कार के समय विभिन्न पक्षियों का माँ व मछली खिलाने का भी उल्लेख मिलता है। उसकी (बच्चे की) वाणी में प्रवाह लाने हेतु भारद्वाज पक्षी का मांस तथा उसमें कोमलता लाने हेतु मछली खिलायी जाती थी। इसका उद्देश्य बच्चे को शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से स्वस्थ बनाना था। कालान्तर में दूध व चावल खिलाने का विधान प्रचलित हो गया।

(8) चूड़ाकर्म संस्कार—

अन्नप्राशन के पश्चात् का यह महत्वपूर्ण संस्कार जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम बालक के सिर के बाल काटे जाते थे। गृहसूत्रों के अनुसार जन्म के प्रथम वर्ष की समाप्ति के पूर्व इस संस्कार के सम्पन्न किए जाने वाले तथ्य उल्लिखित हैं। आश्वलायन का मत हैं कि यह संस्कार तीसरे या पांचवें वर्ष में होना प्रशंसनीय हैं किन्तु इसे सातवे वर्ष अथवा उपनयन के समय भी किया जा सकता हैं-

तृतीय पंचमे वाऽब्दे चौलकर्म प्रशस्यते।
प्रागवासमें सप्रमे वा सहोपनयेन वा।।

कुछ विद्वानों के अनुसार इसे कुल व धर्म के रीति-रिवाज के अनुसार किये जाने की बात भी कही गयी है। ध्यातव्य है कि पहले यह संस्कार घर में ही होता था परन्तु बाद में इसे किसी मन्दिर के देवता के समक्ष किया जाने लगा। इसके हेतु एक शुभ दिन व मुहूर्त निश्चित किया जाता था। प्रारंभ में संकल्प, गणेशपूजा, मंगल श्राद्ध आदि को सम्पन्न किया जाता था तथा ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। तत्पश्चा।त् मां बच्चे को स्नान कराकर नये वस्त्रों से सुसज्जित कर यज्ञीय अग्नि के पश्चिम की ओर बैठती थी। इसके बाद पूजा-अर्चना के मध्य बच्चे के बाल काटे जाते थे। इन कटे हुए बालों को गाय के गोबर में छिपा दिया जाता था। पुनः बालक के सिर पर मक्खन अथवा दही का लेप किया जाता था। ध्यातव्य हैं कि बालों को गोबर में छिपाने के पीछे यह मान्यता थी कि वे शरीर के अंग हैं, अतः उन पर शत्रुओं व जादू-टोनों रका प्रभाव न दिखे। यही कारण था कि उन्हें छिपाकर सबकी पहुँच से बाहर रखा जाता था। इस संस्कार के पीछे यह धारणा थी कि बच्चे को स्वच्छता व सफाई का ज्ञान कराया जा सके जो उसके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

(9) कर्णवेध संस्कार

इस संस्कार के अन्तर्गत बालक का कान छेदकर उसमें बाली अथवा कुण्डल पहना दिया जाता था। सुश्रुत ने इसका उद्देश्य रक्षा तथा अलंकरण बताया है -

रक्षाभूषणनिमित्त बालस्य कर्णौं विध्येत्।

इस संस्कार के समय के बारे में विभिन्न मत हैं। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इसमें जन्म के दिन से लेकर पांचवे वर्ष तक की अवधि व्यक्त की गई है। कर्णवेधन हेतु स्वर्ण, रजत तथा अयस् (लोहा) की सुईयों का प्रयोग सामर्थ्य के अनुरूप किया जाता था। ध्यातव्य है कि विभिन्न प्रकार की सुईयों का प्रयोग विभिन्न वर्ण के बालकों के लिए होता था। इसी कारण क्षत्रिय बालक का कर्णवेध स्वर्ण की सुई से, ब्राह्मण तथा वैश्य का रजत की सुई से तथा शूद्र का लोहे की सूई से किये जाने का नियम था-

सौवर्णौं राजपूत्रस्य राजतो विप्रवैश्यायोः।

शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टांगुलात्मिका॥

यह कार्य धार्मिक रीति से सम्पन्न होता था। इस दरम्यान बच्चे को पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठाया जाता था तथा उसे मिठाई खाने के लिए दी जाती थी। उसके बाद वैदिक मन्त्रों के मध्य पहले दायें व फिर बायें कान को छेदा जाता था। ध्यातव्य है कि यह एक अनिवार्य संस्कार था जिसे न करना पाप समझा जाता था। देवल के मतानुसार जिस ब्राह्मण का कर्णवेध न हुआ हो उसे दक्षिणा नहीं देने की बात कही गई है। इसके विपरीत जो बिना कर्णवेध वाले ब्राह्मण को दक्षिणा देता हैं तो वह राक्षस या असुर श्रेणी में आता है। इस संस्कार का उद्देश्य् बच्चे को भविष्य में स्वस्थ रखने हेतु किया गया। सुश्रुत के मतानुसार इस संस्कार के होने के बाद बच्चे को अण्डाकोष वृद्धि व आन्त्रवृद्धि आदि रोगों से छुटकरा मिल जाता है।

(10) विद्यारम्भ संस्कार—

यह संस्कार तब सम्पन्न कराया जाता थ जब बच्चे का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने हेतु उपयुक्त समझा जाता था। इसके अन्तर्गत उसे अक्षरों का बोध कराया जाता था। इसी कारण कुछ विद्वान इसे अक्षरारम्भ संस्कार भी कहते हैं। इसका समय जन्म के पांचवें वर्ष अथवा उपनयन संस्कार के पूर्व बताया गया है।यह संस्कार एक शुभ दिन व शुभ मूहूर्त में संपन्न किया जाता था। इस दिन बच्चे का स्नान कराकर उसे सुगन्धित द्रव्यों व परिधानों से सुसज्जित कराया जाता था। सर्वप्रथम गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी व कुल देवों की पूजा की जाती थी। उसके बाद शिक्षक पूर्व दिशा की ओर बैठकर पट्टी पर उस बच्चे से ''ओम्, स्वस्ति, नमः सिद्धाय'' आदि शब्द लिखवाकर इस कार्य को आरम्भ करता था। इस समय बालक गुरु की पूजा करता था तथा वह अपने लिखे हुए शब्दों को तीन बार पढ़ता था। तत्पश्चात् वह बालक अपने गुरु को वस्त्र व आभूषण प्रदान करता था तथा उपयुक्त देवताओं की तीन बार परिक्रमा करता था। इस संस्कार में उपस्थित ब्राह्मण उस बच्चे को आशीर्वाद देते थे। इस संस्कार की समाप्ति के उपरान्त गुरु को पगड़ी भेट की जाती थी। इस संस्कार का सम्बन्ध निःसन्देह बालक की बुद्धि एवं ज्ञान से था।

(11) उपनयन संस्कार—

उपनयन का शाब्दिक अर्थ हैं समीप ले जाना। इससे अभिप्राय बालक को शिक्षा के लिए गुरु के पास ले जाने से हैं। इस संस्कार की प्राचीनता प्रागैतिहासिक काल तक स्पष्ट दिखती है जो वैदिक युग में प्रचलित संस्कार की श्रेणी में आ गया। ऋग्वेद में दो स्थलों पर ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख धार्मिक विद्यार्थी के जीवन के अर्थ में किया गया है। अथर्ववेद में सूर्य का वर्णन ब्राह्मण विद्यार्थी के रूप में अपने आचार्य के पास समिध तथा भिक्षा के साथ जाते हुए किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक नामक विद्यार्थी का उल्लेख है जो अपने गुरु के पास शिक्षा हेतु गया तथा उनसे अपने को ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार किये जाने की प्रार्थना की। सूत्र तथा स्मृति साहित्य में भी इस संस्कार की विस्तार रूप से चर्चा

की गई हैं। प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में इसके लिए विद्यार्थी की आयु गणना की गई है। इस समय ब्राह्मण परिवार में बालक प्रायः अपने परिवार में ही शिक्षा प्रारंभ करते थे जबकि अन्य वर्ण के बालकों को इस हेतु गृहत्याग करना पड़ता था। अतः जब वे अपने-माता पिता से अलग रहने योग्य हो जाते थे तभी उनके लिए यह संस्कार संपन्न कराया जाता था।

इस संस्कार का उद्देश्य मुख्य रूप से शैक्षणिक था। याज्ञवल्क्य के मतानुसार इसका मुख्य ध्येय वेदों का अध्ययन करना हैं। उनके अनुसार आचार्य को दीक्षित शिष्य को वेद व आचार की निश्चित रूप से शिक्षा दी जानी चाहिए।

(12) वेदारम्भ संस्कार—

इस संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख व्यास स्मृति में किया गया हैं। प्रारंभ में उपनयन तथा वेदों का अध्ययन प्रायः एक ही समय शुरू होता था। ध्यातव्य है कि वेदों का अध्ययन गायन्त्री मन्त्र के साथ शुरू किया जाता था। कालान्तर में वेदों के अध्ययन की गति धीमी पड़ गयी तथा संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रही। अब उपनयन एक शारीरिक संस्कार हो गया जिसके साथ बालक वेदाध्ययन के स्थान पर अपनी भाषा में शिक्षा ग्रहण करने लगा। अतः समाजशास्त्रियों ने वेदों के अध्ययन की परम्परा बनाये रखने के उद्देश्य से इसे एक नवीन संस्कार का रूप दिया तथा उपनयन संस्कार को इससे अलग कर दिया। यह पूर्ण रूपेण एक शैक्षणिक संस्कार था जिसका प्रारम्भ बालक के वेदाध्ययन से होता था।

इस संस्कार की शुरूआत मातृपूजा से की जाती थी। इसके पश्चाकत् आचार्य अग्नि प्रज्वलित करके विद्यार्थी को उसके पश्चिम में आसीन करता था। यदि ऋग्वेद का अध्ययन शुरू करना होता था तो पृथ्वी तथा अग्नि को आहुतियां दी जाती थी। यजुर्वेद के अध्ययन में अन्तरिक्ष तथा वायु, सामवेद के अध्ययन में द्यौस व सूर्य की तथा अथर्ववेद के अध्ययन के समय दिशाओं एवं चन्द्रमा की आहुतियां दी जाती थी। यदि सभी वेदों का अध्ययन करना होता था तो सभी देवताओं की आहुतियां दिये जाने का निश्चित विधान था। अन्त में स्थान्नापन्न पुरोहित को दक्षिणा देने के पश्चात् ही आचार्य विद्यार्थी को वेद पढ़ाना शुरू करता था। मनुस्मृति में यह लिखित है कि वेदाध्ययन के शुरू व अन्त में विद्यार्थी को 'ऊँ' शब्द का उच्चारण अवश्य करना चाहिए, कारण कि प्रारम्भ में उच्चारण न होने से अध्ययन नष्ट हो जाता है जबकि अन्त में उच्चारण न करने से यह ठहरता नहीं हैं।

(13) केशान्त अथवा गोदान संस्कार—

इस संस्कार के अन्तर्गत गुरु के पास रहते हुए विद्यार्थी को 16 वर्ष की आयु में दाढ़ी-मूंछ बनवायी जाती थी। इस अवसर पर गुरु को एक गाय दक्षिणास्वरूप दी जाती थी। इसी कारण इसे गोदान संस्कार भी कहा जाता था। इस संस्कार के माध्यम से विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य जीवन के व्रतों को पुनः एक बार संस्मरण कराया जाता था जिसे पालन करने का वह संकल्प लेता था।

इस संस्कार की विधि चूड़ाकर्म संस्कार के समरूप ही थी। वैदिक मन्त्रों के मध्य नाई विद्यार्थी को दाढ़ी-मूंछ काटता था। ध्यातव्य हैं कि इन बालों को पानी में बहा दिया जाता था। पुनः विद्यार्थी गुरु को एक गाय दक्षिणा में देता था। अन्त में वह मौन व्रत धारण करता था तथा एक वर्ष कठोर अनुशासन का जीवन बिताता था।

(14) समावर्तन संस्कार—

गुरुकुल में शिक्षा प्राप्ति के बाद वह विद्यार्थी जब अपने घर वापस आता थ तब ही यह संस्कार कराया जाता था। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ होता है ''गुरु के आश्रम से अपने घर वापस जाना।'' इसे स्नान भी कहा जाता है क्योकि इस अवसर पर यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता था। इसी के पश्चात् विद्यार्थी को स्नातक की उपाधि से विभूषित किया जाता था। इस संस्कार हेतु कोई आयु

निर्धारित नहीं थी। सामान्यतया इसका सम्पादन विद्यार्थी के अध्ययन की पूर्ण समाप्ति के बाद होता था। कालान्तर में यह संस्कार शिथिल पड़ गया।

ध्यातव्य है कि यह संस्कार अन्य संस्कारों की तरह ही किसी शुभ दिन को सम्पन्न किया जाता था। इस दिन विद्यार्थी प्रातःकाल एक कमरे में बन्द रहता था। यह सूर्य को ब्रह्मचारी के तेज से अवमानित होने से रक्षार्थ किया जाता था कारण कि उस समय ऐसी धारणा थी कि सूर्य ब्रह्मचारी के तेज से ही प्रकाशित होता है। इसी दिन मध्यान्ह में विद्यार्थी कमरे से बाहर निकलकर सर्वप्रथम गुरु के चरण छूता था तथा वैदिक अग्नि में समिधा डालकर उसके प्रति अपनी अन्तिम श्रद्धांजलि प्रदर्शित करता था। इसके लिए वहां आठ जलपूर्ण कलश रखे जाते थे जो इस बात की सूचना देते थे कि विद्यार्थी को पृथ्वी की सभी दिशाओं से प्रशंसा तथा आदर प्राप्त है। इसके बाद वह ब्रह्मचारी उन कलशों के जल से स्नान करता था तथ देवताओं से प्रार्थना करता था। इस स्नान के बाद वह दण्ड, मेखला, मृगचर्म आदि का त्याग कर नया कौपीन पहनता था। ध्यातव्य हैं कि दाढ़ी-बाल, नाखुन आदि कटवाकर वह पवित्र हो जाता था। इसके उपरान्त शरीर पर सुगन्धित लेप के साथ-साथ नये परिधान आभूषण दिये जाते थे। जीवन में रक्षा हेतु उसे बांस का एक डण्डा दया जाता था। अन्तोगत्वा यह विद्यार्थी (स्नातक) आचार्य का आशीर्वचन प्राप्त कर उसकी आज्ञा से अपने घर के लिए प्रस्थान करता था। ध्यातव्य हैं कि कभी-कभी गुरु विद्यार्थी की भक्ति एवं सेवा से प्रसन्न होकर उसे ही अपनी दक्षिणा मान लेता था।

(15) विवाह संस्कार—

यह प्राचीन हिन्दू समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार हैं जिसकी महत्ता आज भी विद्यमान है। ध्यातव्य है कि प्राचीन काल मे गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ इसी संस्कार से होता था। 'विवाह' शब्द 'वि' उपसर्ग और -'वह' धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ 'वधू को वर के घर ले जाना या पहुँचाना होता हैं', किन्तु अति प्राचीन काल से यह शब्द सम्पूर्ण संस्कार को परिलक्षित करता है। इस संस्कार का उद्देश्य पति व पत्नी के सहयोग से विविध पुरुषार्थो को पूरा करना था। हिन्दू मत के अनुसार अकेला मानव एकांगी माना गया है तथा उसे पूर्णता तभी मिलती है जब उसे पत्नी का सान्निध्य मिले। उक्त तथ्य नीचे दी गयी पंक्ति से निश्चित रूप से स्पष्ट है- **अयो अर्द्धो वा एव आत्मनः यत्पत्नीः।** ध्यातव्य है कि जब मानव समाज में तीन प्रकार के ऋणों की स्थिति कायम की गई तब इस संस्कार को और अधिक बल मिला क्योंकि इसके बिना मानव पितृऋण से मुक्त नहीं हो सकता था। इसके जरिए मानव अपना एवं अपने समाज का सम्यक् विकास करता है। इस प्रकार यह एक अनिवार्य संस्कार बना जिसे सम्पन्न करना प्रत्येक मानव हेतु धार्मिक एवं सामाजिक बाध्यता थी जिसे सभी वर्णों हेतु किया जाना आवश्यक माना गया। याज्ञवल्क्य के मतानुसार इसे नहीं करने वाला मानव (किसी भी वर्ण का) कर्म के योग्य नहीं माना गया। ध्यातव्य हैं कि स्मृति ग्रन्थों में इसके आठ प्रकारों यथा ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस व पैशाच। इनमें प्रथम चार को प्रशस्त व अन्तिम चार को अप्रशस्त नामक संज्ञा से नामित किया गया।

विवाह के प्रकारों की विवेचना—

ब्राह्म विवाह - यह विवाह का सर्वोतम प्रकार था जिसमें पिता सावधानीपूर्वक गुणवान व शीलवान वर चयन कर उसे अपने घर बुलाता था तथा उसकी पूजा कर वस्त्र व आभूषणों से सुसज्जित कन्या को उसे उसके हाथ में देता था। जो नीचे दी गयी उक्ति से निश्चित रूप से स्पष्ट है —

आच्छाद्य चार्चयित्वाः च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय कन्यायाः ब्राह्मो धर्म प्रकीर्तितः।।

इस अवसर पर कन्या का पिता उसे उपहार भी देता था। ध्यातव्य है कि इस समय के कुल, आचरण, विद्या, स्वास्थ्य एवं उसकी धर्मनिष्ठा पर भी ध्यान दिया जाता था। स्मृति में यह उक्ति स्पष्ट हैं के यह विवाह कन्या के वयस्क हो जाने पर ही किया जाता था। इस समय कन्या के पिता द्वारा उपहार देने हेतु कोई बाध्यता नहीं थी। ध्यातव्य है कि यह विवाह किसी दबाव में सम्पन्न होता था जिसकी प्रशंसा स्मृति ग्रन्थों में अवश्य ही सुनने को मिलती हैं। यही विवाह आज भी हमारे देश मं प्रचलित है।

दैव विवाह - इस विवाह के अन्तर्गत कन्या का पिता वर को कन्या देने के बदले में एक जोड़ी गाय व बैल प्राप्त करता है ताकि वह याज्ञिक क्रियाएं समाप्त कर सके। ध्यातव्य है कि हिन्दू विद्वान इसे कन्या मूल्य नहीं मानते जबकि अल्टेयर महोदय ने वर को गाय व बैल दिये जाने की स्थिति को कन्या मूल्य मानते हुए इसे आसुर विवाह का परिष्कृत रूप बताया है। यह विवाह मुख्यतः पुरोहित परिवार में ही प्रचलित था। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का मत है कि ''यह उपहार धर्म के अनुसार स्वीकार किया जाता था, न कि इसके पीछे कन्या की बिक्री कर कोई इरादा था।

प्राजापत्य विवाह- इस विवाह के अन्तर्गत कन्या का पिता वर को अपनी कन्या प्रदान हुए यह आदेश देता था कि वे दोनों साथ-साथ मिलकर सामाजिक व धार्मिक कर्तव्यों का निर्वहन करें। कन्या का पिता इसके लिए वर से एक वचनबद्धता प्राप्त कर लेता था। आश्वलायन के अनुसार '' यह वह विवाह है जिसमें कन्या वर को ''तुम दोनो साथ-साथ धर्म का पालन करों''- इस आदेश के साथ प्रदान की जाती हैं। इसका अभिप्राय यह था कि दोनों जीवन भर साथ रहें, उनका सम्बन्ध विच्छेद न हो तथा वे एक साथ मिलकर परिवार एवं समाज की उन्नति कर करें । ध्यातव्य हैं कि स्वरूप की दृष्टि से यह विवाह ब्रह्म के समान हैं।

आसुर विवाह - इस विवाह के अन्तर्गत कन्या के पिता अथवा उसके सम्बन्धी धन लेकर कन्या का विवाह करते थे। यह एक तरह से कन्या की बिक्री का माध्यम था। मनुस्मृति में इसके बारे में कहा गया है कि ''जहां वर कन्या के सम्बन्धियों को अथवा स्वयं कन्या को धन देकर स्वेच्छा से उसे ग्रहण करता हैं, वह आसुर विवाह होता है'' जो निम्न तथ्यों से स्पष्ट होता है- **ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।**

कन्या प्रदानं स्वाच्छान्धादासुरोधर्म उच्यते ।।

इस प्रकार इसके अन्तर्गत मुख्य ध्यान धन पर ही दिया जाता था। मनु के अनुसार, ''कन्या के विद्वान पिता को अत्यल्प धन भी नहीं ग्रहण करना चाहिए। यदि वह अपने लोभवश धन लेता या लेने का प्रयास करता है तो वह सन्तान विक्रेता की श्रेणी में आता हैं,'' जो निम्न तथ्य से भी स्पष्ट है -

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृहणीयाच्छुल्काण्वपि।
गृहणान्हि शुल्कं लोभेन स्यान्नरोऽपत्य विक्रयी ।।
क्रीता द्रव्येण या नारी न सा पत्नी विधीयते।
न सा दैवेन सा पित्र्ये दासीं ता कवयोः विदुः।।

आपस्तम्ब के मतानुसार शूद्र को भी कन्या मूल्य स्वीकार नहीं करना चाहिए जबकि बौधायन ने यहाँ तक कहा हैं कि धन से खरीदी गई कन्या पत्नी का पद प्राप्त नहीं कर सकती तथा वह देवताओं तथा पितरों की पूजा में भाग लेने की अधिकारिणी नहीं है। इस प्रकार ऐसी कन्या एक दासी के समरूप है। वैदिक धर्म-शास्त्रों के अनुसार जो व्यक्ति धन की खातिर कन्यादान करते है, वे अपनी ही बिक्री करते है। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति संसार में नीच पापी की श्रेणी में आते हैं तथा वे नर्क को जाते हैं तथा वे सात पीढ़ियों के पुण्य को नष्ट कर देते हैं।

राक्षस विवाह - इसके अन्तर्गत कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर उसके साथ विवाह किया जाता था। मनु के अनुसार, ''कन्या पक्ष वालों की हत्या, घायल, उसके घरों का नाश तथा रोती-बिलखती कन्या को बलपूर्वक उठाकर उसके साथ विवाह करना ही इस विवाह का अभिप्राय था,'' जो नीचे दिए गए तथ्य से निश्चित रूप से स्पष्ट है-

हत्वा छित्वा च भित्वाच क्रोशन्नी रुदतो गृहात्।
प्रसह्य कन्यांहरणं राक्षसो विधिउच्यते॥

वस्तुतः इसमें निहित क्रूरता के कारण ही इस विवाह को राक्षस विवाह की संज्ञा दी गई है। ध्यातव्य है कि इस विवाह की प्राचीनता प्रागैतिहासिक काल तक जाती है यह विवाह प्राचीन कालीन युद्धकर्मी जातियों में विशेष प्रचलित था। महाभारत में इसे क्षात्र धर्म की संज्ञा दी गई है। मनु क्षत्रियों के लिए इसे प्रशंसनीय मानते हैं। ध्यातव्य हैं कि महाभारत के नायक भीष्म ने भी इसे क्षत्रियों के लिए प्रशस्त बताया है।

गान्धर्व विवाह— इस विवाह के अन्तर्गत वर-कन्या एक-दूसरे के गुणों पर विभोर होकर अपने माता-पिता की इच्छा के विपरीत विवाह के बन्धन में बंध जाते थे, जो एक प्रणय विवाह था। मनु के शब्दों में, ''जहां वर व कन्या एक स्वेच्छा से परस्पर मिलकर कामवश आपस में मैथुन सम्बन्ध स्थापित कर लें तो वही कार्यप्रणाली इस विवाह की श्रेणी में आती है।'' चूंकि इस विवाह का प्रचलन केवल गन्धर्व जाति में था इसी कारण इसे गान्धर्व विवाह कहा गया। ध्यातव्य है कि इस विवाह का प्रचलन प्रत्येक युग में था जो हमारे देश की राजपूत जातियों में सर्वाधिक प्रचलित था। वात्स्यायन तथा महाभारत में भी इस विवाह का सर्वोतम बताया गया है जबकि कुछ स्मृतिकारों द्वारा धार्मिक तथा नैतिक आधार पर इस विवाह का विरोध किया गया है।

पैशाच विवाह— इसके अन्तर्गत वर छलछद्म के द्वारा कन्या के शरीर पर अपना अधिकार कर लेता था, जो सबसे निकृष्टतम विवाह है। मनु के मतानुसार अचेत, सोई हुई, पागल अथवा मदमत्त कन्या के साथ जब व्यक्ति सम्भोग करता है तब वह विवाह इसकी श्रेणी में आता है यह नीचे दिए गए तथ्य से भी स्पष्ट है-

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
सः पापिष्ठो विवाहानां पैशाचष्टिमोऽधमः॥

याज्ञवल्क्य द्वारा छल से कन्या के साथ किये जाने वाले विवाह को इस (पैशाच) की संज्ञा दी गई है। सभी हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा इसे नितान्त असभ्य एवं बर्बरता की श्रेणी में रखा गया है जिसका प्रचलन शायद आदिम जंगली जनजातियों में रहा होगा।

विवाहों की अन्य स्थितियाँ—

सवर्ण तथा अन्तर्वर्ण विवाह- प्राचीन हिन्दू समाज में इन दोनों विवाहों का भी प्रचलन था। हिन्दू शास्त्रकारों की मान्यता हैं कि व्यक्ति को अपने ही वर्ण एवं जाति में विवाह करना चाहिए। इससे लौकिक यश की प्राप्ति होती है तथा अच्छी सन्तान उत्पन्न होती है। समान गौत्र प्रवर तथा पिण्ड में विवाह करना वर्जित था। इस समय गोत्र का मूल अर्थ गोशाला था जो बाद में वंशका बोध कराने लगा। ध्यातव्य है कि किसी परिवार के गोत्र का नामकरण उसके आदि संस्थापक ऋषि के नाम पर रखा जाता है।

प्रवर का शाब्दिक अर्थ आह्वान तथा प्रार्थना है। यज्ञ कराते समय पुरोहित अपने श्रेष्ठ ऋषि पूर्वजों का उच्चारण करता था। कालान्तर में यह व्यक्ति के ऋषि पूर्वजों के नाम से सम्बद्ध हो गया। ध्यातव्य है कि ये ऋषि गोत्र संस्थापक ऋषियों के भी पूर्वज होते थे। यज्ञादि धार्मिक कार्यों के अवसर पर उनके नाम का उच्चारण आवश्यक माना जाता था। आपस्तम्ब के मतानुसार प्रत्येक गोत्र में तीन प्रकार के प्रवर ऋषि होते थे।

पिण्ड का शाब्दिक अर्थ 'शरीर' है। अतः सपिण्ड विवाह से तात्पर्य उन दो व्यक्तियों के विवाह से है जिनमें समान शरीर का रक्त विद्यमान हो। ध्यातव्य है कि हिन्दू शास्त्रकारों ने पिता पक्ष में सात तथा माता पक्ष में पंच पीढ़ियों तक के सपिण्ड सम्बन्ध को निषिद्ध माना है।

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह

प्राचीन हिन्दू समाज में इन दोनों विवाहों का भी प्रचलन था। अनुलोम विवाह के अन्तर्गत उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने से ठीक नीचे के वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता था। वैदिक समाज में इस तरह के विवाह प्रायः हुआ करते थे, कारण कि उस समय वर्ण व्यवस्था के बन्धन कठोर नहीं थे। इस समय अनेक ब्राह्मण ऋषियों के विवाह क्षत्रिय कन्याओं के साथ हुए थे। इसी क्रम में च्यवन ने सुकन्या, श्यावत्स, ने रथवीति, अगत्स्य ने लोपामुद्रा आदि क्षत्रिय कन्याओं के साथ अपने-अपने विवाह किये थे। इस काल में ब्राह्मणों को सभी वर्गों की कन्याओं से विवाह करने का अधिकार था। याज्ञवल्क्य के मतानुसार अनुलोम विवाह द्वारा ब्राह्मण तीन, क्षत्रिय, दो तथा वैश्य मात्र एक वर्ण की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता था। ऐतिहासिक काल से भी इस प्रकार के विवाहाके के दृष्टान्त मिलते है। शुंग शासक अग्निमित्र की पत्नी मालविका तथा राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी एक क्षत्रिय कन्या थी। इस प्रकार के कई उदाहरण राजतरंगिणी तथा कथासरित्सागर में भी मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व मध्य युग तक इस प्रकार विवाह समाज में प्रचलित तथा वैध थे। स्मृतिग्रन्थ, मिताक्षरा तथा दायभाग भी इसकी वैधता को स्वीकार करते हैं किन्तु बाद की स्मृतियों में इसकी चर्चा नहीं की गई हैं। मनु ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि इस प्रकार के विवाह से समाज में वर्णसंकरता उत्पन्न होती हैं।

प्रतिलोम विवाह के अन्तर्गत उच्च वर्ग की कन्या का विवाह निम्न वर्ग के व्यक्ति के साथ होता था। समाज में इस प्रकार के विवाह को निन्दनीय माना गया है जिसका समाज में बहुत कम प्रचलन था। इस विवाह से उत्पन्न सन्तान को निकृष्ट एवं अस्पृश्य बताया गया हैं। मनु ने ब्राह्मणों से उत्पन्न क्षत्रिय पुत्र को सुत, क्षत्रिय से उत्पन्न वैश्य पुत्र को मागध तथा ब्राह्मणी से उत्पन्न वैश्य पुत्र को मागध कहा है जिसे अति दूषित एवं घृणित बताया गया है जो नीचे दिए गए तथ्यों से भी स्पष्ट हैं-

ते चापि बाह्यान्सुबहूँस्ततोऽस्यधिकदूषितान्।
परस्परस्य दारषु जनयन्ति विग्रहितान्।।

बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्व विवाह—

हिन्दू जीवन पद्धिति में मुख्यतया एक विवाह को ही आदर्श माना गया है जिसके अन्तर्गत स्त्री के लिए एक ही पति और पुरुष के लिए एक ही पत्नी का विधान किया गया है। आपस्तम्ब के मतानुसार धर्म तथा प्रजा से सम्पन्न पत्नी के रहते हुए पुरुष को अपना दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। नारद ने अनुकूल, मधुर, भाषी, गृहकार्य में दक्ष, पवित्रता एवं सन्तान वाली पत्नी को छोड़कर दूसरी पत्नी से विवाह करने वाले पुरुष के लिए राजा द्वारा कठोर दण्ड दिये जाने वाले सिद्धान्त को निर्मित किया है जो नीचे दिए गए तथ्य से स्पष्ट है-

अुकूलामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वौ प्रजावतीम्।
त्यजन्भार्यामवस्थाप्यो राजा दण्डेन भूयसा।।

ध्यातव्य हैं कि उपरोक्त सिद्धान्त के बावजूद इस समय बहुपतित्व की प्रथा थी जिसे हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा विविध परिस्थितियों में ही अनुमति दी जाती हैं। मनु द्वारा पुरूष को दूसरा विवाह करने के लिए निम्न शर्तें निर्धारित की गई हैं- (1) यदि पत्नी बन्ध्या हो, (2) यदि उसके बच्चे जीवित नहीं रहते हो, (3) यदि उससे केवल कन्याएं ही उत्पन्न हों तथा (4) यदि वह झगड़ालू हो। ध्यातव्य है कि कौटिल्य ने भी पुत्रहीन पति को दूसरी पत्नी रखने की अनुमति दी है। याज्ञवल्क्य का मत हैं कि '' रागिणी, बन्ध्या, मदिरा सेवी,

अपव्ययी, प्रिय वचन न बोलने वाली तथा पति डाह रखने वाली पत्नी के रहते के रहते हुए भी पुरुष उसको छोड़कर दूसरा विवाह कर सकता हैं,'' जो नीचे दिए गए तथ्य से भी स्पष्ट है-

सुरापी व्याधिता धूर्ता बन्ध्यार्यहन्य प्रियदम्बा।

स्त्री प्रसूष्चाधिवेतव्या पुरुषद्वेषिणी तथा।।

वात्स्यायन बन्ध्या पत्नी को यह राय देते हैं कि वह अपने पति को दूसरी पत्नी रखने हेतु राजी करे। उपरोक्त तथ्य निश्चित ही यह स्पष्ट करता है कि बहुपत्नीत्व की प्रथा का उद्देश्य पुत्र प्राप्ति था। याज्ञवल्क्य के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति पुत्र व पौत्र के माध्यम से ही सम्भव है। अतः तब यदि किसी पुरुष को अपनी पहली पत्नी से पुत्र उत्पन्न न हो तो वह एक से अधिक पत्नियां रख सकता है। इस काल में सामान्यतया राजा, महाराज व कुलीन वर्ग के लोग ही एक से अधिक पत्नियां रखते थे। वैदिक, महाभारत व ऐतिहासिक काल (सभी साम्राज्यों में) के साथ-साथ पूर्व मध्यकाल के राजपूत समाज में भी इस प्रथा का प्रचलन था।

(16) अन्त्येष्टि संस्कार—

यह मानव जीवन का अन्तिम संस्कार है जो मृत्यु के उपरान्त सम्पन्न किया जाता है। इसका उद्देश्य मृतात्मा को स्वर्ग लोक में सुख और शान्ति प्रदान करना है। बौधायन के मतानुसार, ''जन्म के पश्चात् के संस्कारों से व्यक्ति लोक को जीतता है तथा इस संस्कार के पश्चात् व्यक्ति स्वर्ग पर विजय प्राप्त करता हैं ।इस संस्कार की प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। इस काल से ही मानव की यह धारणा है कि मृत्यु के समय शरीर का पूर्ण विनाश नहीं हो पाता, बल्कि उसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में बना रहता है। पाषाणकाल की जातियां अपने मृतकों को आदर के साथ दफनाया करती थीं तथा उसके साथ दैनिक उपयोग की वस्तुएं भी रख दी जाती थीं। कालान्तर में हिन्दू धर्म में आत्मा की अमरता का सिद्धान्त लागू किया गया। इस कारण आत्मा की स्वर्ग में शान्ति हेतु यह संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किया जाने लगा।हिन्दू समाज में मृतक शरीर को जलाने, गाड़ने अथवा फेंकने का प्रावधान था। शवदाह के सामान्यतया तेरहवें दिन तेरहवीं की जाती थी जिसके अन्तर्गत पिण्डदान, श्राद्ध कर्म के साथ ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। तत्पश्चात् मृतक का परिवार शुद्ध हो पाता था। ये सभी क्रियाएं वर्तमान समय में भी हिन्दू समाज में विद्यमान हैं।

3.3.2 संस्कारों का नैतिक उद्देश्य—

संस्कारों के द्वारा मानव के जीवन में नैतिक गुणों का समावेश होता था। ध्यातव्य है कि गौतम ने मानव जीवन के कल्याण के लिए 40 संस्कारों के साथ-साथ 8 गुणों का भी उल्लेख किया है तथा उन्होंने इसके बारे में कहा है कि इन संस्कारों के साथ-साथ गुणों का आचरण करने वाला व्यक्ति ही ब्रह्म को प्राप्त करता हैं। ये हैं- दया, सहिष्णुता, ईर्ष्या न करना, शुद्धता, शान्ति, सदाचरण तथा लोभ एवं लिप्सा का त्याग। इस कालावधि में प्रत्येक संस्कार के साथ-साथ कोई ना कोई नैतिक आचरण अवश्य सम्मिलित रहता था।

3.3.3 व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कारों का योगदान—

संस्कारों के माध्यम से ही प्राचीन काल में मानव के व्यक्तित्व का निर्माण होता था। जीवन के प्रत्येक चरण में ये मार्गदर्शन का काम करते थे। इस समय इनकी व्यवस्था इस प्रकार की गई थी कि वे मानव जीवन के प्रारंभ से ही मानव के चरित्र एवं आचरण पर अनुकूल प्रभाव डाल सकें। उपनयन संस्कार का उद्देश्य मानव को शिक्षित एवं सभ्य बनाना था जबकि विवाह संस्कार के माध्यम से वह पूर्ण गृहस्थ बन जाता था तथा देश व समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करता था।

हिन्दू विचारकों ने इन संस्कारों को व्यक्ति के लिए अनिवार्य बना कर उसके सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त किया था।

आध्यात्मिक विचारों की सम्पुष्टि—

ये संस्कार मानव की भौतिक प्रगति के साथ-साथ आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करते थे। ध्यातव्य है कि प्राचीन काल में सभी संस्कारों के साथ धार्मिक क्रियाएं संलग्न रहती थी। इन्हीं धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करके मानव भौतिक सुख के साथ आध्यात्मिक सुख भी प्राप्त करने की कामना रखता था उसे यह अनुभूति होती थी कि जीवन की समस्त क्रियाएं आध्यात्मिक सत्यता की प्राप्ति हेतु हैं। यदि ऐसा न होता तो इन संस्कारों के अभाव में हिन्दू पूर्णरूपेण भौतिक हो गया होता। प्राचीन कालीन हिन्दूओं का विश्वास था कि संस्कारों के विधिवत् पालन से ही वे भौतिक बाधाओं से छुटकारा पा सकते हैं। इस प्रकार ये संस्कार मानव के भौतिक व आध्यात्मिक जीवन के मध्य मध्यस्थता का कार्य करते थे जो कि हिन्दू जीवन पद्धति के अभिन्न अंग थे।

बोध प्रश्न—1

अभ्यास प्रश्न -1

1. संस्कार मुख्यतः कितने माने गये है ?

अ. 40 ब. 48

स. 16 द. 32

2. गौतम धर्मसूत्र के अनुसार संस्कार है -

अ. 48 ब. 40

स. 16 द. 32

3. मानव जन्म से शूद्र संस्कारों से द्विज विधा से विप्र हो तो तीनों के मिलने से किसकी प्राप्ति होती है

अ. वैदिकता ब. शिक्षितता

स. श्रोत्रियता द. क्षत्रियता

4. गर्भाधान संस्कार होता है -

अ. जन्म के बाद ब. मृत्यु के बाद

स. जन्म से पहले द. यज्ञोपवीत के बाद

5. गर्भाधान संस्कार से तीसरे माह में कौन-सी संस्कार होती है -

अ. जातकर्म संस्कार ब. सीमन्तोन्नयन संस्कार

स. पुंसवन संस्कार द. नामकरण संस्कार

6. विद्यारंभ संस्कार का अन्य नाम है ?

अ. उपनयन संस्कार ब. अक्षरारंभ संस्कार

स. चूड़ाकरण संस्कार द. निष्क्रमण संस्कार

7. गृहस्थाश्रम का प्रारंभ होता है ?

अ. वेदारंभ संस्कार से ब. केशान्त संस्कार से

स. विवाह संस्कार से द. उपनयन संस्कार से

8. मानव जीवन का अन्तिम संस्कार है ?

अ. विवाह संस्कार ब. समावर्तन संस्कार

स. उपनयन संस्कार द. अंत्येष्टि संस्कार

3.4 सारांश

संस्कारों का अत्यधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य आंतरिक शक्तियों का उन्नयन करना है। गर्भाधान संस्कार से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कार इसलिए बनाए गए हैं कि इनसे समाज का हित हो और समस्त प्राणि मात्र योग्य बने। संस्कार का अभिप्राय केवल वाह्य धार्मिक क्रिया-कलापों, अनुष्ठानों, व्यर्थ के आडंबरों, कोरे कर्मकांडों आदि औपचारिकताओं से नहीं हैं। जैसा कि साधारणतया समझा जाता है। संस्कार शब्द का पर्याय वह कृत्य है, जो आंतरिक और आत्मिक सौंदर्य को अभिव्यक्त करता है। इसलिए मीमांसा सूत्र में कहा गया है कि संस्कार वह है जिसके करने से कोई पदार्थ उपयोगितापूर्ण बन जाता है। इसलिए संस्कार प्रमुख ऋणों से उऋण होने के एकमात्र साधन हैं। ऋण शब्द को मीमांसाकारों ने प्रतीकात्मक स्वरूप में लिया हैं यानी मनुष्य मात्र के अलावा प्रत्येक जीव मात्र के प्रति कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए। इस प्रकार संस्कार का आधारभूत उद्देश्य स्वधर्म पालन द्वारा आध्यात्मिकता और मोक्ष की साधना करना है। धर्मशास्त्रों के अनुसार की गई कामना और उसकी पूर्ति और वेद विहित धार्मिक आचरण और क्रिया-कलापों के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति संभव है। अधर्म से की गई इच्छाओं की पूर्ति कभी भी मोक्ष प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता। संस्कार शब्द भले ही प्राचीनकाल से प्रयुक्त हो रहा हो, किंतु आज भी उतना ही प्रासंगिक है। अतः सबके जड़ रूप में संस्कार ही विद्यमान हैं । जिसका अर्थ होता है परिष्कार, शुद्धता अथवा पवित्रता । इस प्रकार हिन्दू व्यवस्था में इन संस्कारों का विधान व्यक्ति के शरीर को पवित्र बनाने के उद्देश्य से किया गया ताकि वह व्यक्तिगत व सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त बन सके । यह वह क्रिया है जिसके सम्पन्न होने पर कोई वस्तु किसी उद्देश्य के योग्य बनती है । इसकी प्रमुख विशेषताओं में शुद्धता, पवित्रता, धार्मिकता एवं आस्तिकता की स्थितियां शामिल हैं । समाज में ऐसी धारणा है कि मनुष्य जन्म से असंस्कृत होता है किन्तु वह इन संस्कारों के माध्यम से सुसंस्कृत हो जाता है अर्थात् इनसे उसमें अन्तर्निहित शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाता है तथा वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है । ये व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं का भी निवारण करते तथा उसकी प्रगति के मार्ग को निष्कंटक बनाते हैं । इसके माध्यम से मानव अपना आध्यात्मिक विकास भी करता है । मनु के अनुसार, यह शरीर को विशुद्ध करके उसे आत्मा का उपयुक्त स्थल बनाता है । इस प्रकार के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति हेतु भारतीय संस्कृति में इनका विधान प्रस्तुत किया गया है ।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- (स) 2- (अ) 3- (स) 4- (स) 5- (स)
6- (ब) 7- (स) 8- (द)

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संस्कृति,चौखम्भा वाराणसी
2. यज्ञ दीपिका,चौखम्भा वाराणसी
3. सामान्य ज्ञान,सम्पादक मण्डल अरिहन्त ,अरिहन्त प्रा.लि. मेरठ
4. मनुस्मृति,महर्षि मनु, चौखम्भा वाराणसी
5. यज्ञ मीमांसा, याज्ञिक सम्राट पं. श्री वेणीराम, चौखम्भा विद्याभवनशर्मा गौड़वाराणसी

6.भारतस्य सांस्कृतिक निधि श्रीरामजी उपाध्याय चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

3.8 उपयोगी पुस्तकें

1. हिन्दू धर्मकोश ,चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
2. वैशेषिक सूत्र , चौखम्भा पब्लिकेशंस वाराणसी
3. भगवत गीता, गीता प्रेस गोरखपुर

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संस्कार के प्रकार लिखते हुए गर्भाधान संस्कार का वर्णन कीजिए।
2. संस्कारों का उद्देश्य समाजशास्त्रियों के मतानुसार लिखिए।
3. विवाह के प्रकारों की विवेचना कीजिए।

इकाई-4 मानव जीवन का उद्देश्य : पुरुषार्थ चतुष्टय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 मानव जीवन का उद्देश्य : पुरुषार्थ चतुष्टय
4.4 सारांश
4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.7 उपयोगी ग्रन्थ
4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने जाना कि संस्कार किसे कहते हैं , इसकी क्या विशेषताएं है तथा संस्कार के विविध पक्ष कौन-कौन से हैं । प्रस्तुत इकाई में आप मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्यों (पंच महायज्ञों एवं पुरुषार्थ चतुष्टय) का अध्ययन करेंगे । भारतीय जन-जीवन में यज्ञों का क्या स्थान हैं, इसे जानने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। भगवत् गीता ही स्पष्ट और अभ्रान्त शब्दों में बताती है कि ब्रह्मदेव ने यज्ञों के सहित प्रजा की सृष्टि कर उससे कहा कि इसी साधन से अपनी जीविका चलाओ, यह तुम्हारे लिये कामधेनु हैं । इसके द्वारा तुम लोग देवताओं को तृप्त करो और देवता वृष्टि आदि के द्वारा तुमको तृप्त करेंगे । इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप गृहस्थों के नैमित्तिक कर्म के रूप में पांच महायज्ञों के ज्ञान के साथ-साथ धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष जो कि मनुष्य का परम ध्येय होता हैं, उसको भी बता पायेंगे ।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को परिभाषित करने में समर्थ हो सकेंगे।
- पंच महायज्ञों के स्वरूप एवं अर्थ को समझा सकेगें ।
- पुरूषार्थ चतुष्टय के लक्ष्य को समझने में समर्थ हो सकेंगे।
- गृहस्थों के नैमित्तिक कर्म के रूप में पांच महायज्ञों का क्या महत्त्व है यह बता सकेंगे ।
- पुरूषार्थ चतुष्टय क्या है इसकी व्याख्या कर सकेंगे ।
- अपनी संस्कृति से परिचित हो सकेंगे।

4.3 मानव जीवन का उद्देश्य : पुरुषार्थ चतुष्टय

पुरुषार्थ चतुष्टय का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है। इस सिद्धान्त की संरचना भारत के ऋषियों, मनीषियों और विद्वजनों ने मानव जीवन के आध्यात्मिक और व्यावहारिक पक्ष को दृष्टि में रखकर की थी। वस्तुत: प्राचीन काल में भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत करने के निमित्त पुरुषार्थ की योजना की थी। जीवन में भौतिक सुख के साथ-साथ आध्यात्मिक सुख भी महत्वपूर्ण था। वस्तुत: भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों जीवन का परस्पर संबंध हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन काल के भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक एवं नैतिक दृष्टि से उन्नत करने के निमित्त पंचमहायज्ञों एवं पुरुषार्थ चतुष्टय के नाम से अपने दार्शनिक विचारों की योजना और व्याख्या की।

पंचमहायज्ञ का अर्थ एवं स्वरूप—

'यज्' धातु से 'यज्-याच्-यत्-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नड.' (3। 3। 90) इस पाणिनीय सूत्रसे 'नङ्' करने पर 'यज्ञ' शब्द बनता हैं । 'नङ्.न्तः' इस पाणिनीय लिंगानुशासन से 'यज्ञ' शब्द पुल्लिंग भी होता हैं । 'नङ् प्रत्यय भाव अर्थ में होता हैं, किन्तु 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3।3।113) इस सूत्र पर 'बहुलग्रहणं कृन्मात्रस्यार्थ-व्याभिचारार्थम्' इस सिद्धान्त से कृदन्त के सभी प्रत्ययों का अर्थ आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता हैं । यही भाष्यकारादि सम्मत मार्ग हैं । धातु-पाठ में 'यज्' धातु का पाठ किया गया हैं । 'धातवः अनेकार्थाः' इस वैयाकरणसिद्धान्त के अनुसार कतिपय आचार्यों ने 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'यज्' धातु का देवपूजा, संगतिकरण और दान

इन तीन अर्थों में प्रयोग किया हैं। अर्थात् यज्ञ में देवपूजा होती हैं, देवतुल्य ऋषि-महर्षियों का संगति करण होता हैं और दान भी होता है।

यज्ञ शब्द के कतिपय अर्थ—

1. यजनं इन्द्रादि-देवानां पूजनं सत्कारभावनं यज्ञः।
2. इज्यन्ते (पूज्यन्ते) देवा अनेनेति यज्ञः ।
3. इज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः।

'इन्द्रादि देवों का पूजन तथा सत्कार यज्ञ कहा जाता हैं। जिससे देवताओं की पूजा की जाय उसे यज्ञ कहते हैं। जिसमें देवताओं की पूजा हो उसे यज्ञ कहते हैं। जिस कर्म-विशेष में देवताओं के लिये अनुष्ठान किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं। जिस कार्य में देवगण पूजित होकर तृप्त हो उसे यज्ञ कहते हैं।'

4. यजनं धर्म-देश-जाति-मर्यादारक्षायै महापुरुषाणामेकीकरणं यज्ञः ।
5. इज्यन्ते स्वकीय बन्धु-बान्धवादयः प्रेमसम्मानभाजः संगतिकरणाय आहूयन्ते प्रार्थ्यन्ते च येन कर्मणेति यज्ञः।
6. 'धर्म, देश, जाति (वर्णाश्रम) की मर्यादा की रक्षा के लिये महापुरुषों को एकत्रित करना यज्ञ कहलाता हैं। विश्व-कल्याण के लिए जगद्भ्रमण करके महापुरुषों द्वारा बड़े-बड़े विद्वान्, वैदिक-मूर्धन्य, व्याख्यानरत्नाकर लोग जहां निमन्त्रित किये जाते हों उसे यज्ञ कहते है। जिस सदनुष्ठान में अपने बन्धु-बान्धव आदि स्नेहियों को परस्पर सम्मिलन के लिये आमन्त्रित किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं।
7. इज्यते देवतोद्देशेन श्रद्धापुरस्सरं द्रव्यादि त्यज्यते अस्मिन्निति यज्ञः ।
8. इज्यन्ते सन्तोष्यन्ते याचका येन कर्मणा स यज्ञः ।
9. इज्यन्ते भगवति सर्वस्व निधाप्यते येन वा स यज्ञः ।
10. इज्यन्ते चत्वारो वेदाः सांगा सरहस्याः सच्छिश्येभ्यः सम्प्रदीयन्ते (उपदिष्यन्ते) सदाचायैर्यैन वा स यज्ञः। 'यथाशक्ति देश, काल, पात्रादि विचारपुरस्सर द्रव्योत्सर्ग करने को यज्ञ कहते हैं। जिसमें श्रद्धापूर्वक देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं। जिस कर्म से याचकों को सन्तुष्ट किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं। जिस कर्म से अपना सर्वस्व भगवतदर्पण किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं। जिस कर्म में चारों वेद सांगोंपांग उत्तम शिष्यों के लिये योग्य आचार्यों द्वारा उपदिष्ट किये जाते हों उसे यज्ञ कहते हैं।'
11. यत्र प्रक्षेपांगको देवतोद्देशपूर्वको द्रव्यत्यागोऽनुष्ठीयते स यागपदार्थः।(भाट्टदीपिका 4।2। 12)

'जहां पर देवता को उद्देश्य कर अग्नि में द्रव्य का प्रक्षेप किया जाय, उसे 'यज्ञ' कहते हैं।'

12. यशः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरूक्ताः । याच्यो भवतीति वा यजुर्भिरून्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूँष्येनं नयन्तीति वा। (निरूक्त 3।4।19) 'यज्ञ क्यों कहलाता हैं ? यज् धातु का अर्थ देवपूजा आदि लोक और वेद में प्रसिद्ध ही हैं, ऐसा निरुक्तके विद्वान् कहते हैं, अथवा जिस कर्म में लोग यजमानसे अन्नादिककी याचना करते हैं, अथवा यजमान ही देवताओं से वर्षा आदि की प्रार्थना करता हैं, अथवा देवता ही यजमान से हविकी याचना करते हैं, उस कर्मको 'यज्ञ' कहते हैं। अथवा कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों की जिसमें प्रधानता हो उसे यज्ञ कहते हैं। यज्ञ में यजुर्वेद के मन्त्रों का अधिक उपयोग होता हैं।'

13. पुराणों के अनुसार स्वयंभुव मनु तथा शतरूपा की पुत्री आकूति से उत्पन्न रूचि प्रजापति का पुत्र जो भगवान की ही अवतार है। दक्षिणा इनकी पत्नी थी। इसका हिरण का सिर था। यक्ष प्रजापति के यज्ञ के समय वीरभद्र ने इसका वध किया। इसी यज्ञ ने यज्ञ का प्रवर्तन किया। एक बार मनु तथा शतरूपा जब तपश्चर्या में निरत थे तभी असुरों ने उन्हें खाने का प्रयत्न किया। जिससे तुरन्त ही यज्ञ ने अपने पुत्र याम के साथ उनका निग्रह किया। जिससे प्रसन्न हो देवताओं ने इसे इन्द्रासन दिया। यज्ञ या याग जो किसी शुभ

कार्य के सम्पादन के पूर्व देवताओं के प्रसादार्थ किया जाता हैं। यज्ञों के जो शास्त्र बने वे ब्राह्मण तथा श्रौत सूत्र कहलाये। यज्ञों के होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा चार ऋत्विज होते हैं जो क्रमश: देवताओं के आह्वान, आहुति के समय सामगानालाप, यज्ञ के कृत्य तथा यज्ञों की रक्षा करते हैं।

यज्ञ का लक्षण—

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ।। (मत्स्यपुराण 144।44)

'जिस कर्म-विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा-इन पांचों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं।'

यज्ञ और महायज्ञ- यज्ञ के दो भेद होते हैं- एक यज्ञ ओर दूसरा महायज्ञ। जो अपने ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिये पुत्रेष्टियाग और विष्णुयागादि करते हैं, उन्हें 'यज्ञ' कहते हैं और जो विश्वकल्याणार्थ 'पंचमहायज्ञ' आदि करते हैं, उन्हें 'महायज्ञ' कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञ के स्वरूप तथा इसकी विशेषता का वर्णन महर्षि भारद्वाज ने इस प्रकार किया हैं- **' यज्ञः कर्मसु कौशलम्' 'समष्टिसम्बन्धामहायज्ञः।'** 'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता हैं उसे 'यज्ञ' कहते हैं। पश्चात् समष्टि-सम्बन्ध होने से उसी को 'महायज्ञ' कहते हैं।'इसी बात को महर्षि अंगिरा ने भी कहा हैं- **' यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।'** 'व्यष्टि-समष्टि सम्बन्ध से यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं।' यज्ञ का फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण हैं, उसका व्यष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें स्वार्थ की प्रधानता आ जाती हैं। (यही इसकी न्यूनता हैं।) महायज्ञ का फल जगत् का कल्याण हैं, उसका समष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें निःस्वार्थता की प्रधानता आ जाती हैं। (यही इसकी विशेषता हैं।)

यज्ञ के भेद - प्रधानतया यज्ञ के दो प्रकार होते हैं- श्रौत और स्मार्त्त। श्रुति प्रतिपादित यज्ञों को श्रौतयज्ञ और स्मृतिपादित यज्ञों को स्मार्त्त यज्ञ कहते हैं। श्रौतयज्ञ में केवल श्रुतिप्रतिपादित मन्त्रों का प्रयोग होता हैं और स्मार्त्तयज्ञ में वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों का प्रयोग होता हैं। वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता हैं, किन्तु उनमें निम्नलिखित पांच प्रकार के यज्ञ प्रधान माने गये हैं-**'स एष यज्ञः पंचविधः- अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः, इत्ति। (ऐतरेयब्राह्मण)**अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम- ये पांच प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं। इन्हीं पांच प्रकार के यज्ञों में श्रुतिप्रतिपादित वैदिक यज्ञों की समाप्ति हो जाती हैं।

'गीतामधर्मसूत्र(8।18) में यज्ञों का उल्लेख निम्नलिखित हैं-' औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिकश्राद्धम, श्रवण, शलगव इति सप्त पायकज्ञसंस्थाः। अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपषुबन्धः, सोत्रामणि, पिण्डपितृयज्ञदयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः। अग्निष्टोमः, अत्यनिष्टोमः उक्थ्यः, षोडषी, वाजपेयः, आतिरात्र, आप्तोर्याम इति सप्त सामसंस्थाः।

गीतम धर्म सूत्रकारने पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेद से तीन प्रकार के यज्ञों का भेद दिखला कर प्रत्येक के सात-सात भेद दिखला करके 21 प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया हैं। इसमें स्मार्त्त सात पाकयज्ञ संस्थाओं का उल्लेख गृहसूत्रों और धर्मसूत्रों में मिलता हैं। अग्निहोत्रसे लेकर सोमसंस्थान्त 14 यज्ञों का उल्लेख कात्यायनादि श्रौतसूत्र में मिलता है। वर्तमान समय में श्रौतयज्ञों का प्रचार तो नहीं के बराबर हैं। गृहसूत्रोक्त पाकयज्ञों का प्रचार किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रचलित हैं। उपर्युक्त 14 वैदिक या तथा 7 पाकयज्ञ के अतिरिक्त गृहसूत्रों और धर्मसूत्रों में पंचमहायज्ञों का भी उल्लेख किया गया हैं, जो कि नित्यकर्म और आवश्यक अनुष्ठेय माने गये हैं।

उपर्युक्त सभी प्रकार के यज्ञ सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं। जो यज्ञ निष्कामभाव से किया जाता हैं उसे 'सात्त्विक यज्ञ' कहते हैं। जो यज्ञ सकाम अर्थात् किसी फल-

विशेष की इच्छा से किया जाता हैं उसे 'राजसिक यज्ञ' कहते हैं। जो यज्ञ शास्त्रों के विरूद्ध किया जाता है उसे 'तामसिक यज्ञ' कहते हैं। इनमें 'सात्त्विक यज्ञ' का अनुष्ठान सर्वोतम कहा गया हैं। अतः यज्ञ का मुख्य उद्देश्य सात्त्विकता को लेकर ही होना चाहिये। शास्त्रों में सात्त्विक यज्ञ का महान् फल लिखा हैं। श्रौत-स्मार्त्तादि सभी प्रकार के यज्ञों में कुछ यज्ञ नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ काम्य होते हैं। उनमें नैमित्तिक और काम्य यज्ञ करने के लिये तो द्विज स्वतन्त्र हैं अर्थात् वह अपनी श्रद्धा-भक्ति तथा आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल यज्ञ करे अथवा न करे, किन्तु नित्ययज्ञ तो करना ही होगा। उस नित्ययज्ञ का नाम 'पंचमहायज्ञ' हैं। पंचमहायज्ञ के न करने से मनुष्य पंचसूनाजन्य दोषों से छुटकारा कथमपि नहीं प्राप्त कर सकता। अतः 'पंचसूना' दोषों से छुटकारा पाने के लिये 'पंचमहायज्ञ' का अनुष्ठान परमावश्यक और नित्य करणीय हैं। यह पंचमहायज्ञ अन्य यज्ञों की तरह न तो अधिक द्रव्य साध्य हैं और न अधिक समयसाध्य ही हैं।

यज्ञ का उद्देश्य-

अब हम अनेक ऋषि-महर्षियों के उन वचनों को उद्धृत करते हैं, जिनसे यज्ञ के महत्त्व का सुन्दररूप से परिचय हो सकेगा।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भवः ।। (गीता 3। 14)

'समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और उनकी अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती हैं और वर्षा यज्ञ से होती हैं तथा वह यज्ञ कर्म से होता हैं।'

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। (मनृस्मृति 3। 76)

'अग्नि में विधि-विधानपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यदेव को प्राप्त होती हैं, पश्चात् उससे वृष्टि होती हैं, वृष्टि से अन्न होता हैं और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती हैं।'

अग्नौ प्रास्तहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेन्नं ततः प्रजाः ।।(महाभारत, शान्तिपर्व 263।11)

'अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्यमण्डल को प्राप्त होती हैं, सूर्य से जल की वृष्टि होती हैं, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता हैं और अन्न से समस्त प्रजा जन्म तथा जीवन धारण करती हैं।'

यजते क्रतुभिर्देवान् पितृश्च श्रद्धायान्वितः।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सामपाः पुनरेष्यति ।।(भागवत 3।32। 2-3)

'जो पुरुष श्रद्धापूर्वक यज्ञादि द्वारा देवताओं और पितरों का पूजन करता हैं वह यज्ञों के प्रताप से चन्द्रलोक में जाकर सोमरस (अमृत) का पान करके पुनः इहलोक में आता हैं।'

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपुरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः ।।
तस्यराज्ञोमहाभागा भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतोनिजशासने ।।
तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामांश्वरेश्वरे। (भागवत 4।14।18-20)

' जिसके राज्य अथवा नगर में वर्णाश्रमधर्मियों के द्वारा यज्ञ-पुरुष भगवान् का यजन होता है उस पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। क्योंकि वे ही समस्त विश्व की आत्मा तथा समस्त भूतों के रक्षक हैं। भगवान ब्रह्मादि जगदीश्वरों के भी ईश्वर है, अतः भगवान् के प्रसन्न होने पर संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि अप्राप्य हों।'

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्टयुत्सर्गेण मानवाः ।

आप्यायन्ते धर्मयज्ञा यज्ञाः कल्याणहेतवः ।। (पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड 3। 132)'यज्ञ से देवताओं का आप्यायन (वर्द्धन) अथवा पोषण होता हैं। यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन-पोषण होता हैं। इस प्रकार जगत् का पालन-पोषण करने के कारण धर्मयज्ञ कल्याण के हेतु कहे जाते हैं।

यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट युत्सर्गेण प्रजाः।

आप्याययन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः।। (विष्णुपुराण 1। 6। 8)

'हे धर्मज्ञ! यज्ञ से देवताओं का आप्यायन अथवा पोषण होता है, यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन-पोषण होता है। इस प्रकार जगत् का पालन-पोषण करने के कारण यज्ञ कल्याण के हेतु कहे जाते हैं।'

यज्ञेषु देवास्तुष्यन्ति यज्ञे सर्वे प्रतिष्ठितम् ।

यज्ञेन घ्रियन्ते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजाः ।।

अन्नेन भूता जीवन्ति यज्ञे सव प्रतिष्ठितम् ।

पर्जन्यो जायते यज्ञात्सर्वे यज्ञमयं ततः ।। (कालिकापुराण 32 । 7-8)

'यज्ञों से देवता सन्तुष्ट होते हैं, यज्ञ ही समस्त चराचर जगत् का प्रतिष्ठापक हैं। यज्ञ पृथ्वी को धारण किये हुए हैं। यज्ञ ही प्रजा को पापों से बचाता हैं। अन्न से प्राणी जीवित रहते हैं, वह अन्न बादलों द्वारा उत्पन्न होता हैं और बादल की उन्नत्ति यज्ञ से होती है। अतः यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है।'

यज्ञैर्यश्वरो येषां राष्ट्रे सम्पूज्यते हरिः ।

तेषां सर्वेप्सितावाप्ति ददाति नृप भूभृताम् ।। (विष्णुपराण 1।13।।19)

'हे राजन्! जिन राजाओं के राज्य में भगवान् हरि का यज्ञों द्वारा पूजन किया जाता हैं, वे उनकी सभी कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं।'

ये यजन्ति शून्या हरिभक्तान् हरिं तथा ।

त एवं भुजनं सर्वे पुनन्ति स्वांघ्रिपांशुना । (नारदपुराण 39। 64)

'जो स्पृहा से रहित (निष्काम भाव से) होकर भगवान् और भगवद्भक्तों को यज्ञ के द्वारा पूजते हैं, वही अपने चरण-रज से समस्त ब्रह्मण्ड को पवित्र करते हैं।'

'यज्ञदानादिकं कर्म भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम् ।' (अग्निपुराण 381।48)

'यज्ञे करने से मनुष्य देवलोकों को प्राप्त करता हैं, हवन करने से पापों का नाश होता है।, जप करने से समस्त कामनाओं को प्राप्त करता हैं और सत्य-भाषण से परम-पद को प्राप्त करता हैं।'

होमेन पापं पुरुषो जहाति

होमेन नाकं च तथा प्रयाति ।

होमेस्तु लोके दुरितं समग्रं

विनाशयत्येव न संशयोऽत्र ।।

'यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपने पापों को दूर करता हैं और यज्ञ से वह स्वर्ग को प्राप्त करता हैं। यज्ञ ही संसार के समस्त पापों को नष्ट करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।'

मातापित्रोर्हिते युक्तो गो-ब्राह्मणहिते रतः।

दान्तो यज्वा देवभक्तो ब्रह्मलोके महीयते ।। (कूर्मपुराण, उत्तरार्ध 15। 24)

'माता-पिता के हित में संलग्न, गो और ब्राह्मण के हित में रत, देवभक्त और दानशील-ये सभी यज्ञ करने से ब्रह्मलोक में पूजित होते हैं।'

'यज्ञैरनेकैर्देवत्वमाप्येन्द्रण भुज्यते।' (पद्यपुराण, सृष्टि 13 । 368)

'अनेक यज्ञों के करने से देवत्व को प्राप्त करके इन्द्र के साथ दिव्य भोगों को भोगते हैं।'

प्रीयतां पुण्डरीकाक्षः सर्वयज्ञेश्वरो हरिः ।

तस्मिस्तुष्टतेजगत्तुष्टेजगत्तुष्टं प्रीणितं भवेत् ।। (मत्स्य पुराण 238। 38)

'विष्णु भगवान् यज्ञ से सन्तुष्ट होते हैं, उनकी सन्तुष्टता से जगत् सन्तुष्ट होता है और उनकी प्रसन्नता से ही जगत् प्रसन्न होता हैं।'

'दानशीलो भवेद्राजा यज्ञशीलश्च भारत।' (महाभारत, शान्तिपर्व 61। 53)

' हे युधिष्ठिर! दान करनेवाला तथा यज्ञ करनेवाला राजा होता हैं।'

न हि यज्ञसमं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।

तस्माद्यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानुसूयता ।। (महाभारत, शान्तिपर्व 61। 53)

'तीनों लोकों में यज्ञ के बराबर और कोई उत्तम वस्तु नहीं हैं। इसलिये दोषदृष्टि से रहित होकर मनुष्य को यज्ञ करना चाहिये, ऐसा महर्षियों ने कहा हैं।'

यानि यज्ञेष्विहेज्यन्ति सदा प्राज्ञा द्विजर्षभाः।

तेन ते देवयानेन पथा यान्ति महामुने ।। (महाभारत, शान्तिपर्व 263। 29)

'हे महामुने! जो बुद्धिमान् विप्र सर्वदा श्रेष्ठ यज्ञ करते रहते हैं, वे यज्ञ के प्रभाव से देवयान मार्ग के द्वारा देवलोक को प्राप्त करते हैं।

स्वाहा-स्वधा-षट्कारा यत्र सम्युगनुष्ठिताः।

अजस्त्रं चैव वर्तन्ते वसतत्तेत्राविचारयन् ।। (महाभारत, शान्तिपर्व 287। 51)

'जिस राष्ट्र में स्वाहा, स्वधा और वषट्कार के अनुष्ठान विधि-पूर्वक सर्वदा होते रहते हैं, वहीं पर मनुष्य को बिना विचारे निवास करना चाहिये।'

'हुतेन शाम्यते पापम्।' (महाभारत, शान्तिपर्व 291। 2)

'हवन करने से पापों का शमन हो जाता है।'

देवाः सन्तोषिता यज्ञैर्लोकान् संवर्धयन्त्युत।

उभयोर्लोकयोर्देवि भूतिर्यज्ञैः प्रदृश्यते ।।

तस्माद्यज्ञाद्दिवं याति पूर्वजैः सह मोदते।

नास्ति यज्ञसमं दानं नास्ति यज्ञसमो विधिः।

सर्वधर्मसमुद्देशो देवि यज्ञे समाहितः ।। (महाभारत)

'यज्ञों से सन्तुष्ट होने पर देवगण लोकाभ्युदय की कामना करते हैं, साथ ही यज्ञों के द्वारा दोनों लोकों का कल्याण सम्पन्न होता हैं। यज्ञ से प्राणी के लिये विशेष फल यह होता हैं कि वह स्वर्गलोग का भागी बनता हैं और वहां पर अपने पूर्वजों के साथ आनन्द करता हैं। संसार में यज्ञ के समान कोई दान नहीं और यज्ञ के समान कोई विधि-विधान नहीं हैं। यज्ञ से ही समस्त धर्मों का उद्देश्य सिद्ध होता है।, यह बात सुस्पष्ट है।'

'यज्ञादिभिर्देवाः शक्तिसुखादीनाम्।' (महर्षि अंगिरा)

'यज्ञादि करने से देवगण सन्तुष्ट होते हैं, उनकी सन्तुष्टता से मनुष्य शक्ति और सुखादि की प्राप्ति करता हैं।'

तथा अन्य धर्मग्रन्थों में

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।

यज्ञेन देवानाप्नोति।
यज्ञेश्च देवानाप्नोति।
उपर्युक्त यज्ञ के महत्त्व को प्रकट करने वाले अनेक प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि यज्ञ का फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं हैं, अपितु पारलौकिक भी हैं। अतः जिस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से जीव की क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदि विविध उपद्रवों का विनाश होता हैं और वह परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त होता हैं, उस यज्ञ का महत्त्व सर्वमान्य हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हैं।

पंचमहायज्ञ का स्वरूप—

कर्म तीन प्रकार के होते हैं- नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मों के करने से किसी फल की प्राप्ति न होती हो और न करने से पाप लगे, उन्हें नित्य कहते हैं; जैसे त्रिकालसन्ध्या, पंच महायज्ञ आदि। महायज्ञ करने से आत्मोन्नति आदि अवान्तर फल की प्राप्ति होने पर भी 'पंचसूना' दोष से छुटकारा पाने के लिये शास्त्रकारों की आज्ञा हैं कि - **'सर्वगृहस्थैः पंचमहायज्ञ अहरहः कर्तव्याः।'** अर्थात् गृहस्थमात्र को प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने चाहिए। इससे यह स्पष्ट हैं कि पंचमहायज्ञ करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु न करने से पाप का प्रादुर्भाव अवश्य होता हैं।

हम लोगों की जीवनयात्रा में सहज ही हजारों जन्तुओं की प्रतिदिन हिंसा होती हैं; जैसे- चलने-फिरने में, भोजन के प्रत्येक ग्रास में तथा श्वास-प्रश्वास में जीव की हिंसा अवश्य होती हैं। प्राणधारी मनुष्य के लिये इन पापों से बचना कदापि संभव नहीं हैं। अतः इन पापों से मुक्त होने के लिये ही महामहिमशाली महर्षियों ने 'पंचमहायज्ञ' का विधान बताया हैं। भगवान मनु कहते हैं-

पंचसूना गृहस्थ चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भस्य बाध्यते यास्तु बाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थे महर्षिभिः।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गुहमेधिनाम्॥

शास्त्रकारों ने प्राणीवध जनित उन पापों को साधारणतया पाँच भागों में विभक्त किया है और उनसे मुक्त होने का विधान भी बताया है –

पंचसूना गृहस्थस्य पंचयज्ञात् प्रणश्यति।
कण्डनी पेषणी चुल्ली चोदकम्भी च मार्जनी॥

'प्रत्येक गृहस्थ के यहां चूल्हा, चक्की, बुहारी (झाड़ू), ऊखल और जलपान- ये पाँच प्रकार के हिंसा के स्थान हैं। इनसे होनेवाली हिंसा से निवृत्ति के लिये महर्षियों ने गृहस्थों के लिये प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने का विधान कहा हैं। नित्य पंचमहायज्ञों का (विधान) अनुष्ठान करने से मनुष्य दैनिन्दन पापों से मुक्तहो जाता है और वह पाप संचित नहीं हो पाते हैं। '**(मनुस्मृति)**

पंचमहायज्ञ- पंचमहायज्ञ का वर्णन प्रायः सभी ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने धर्मग्रन्थों में किया है, जिनमें से कुछ ऋषियों के वचनों को यहाँ उद्धृत किया जाता हैं-

'भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।' (शतपथब्राह्मण 11।5।1)

'अर्थातः पंचमहायज्ञा देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।' (आश्वलायनगृह्यसूत्र 3।1।1)

भूतपित्रमरब्रह्म मनुष्याणां महामखाः॥ (याज्ञवल्यस्मृति, आचाराध्याय 102)
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च।
नृयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्चपंचयज्ञाः प्रकीर्तिताः॥ (बृहन्नारदीय पुराण)

जो मनुष्य पूर्वकथित पंचमहायज्ञ के द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, पितृलोक और आत्मा-इन पांचों को अन्नादि नहीं देते, वे जीते हुए भी मरे के समान हैं अर्थात् उनका जीवन निष्फल हैं।

भगवान् मनु की आज्ञा हैं कि-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ: पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो, देवो, बलिभीतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। (मनुसंहिता 3/70)

पंचैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।

स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।। (मनु 3। 71)

'जो गृहस्थ शक्ति के अनुकूल इन पंचमहायज्ञों का एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी प्रतिदिन के पंचसूनाजनित पाप के भागी होते।'

महर्षि गर्ग ने भी कहा हैं-

पंचयज्ञांस्तु यो मोहान्नि करोति गृहाश्रमी।

तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः।।

महर्षि हारीत ने कहा हैं-

यत्फलं सोमयागेन प्राप्नोति धनवान् द्विजः।

' धनवान् द्विज सोमयाग करके जो फल प्राप्त करता हैं, उसी फल को दरिद्र पंचमहायज्ञ के द्वारा प्राप्त कर सकता हैं।'पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान से प्राणियों की तृप्ति होती हैं, इस प्रकार का संकेत भगवान् मनु ने मनुस्मृति के तृतीय अध्याय के 80,81 और 75 श्लोकों में किया हैं। पंचमहायज्ञ करने से अन्नादि की शुद्धि और पापों का क्षय होता हैं। पंचमहायज्ञ किये बिना भोजन करने से पाप लगता हैं। देखिये, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (3।13) में क्या कहा हैं - ' यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष पंचहत्याजनित समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो पापी केवल अपने लिये ही पाक बनाते हैं, वे पाप का ही भक्षण करते हैं। महाभारत में भी कहा है-**अहन्यहनि ये त्वेतानकृता भुंजते स्वयम्। केवलं मलमश्नन्ति ते नरा न च संशयः।।** 'जो प्रतिदिन इन पंचमहायज्ञों को किये बिना भोजन करते हैं, वे केवल मल खाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।'अतः पंचमहायज्ञ करके ही गृहस्थों को भोजन करना चाहिये। पंचमहायज्ञ के महत्त्व एवं इसके यथार्थ स्वरूप को जानकर द्विजमात्र का कर्तव्य हैं कि वे अवश्य पंचमहायज्ञ किया करें- ऐसा करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सुतरां प्राप्ति होगी।

1. ब्रह्मयज्ञ- वेदों के पठन-पाठन ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। वेद में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में 'ज्ञान' की ही प्रधानता और परमावश्यकता बतलायी गई हैं। ज्ञान के ही कारण जीवान्तर की अपेक्षा से मनुष्य-देह उत्तम माना गया हैं। शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठान में तत्पर रहना ही मनुष्य की मनुष्यता हैं और वही मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्व का अधिकारी समझा जाता हैं। इसके बाद कर्मकाण्ड द्वारा अन्तः करण की शुद्धि हो जाने पर मनुष्य उपासनाकाण्ड का अधिकारी बनता हैं।, तदनन्तर भगवत्कृपाकटाक्ष के लेष से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता हैं। यह मनुष्यों का सामान्य उन्नतिक्रम हैं। क्रमिक उन्नति में ज्ञान का प्राधान्य हैं। अतः सभी अवस्थाओं में ज्ञान की आवश्यकता हैं। इसलिये प्रथमावस्था में भी ज्ञान के बिना असदाचरण का परित्याग तथा धर्मानुष्ठान में प्रवृति कदापि नहीं हो सकती।

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।' (मनुस्मृति 2। 215)

इस उद्देश्यके अनुसार बलवान् इन्द्रियसमूह उसमें प्रतिबन्धक अवश्य हैं, तथापि इन्द्रियाँ प्रथमावस्था में मनुष्यों को अपनी ओर तथा गुरूजन भी धर्मानुष्ठानादि में धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं। इसी समय माता, पिता तथा गुरूजन भी धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त तथा अधर्मानुष्ठान में निवृत्त करते हैं। इस प्रकार सभी अवस्थाओं में ज्ञान की ही प्रधानता सिद्ध होती हैं। अतएव ज्ञानयज्ञरूप स्वाध्याय (वेद-शास्त्रों का पठन-

पाठन) करना चाहिये। अशक्ति में गायत्री-जपमात्र करना चाहिये। ब्रह्मयज्ञ को करने से ज्ञान की वृद्धि होती हैं। ब्रह्मयज्ञ करने वाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षिगण का अनृणी और कृतज्ञ हो जाता हैं।

2. देवयज्ञ - अपने इष्टदेव की उपासना के लिये परब्रह्म परमात्मा के निमित्त अग्नि में किये हुए हवन को 'देवयज्ञ' कहते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता 9। 27)

भगवान के इस वचन से सिद्ध होता हैं कि परब्रह्म परमात्मा ही समस्त यज्ञों के आश्रयभूत हैं। इसलिये ब्रह्मयज्ञ में ऋषिगण, पितृयज्ञ में अर्यमादि नित्य पितृगण और परलोकगामी नैमित्तिक पितृगण, भूतयज्ञ में देवरूप् अनेक प्राणियों को जानकर 'यद्यद्विभूतिमत्सत्वम्' (गी0 10। 41) इस गीतोक्त भगवद् वचन के अनुसार ईश्वर-विभूतिधारी देवताओं की जो-जो पूजा की जाती हैं, वह सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्मा की अर्चना (पूजा) के अभ्यास के लिये ही की जाती हैं। नित्य और नैमित्तिक-भेद से देवता दो भागों में विभक्त हैं, उनमें रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादि नित्य देवता कहे जाते हैं और ग्रामदेवता, बनदेवता तथा गृहदेवता आदि नैमित्तिक देवता कहे जाते हैं। दोनों तरह के ही देवता इस यज्ञ से तृप्त होते हैं। जिन देवताओं की कृपा से जड़भावना को प्राप्त होते हुए भी विनश्वर कर्मफल उत्नन्न हो रहा हैं, जिनकी कृपा से समस्त सुख-शान्ति की प्राप्ति होती हैं, जिनकी कृपा से संसार के समस्त कार्यकलाप की भलीभाँति उत्पत्ति और रक्षा होती हैं, उन देवताओं से उऋण होने के लिये देवयज्ञ करना परमावश्यक हैं। देवयज्ञ से नित्य और नैमित्तिक देवता तृप्त होते हैं।

3. भूतयज्ञ - कृमि, कीट पतंग, पशु और पक्षी आदि को सेवा को 'भूतयज्ञ' कहते हैं। ईश्वररचित सृष्टि के किसी भी यज्ञ की उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टि के सिर्फ एक ही अंग की सहायता से समस्त अंगों की सहायता समझी जाती हैं, अतः 'भूतयज्ञ' भी परम धर्म हैं। प्रत्येक प्राणी अपने सुख के लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन क्लेश देता हैं, क्योंकि ऐसा हुए बिना क्षणमात्र भी शरीरयात्रा नहीं चल सकती। प्रत्येक मनुष्य के निःश्वास-प्रश्वास, विहार-संचार आदि में अगणित जीवों की हिंसा होती हैं। निरामिष भोजन करने वाले लोगों के भोजन के समय भी अगणित जीवों का प्राण-वियोग होता हैं, आमिषभोजियों की तो कथा ही क्या हैं? अतः भूतों (जीवों) से उऋण होने के लिये 'भूतयज्ञ' करना आवश्यक हैं। भूतयज्ञ से कृमि, कीट, पशु, पक्षी आदि की तृप्ति होती हैं।

4. पितृयज्ञ - अमर्यादित नित्य पितरों की तथा परलोकगामी नैमित्तिक पितरों की पिण्डप्रदानादि से किये जाने वाले सेवारूप यज्ञ को 'पितृयज्ञ' कहते हैं। सन्मार्गप्रवर्त्तक माता-पिता की कृपा से असन्मार्ग से निवृत्त होकर मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति करता हैं, फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थों को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। ऐसे दयालु पितरों की तृप्ति के लिये, उनके सम्मान के लिये, अपनी कृतज्ञता के प्रदर्शन तथा उनसे उऋण होने के लिये 'पितृयज्ञ' करना नितान्त आवश्यक हैं। पितृयज्ञ से समस्त लोकों की तृप्ति और पितरों की तुष्टि की अभिवृद्धि होती हैं।

5. मनुष्ययज्ञ - क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित मनुष्य के घर आ जाने पर उसकी भोजनादि से की जानेवाली सेवारूप यज्ञ को 'मनुष्ययज्ञ' कहते है। अतिथि के घर आ जाने पर वह चाहे किसी जाति या किसी भी सम्प्रदाय का हो, उसे पूज्य समझकर उसे अन्नादि देना चाहिये। इस विषय की पुष्टि भगवान मनु ने भी अपनी स्मृति के तीसरे अध्याय (3। 99-102, 107, 111) में विशदरूप से की हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी के सभी समाज-वालों को अतिथि सेवारूप धर्म का परिपालन अवश्य करना चाहिये। प्रथमावस्था में मनुष्य अपने शरीर मात्र के सुख से अपने को सुखी समझता हैं, फिर अपने पुत्र,कलत्र, मित्रादि को सुखी देखकर सुखी होता हैं। तदनन्तर स्वदेशवासियों को सुखी देखकर सुखी होता हैं। इसके

बाद सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर वह समस्त लोकसमूह को सुखी देखकर सुखी होता है। परन्तु वर्तमान समय में एक मनुष्य समस्त प्राणियों की सेवा नहीं कर सकता, इसलिये यथाशक्ति अन्न-दान द्वारा मनुष्यमात्र की सेवा करना ही 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता हैं। मनुष्ययज्ञ से धन, आयु, यश और स्वर्गादि की प्राप्ति होती है।

पुरूषार्थ चतुष्टय का स्वरूप—

इन सभी यज्ञों के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार को समझने के लिए चार पुरुषार्थों को समझना आवश्यक हो जाता हैं। ध्यातव्य हैं कि जीवन के उद्देश्य चार माने जाते थे यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में मोक्ष को स्वीकार किया गया हैं। इसका अभिप्राय यह हैं कि मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक हैं और जीवन का उद्देश्य इसको प्रकाशित करना तथा उसके द्वारा आनन्द प्राप्त करना हैं। सभी ऋषियों की धारणा थी कि मानव की भलाई इसी में हैं कि वह जीवन-मृत्यु के चक्र से और संसार के दुःखों से छुटकारा पा जाए जिससे पुनः उसे संसार में जन्म न लेना पड़े। इसी छुटकारे की अवस्था को पुरुषार्थों में मोक्ष कहा गया हैं किन्तु वैदिक ऋषि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और सांसारिक सुख भोग को परिवार विरोधी स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार दीर्घ जीवन की कामना मुक्ति प्राप्त करने की भावना से असम्बद्ध नहीं हैं। पुरुषार्थों के सिद्धान्त में इन दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित किया गया हैं। ऋषियों ने चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए ही चार आश्रमों की व्यवस्था बनाई थी। आश्रमों में अपना कर्तव्य पूरा करके ही मनुष्य चारों पुरुषार्थों का उचित प्रशिक्षण प्राप्त करता हैं। इसीलिए पुरुषार्थों की आश्रम व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार कहा जाता हैं। उपनिषदों में मोक्ष को ही श्रेय बतलाता हैं। उसी में शाश्वत सुख मिल सकता हैं।'धर्म' शब्द का प्रयोग प्राचीन भारत के अनेक अर्थों में हुआ हैं। वैदिक कर्मकाण्ड, नैतिक आचरण, जाति के नियम और दीवानी और फौजदारी कानून धर्म के अन्तर्गत आते हैं। निश्चित रूप से इसका अर्थ बहुत व्यापक हैं। इसके अन्तर्गत वे सब नियम शामिल हैं जिनसे व्यक्ति को सांसारिक और आध्यात्मिक सहारा मिलता हैं और जिससे उसकी सहायता एवं समाज की उन्नति होती हैं। इसका शाब्दिक अर्थ हैं कि वे नियम जो समाज के विभिन्न अंगों को मिलाकर रख सकें या जो समाज की रक्षा कर सकें। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि धर्म का अर्थ वे सिद्धान्त हैं जिनके पालन करने से समाज में स्थायित्व रहता हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार जिससे पूरे समाज का कल्याण हो वही धर्म हैं। वैशेषिक सूत्र में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं कि धर्म वह हैं जिससे प्राणिमात्र की लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक कल्याण की रक्षा हो। इसका प्रमुख उद्देश्य मनुष्य का नैतिक उत्थान हैं। आत्मिक मुक्ति एवं देहिक सुख के मध्य एकरूपता धर्म द्वारा निर्धारित नियमों के पालन द्वारा स्थापित की जाती हैं। प्राचीन भारत में इसकी प्रमुख विशेषता थी कि समय, स्थान और सामाजिक परिवेश के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता था। पांडुरंग वामन काणे के अनुसार धर्म एक जीवन पद्धति या आचरण संहिता थी जो समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के कार्यों पर नियंत्रण रखती थी । इस पद्धती का उद्देश्य मानव का भी विकास करना था जिससे वह जीवन के विविध लक्ष्यों को प्राप्त कर सके। प्राप्त करने की प्रवृति की संतुष्टि 'अर्थ' द्वारा होती हैं। धन के संग्रह व भोग व उपभोग के द्वारा मानव धर्म का पालन कर सकता हैं। 'अर्थ' से अभिप्राय उन सब साधनों से हैं जिन्हें प्राप्त कर मनुष्य समृद्ध हो जाता हैं। इसका मुख्य लक्ष्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति हैं। इन साधनों का अर्जन मानव को धर्म से करना चाहिए, अधर्म से नहीं। कौटिल्य के अनुसार 'धर्म' और 'काम' का मूल हैं। पुरुषार्थ के रूप में यह शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करने की मानव अभिलाषा को प्रतिबिम्बित करता है।'काम' का अर्थ उन सभी इच्छाओं से हैं जिनकी पूर्ति करके मानव सांसारिक सुख प्राप्त करता हैं। यह भी धर्म की मर्यादा से ही किये जाने को कहा गया हैं। इसका मुख्य उद्देश्य संतानोत्पति के द्वारा समाज को

आगे बढ़ाना हैं। इसका स्थान अन्तिम हैं किन्तु वह मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता हैं। उसके द्वारा मानव की काम भावना और सौन्दर्यप्रियता की प्रवृति की तुष्टि होती है। इन्हीं प्रवृतियों की तुष्टि हेतु मानव विवाह और फिर सन्तानोत्पति करता हैं। ध्यातव्य है कि काम और अर्थ साधन है, साध्य नहीं। जो जीवन केवल इन दोनों की तुष्टि में संलग्न रहता हैं वह अवांछनीय हैं। ध्यातव्य है कि अर्थ और काम को प्रेय कहा है जिनसे क्षणभंगुर सांसारिक सुख मिलता हैं। किन्तु धर्म शास्त्रों में इन दोनों का महत्त्व भी स्वीकार किया गया हैं। वात्सायन ने कामसूत्र के प्रारम्भ में धर्म, अर्थ और काम तीनों की वन्दना की हैं। इसका यह अर्थ है कि तीनों को ऐसा समन्वय करना चाहिए कि वे दूसरे के लिए घातक साबित न हो। धर्म, अर्थ और काम का महत्व उनके उनके क्रम के अनुसार हैं। अर्थ और काम धर्म से नियन्त्रित हैं। अर्थ का अर्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए और उसे दान आदि भी देना चाहिए। काम का प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पति है। जिससे वंश-परम्परा चल सके। धर्म, अर्थ और काम के सदुपयोग से इस लोक और परलोक में सुख मिलता हैं। जो व्यक्ति केवल अर्थ या काम में फंसा रहता हैं वह घृणित है क्योंकि धर्म ही विश्व का सार और शक्ति हैं। सभी धर्म शास्त्रकारों ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ की संज्ञा के रूप में स्वीकारा हैं। सभी ने ऐसे अर्थ और काम को त्याग देने का परामर्श दिया हैं जिससे धर्म पालन में बाधा पड़े। तीनों पुरुषार्थों का सम्बन्ध व्यक्ति के विशेष और समाज दोनों से हैं, इन्हीं के आधार पर व्यक्ति का समाज के साथ उचित सम्बन्ध निश्चित किया जा सकता हैं। किस सीमा तक मनुष्य अर्थ और काम का उपभोग करता है, इसका निर्णय करना धर्म है। ध्यातव्य हैं कि समाज के ऋणों को चुकाए बिना तथा अपने कर्त्तव्यों को पूरा किए बिना कोई व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।

अभ्यास प्रश्न

1.यज्ञों की महिमा कब से प्रारंभ हो गई थी ?

2.पंच महायज्ञों के नाम बताइए ?

3. यज्ञ शब्द से आप क्या समझते हैं ?

4. ऋषियज्ञ क्या होता है ?

5. पुरुषार्थ चतुष्टय के नाम बताइए ?

4.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान चुके हैं कि व्यक्ति के जीवन में यज्ञ का अत्यन्त महत्व है तथा यह भी जाना कि यज्ञ शब्द का क्या अर्थ है और यह कितने प्रकार का होता है। एक गृहस्थ को पंचसूना दोषों से मुक्त होने के लिए पंचमहायज्ञ करना अनिवार्य है। जीवन के चार उद्देश्य माने जाते थे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यही पुरूषार्थ चतुष्ट्य है। यज्ञों के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार को समझने के लिए इन चार पुरूषार्थों को समझना आवश्यक हो जाता है। समाज के ऋणों को चुकाए बिना तथा अपने कर्त्तव्यों को पूरा किए बिना कोई व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।'अर्थ' से अभिप्राय उन सब साधनों से हैं जिन्हें प्राप्त कर मनुष्य समृद्ध हो जाता हैं। इसका मुख्य लक्ष्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति हैं। इन साधनों का अर्जन मानव को धर्म से करना चाहिए, अधर्म से नहीं। कौटिल्य के अनुसार 'धर्म' और 'काम' का मूल हैं। पुरुषार्थ के रूप में यह शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करने की मानव अभिलाषा को प्रतिबिम्बित करता है। ' काम ' का अर्थ उन सभी इच्छाओं से हैं जिनकी पूर्ति करके मानव सांसारिक सुख प्राप्त करता हैं। यह भी धर्म की मर्यादा से ही किये जाने को कहा गया हैं। इसका मुख्य उद्देश्य संतानोत्पति के द्वारा समाज को आगे बढ़ाना हैं। इसका स्थान अन्तिम हैं किन्तु वह मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता हैं। उसके द्वारा मानव की काम भावना और सौन्दर्यप्रियता की प्रवृति की तुष्टि होती है। इन्हीं प्रवृतियों की तुष्टि हेतु मानव विवाह और फिर

सन्तानोत्पति करता हैं। ध्यातव्य है कि काम और अर्थ साधन है, साध्य नहीं। जो जीवन केवल इन दोनों की तुष्टि में संलग्न रहता हैं वह अवांछनीय हैं। ध्यातव्य है कि अर्थ और काम को प्रेय कहा है जिनसे क्षणभंगुर सांसारिक सुख मिलता हैं। किन्तु धर्म शास्त्रों में इन दोनों का महत्त्व भी स्वीकार किया गया हैं। वात्सायन ने कामसूत्र के प्रारम्भ में धर्म, अर्थ और काम तीनों की वन्दना की हैं। इसका यह अर्थ है कि तीनों को ऐसा समन्वय करना चाहिए कि वे दूसरे के लिए घातक साबित न हो। धर्म, अर्थ और काम का महत्व उनके उनके क्रम के अनुसार हैं। अर्थ और काम धर्म से नियन्त्रित हैं। अर्थ का अर्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए और उसे दान आदि भी देना चाहिए। काम का प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पति है। जिससे वंश-परम्परा चल सके। धर्म, अर्थ और काम के सदुपयोग से इस लोक और परलोक में सुख मिलता हैं। जो व्यक्ति केवल अर्थ या काम में फंसा रहता हैं वह घृणित है क्योंकि धर्म ही विश्व का सार और शक्ति हैं। सभी धर्म शास्त्रकारों ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ की संज्ञा के रूप में स्वीकारा हैं।

4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 - उतर वैदिक काल से।

2 - 1. ऋषि यज्ञ 2. देवयज्ञ 3. पितृयज्ञ 4. नृयज्ञ 5. भूतयज्ञ।

3 - यज्ञ शब्द से देवपूजा, देवतुल्य ऋषि महर्षियों का संगतीकरण और दान समझा जाता हैं।

4 - ऋषियज्ञ का आशय है- ऋषियों के प्रति कृतज्ञता और सम्मान प्रकट करना। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय और सन्ध्योपासना की जाती हैं।

5- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

4.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संस्कृति, लोकमणि दाहाल, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी
2. यज्ञ दीपिका, बेणीराम गौड़,चौखम्भा वाराणसी
3. सामान्य ज्ञान , सम्पादक मण्डल अरिहन्त ,अरिहन्त प्रा.लि. मेरठ
4. मनुस्मृति, महर्षि मनु,चौखम्भा वाराणसी
5. यज्ञ मीमांसा, याज्ञिक सम्राट पं. श्री वेणीराम,चौखम्भा विद्याभवन
6.हिन्दू धर्मकोश ,चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
7.वैशेषिक सूत्र , कणाद, चौखम्भा पब्लिकेशंस वाराणसी
8. कामसूत्र, वात्स्यायन , चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी
9. भगवत गीता, व्यासजी ,गीता प्रेस गोरखपुर

4.7 उपयोगी ग्रन्थ

1. मनुस्मृति,महर्षि मनु,चौखम्भा वाराणसी
2. यज्ञ दीपिका,बेणीराम गौड़,चौखम्भा वाराणसी
3. भगवत गीता, व्यासजी , गीता प्रेस गोरखपुर

4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पुरुषार्थ चतुष्टय का विस्तृत वर्णन करें ?
2. यज्ञ की आवश्यकता के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन करे ?

इकाई-5 वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 वर्ण शब्द का अर्थ एवं उत्पति
5.4 वर्ण व्यवस्था
5.5 श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार वर्ण व्यवस्था
5.6 आश्रम व्यवस्था
    5.6.1 ब्रह्मचर्य आश्रम
    5.6.2 गृहस्थ आश्रम
    5.6.3 वानप्रस्थ आश्रम
    5.6.4 संन्यास आश्रम
5.7 सारांश
5.8 शब्दाशवली
5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.11 उपयोगी पुस्तकें
5.12 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने यज्ञ का अर्थ, महत्व एवं पुरूषार्थ चतुष्ट्य का अध्ययन किया और जाना कि मानव जीवन में इनकी क्या उपयोगिता है। प्रस्तुत इकाई में आप वर्णोत्पति, विकास, गुप्तोतरकालों में वर्णों की स्थिति तथा ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आपको वर्णोत्पति, विकास, गुप्तोतरकालों में वर्णों की स्थिति तथा ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम का विशेष ज्ञान प्राप्त होगा। इससे हम युवा पीढ़ी वर्तमान की सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में कामयाब होंगे। समाज का व्यवसाय और समान हितों के आधार पर वर्गों में विभाजन प्रायः सभी देशों में देखने को मिलता हैं।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- वर्ण व्यवस्था क्या है इसे समझा सकेंगे।
- ब्रह्मचर्य आश्रम से परिचित हो पायेंगें, और उसका उल्लेख कर सकेंगे ।
- गृहस्थ आश्रम की विस्तार से व्याख्या कर सकेंगे।
- वानप्रस्थ आश्रम का महत्व बताएंगे।
- सन्यास आश्रम की व्याख्या करेंगे।

5.3 वर्ण शब्द का अर्थ एवं उत्पति

वर्ण शब्द का शाब्दिक अर्थ रंग से हैं । वर्ण का अर्थ चरित्र, स्वभाव और गुण भी हो गया। आर्य 'वर्ण से सच्चरित्र' अच्छे स्वभाव और अच्छे गुणों वाले व्यक्ति का बोध होने लगा। वहीं 'दास वर्ण' से दुश्चरित्र, बुरे स्वभाव और दुर्गुणों वाले लोगों का बोध होने लगा।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार देवताओं ने आदि पुरुष के चार भाग किए जिसमें ब्राह्मण उसका मुख था और राजन्य उसके बाहु थे। उसकी जंघा वैश्य थे तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए। यथा- **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्---------- शूद्रोऽजायत् ।।** अर्थात् उस विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति बताई गयी है।

इसका लाक्षणिक अर्थ यह लगाया गया हैं कि आदि पुरुष ने मनुष्य मात्र को शिक्षा प्रदान कराने के लिए ब्राह्मणों की सृष्टि की, अपनी पूरी शक्ति से मनुष्य मात्र की रक्षा करने के लिए क्षत्रियों की सृष्टि हुई । सम्भवतः जंघा शरीर के निचले भाग की प्रतीक है अतः जिसमें भोजन पचता था। इसका यह अर्थ लगाया गया कि मनुष्यों को भोजन देने के लिए वैश्यों की उत्पत्ति हुई शूद्र के आदि पुरुष को सृष्टि या समस्त सामाजिक संगठन का प्रतीक माना गया हैं।ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों का भी उल्लेख है जबकि पहले पांच वर्णों के विद्यमान होने का संकेत मिलता हैं। ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में समाज के ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, और शूद्र चारों वर्णों का उल्लेख हैं। ब्रह्म शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में पुरोहित या गुणवान व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ हैं। इस काल में आर्यों को अनार्यों से संघर्ष करने के लिए योद्धाओं का अलग वर्ग बन गया जिसमें अधिकतर जन जातियों के नेता सम्मिलित हुए। यह वर्ण 'राजन्य' कहलाया। आर्यों के समाज के शेष व्यक्ति जिन्हें राजन्य वर्ग के संरक्षण की आवश्यकता थी उन्हें 'विश' कहा गया। ये व्यक्ति साधारणतया कृषि कार्य पशुपालन, उद्योग और व्यापार आदि में लगे

रहते थे, जबकि अनार्य लोग आर्यों की सेवा करते या शिल्पों में लगे रहते। उन्हें साधारणतया 'शूद्र' या 'दास' कहा जाता था।

ऋग्वेद के नौवें मण्डल से यह स्पष्ट होता हैं के इस समय तक व्यवसाय चुनने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं थोपा गया था। इस समय आर्य लोहे का प्रयोग करते थे और नगरों का विकास होने लगा था। इस काल में आर्य जौ के अतिरिक्त चावल का उपयोग भोजन के रूप में करने लगे। इस काल में वर्णव्यवस्था पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी। पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क कम हो गया और भारत के आदि निवासियों की संस्कृति के कुछ तत्त्व आर्यों ने अपनी संस्कृति में मिला लिए। इस काल की प्रमुख भाषा संस्कृत थी। रोमिला थापर के अनुसार सम्भवतः आर्यों ने हल का प्रयोग मुण्डा भाषा बोलने वाली जातियों के सम्पर्क में आने पर किया, क्योंकि संस्कृत में हल के लिए अधिकतर 'लॉडल' शब्द प्रयुक्त किया हैं और चावल का प्रयोग भी द्रविड़ लोगों के सम्पर्क में आने के बाद किया गया, क्योंकि 'व्रीहि' शब्द द्रविड़ भाषा का हैं। उत्तरवैदिक काल में धार्मिक कृत्यों में भी अनेक अनार्य तत्वों को सम्मिलित किया गया।

उत्तर वैदिक काल में आकर यज्ञों की क्रिया में बहुत जटिलता आ गई इसलिए ब्राह्मणों का समाज में महत्व बढ़ गया। इस काल में ब्राह्मणों का संघटन ज्ञान पर आधारित था, जन्म पर नहीं।'ऐतरेय ब्राह्मण 'में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों की उत्पति का जो विवरण मिलता हैं उससे यही पता चलता हैं कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में इस काल में कोई सहज भेद नहीं था। उसी ब्राह्मण में लिखा कि दीक्षा प्राप्त करके राजा ब्राह्मणत्व में प्रविष्ट होता हैं। इसी प्रकार के विचार 'शतपथ ब्राह्मण' ये भी प्राप्त किए गए हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उतर वैदिक काल में भी ब्राह्मण थे जिन्हें वेदों का ज्ञान था और जिनमें ऋत्विज् कार्य करने की क्षमता थी। इस काल तक ब्राह्मणों का संगठन कठोर नहीं था। पुरोहित जनता के किसी भी वर्ग से विवाह कर सकते थे यहाँ तक कि वे शूद्रों से भी पत्नियां ग्रहण करते थे। लेकिन शूद्रों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध हेय दृष्टि से देखा जाता था। ब्राह्मण की विभिन्न शाखाएं उन विद्वानों के आधार पर संगठित थीं जिन पर उनका विश्वास था जैसे कि यजुर्वेदी, माध्यंदिन, मैत्रायणी, ऋग्वेदी, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीइत्यादि। इस विभाजन से यह स्पष्ट हैं कि ब्राह्मण संगठन का आधार ज्ञान था, न कि जन्म। इस काल में क्षत्रियों का भी अपना एक अलग वर्ग था। उसमें अधिकतर कुलीन वर्ग के प्रतिनिध तथा प्राचीन जातियों के प्रमुख नेता सम्मिलित थे। उनका संगठन कठोर नहीं था। वैश्य उस विशाल जन समुदाय का प्रतिनिधित्व करते थे, जिससे ब्राह्मणों और क्षत्रियों का चयन होता था। उनके घटक अंगों की संख्या इतनी ज्यादा थी तथा उनका प्रकृति में इतना वैविध्य था कि उनके लिए संगठित स्वरूप का निर्वाह करना मुश्किल था। रोमिला थापर के अनुसार ऋग्वेदिक काल में क्षत्रियों और वैश्यों में इतना अन्तर न था जितना बाद में हो गया। इसी कारण उतरवैदिक काल के साहित्य में यह कहा गया है कि क्षत्रिय वैश्य की सम्पति का उपभोग कर सकता हैं। वैश्य क्षत्रिय को इस वजह से धन देता था क्योंकि वह उसके प्राणों की रक्षा करता था, दूसरी तरफ ब्राह्मणों को यज्ञों में दक्षिणा के रूप में वैश्य धन दिया करते थे।

शूद्र शब्द के सीमित अर्थ के अन्तर्गत वे सभी व्यकित आते थे जो आर्यों से भिन्न थे। उनकी संस्कृति से भिन्न थी। उन्हें भी इस काल में वैदिक साहित्य पढ़ने और पवित्र अग्नि के पास जाने का अधिकार प्राप्त था। वे भी अपने शवों का दाह संस्कार किया करते थे।

इस काल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में उच्चता के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। इसका प्रमाण उतर वैदिक काल के साहित्य से स्पष्ट हो जाता है, 'वाजसनेयी संहिता' में क्षत्रियों का निर्देश ब्राह्मणों से

पूर्व किया गया हैं। 'काठक संहिता' के अनुसार क्षत्रिय ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हैं। 'शतपथ ब्राह्मणों' के अनुसार ब्राह्मण राजा का अनुगमन करता हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हैं कि इस काल में यज्ञों का महत्व अत्यधिक होने के कारण ब्राह्मणों का अभिमान चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस काल के अन्त तक ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों ने जन्म के आधार पर अपना लिया पना वर्ग णअके अन्तर्गत अधिकतर दास या दस्यु ही आते थे। उनकी स्थिति समाज में इन तीन वर्णों से नीची थी। वैदिक काल की समाप्ति से पहले शिल्प और कलाओं के आधार पर अनेक उपजातियों का अभ्युदय हुआ। उतरवैदिक काल के अन्त तक जन्म के आधार पर समाज चार वर्णों में स्पष्ट रूप से बंट गया था और उनके विशेषाधिकारों और उनकी निर्योग्यताओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया था।

5.4 वर्ण व्यवस्था

इस प्रकार के वर्गीकरण का प्रमाण भारत के बाहर अन्य अनेक प्राचीन देशों में भी पाया गया हैं। प्राचीन काल में चीन का समाज)1) शिक्षित वर्ग, (2) किसान, (3)शिल्पी और)4) व्यापारी इन चार वर्गों में विभाजित था। ईराने में भी समाज में चार वर्ग थेअथर्व -, रथेष्ठ, वस्त्रयोफसुयंत और हुइति। अथर्व पुरोहित थे जिनके द्वारा धार्मिक क्रियाओं को सम्पादित किया जाता था। रथेष्ठ योद्धा थे जो देशकी रक्षा करते थे। वस्त्रयोफसुयंत का शाब्दिक अर्थ हैं 'कुलपति'। इसे हम भारतीय वैश्य वर्ण का प्रतीक समझ सकते हैं, जो कृषि, पशुपालन और व्यापार द्वारा समाज के लिए धनोपार्जन करता था। हुइति वे शिल्पी थे जो समाज के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करते थे। इन दोनों ही देशों में समाज का वर्गीकरण व्यवसायों के आधार पर किया गया था। यूरोपीय देशों में भी समाज का विभाजन सम्पति के आधार पर नोबिअभिज)त वर्ग(, क्लर्जी, (पादरी वर्ग(, फ्री फार्मर (स्वतन्त्र किसान) और सर्फ या विलेन दूसरे -से महत्वपूर्ण बात यह हैं कि इन चारों वर्गों में एकवर्गों में किया गया था। इन वर्गों के सम्बन्ध में सब के साथ वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होते थेभारत में प्रागैतिहासिक काल के जो अवशेष मिले हैं उनके आधार पर एस0सी0 मलिक ने बताया कि हड़प्पा संस्कृति में पुरोहितों का केन्द्रीय सता के रूप में बहुत महत्व था। किसानों और व्यापारियों का होना वहाँ के अवशेषों से स्पष्ट हो जाता हैं। यहां के निवासी अच्छे कारीगर थे, जो उनकी कलाकृतियों से स्पष्ट हैं। हड़प्पा के समाज में योद्धा भी थे। वहाँ उपलब्ध दुर्गयोजना तथा हथियारों की प्राप्ति से इसकी स्पष्ट पुष्टि होती हैं।-ऋग्वेद कालीन समाज में दो मुख्य वर्गों का उल्लेख मिलता हैआर्य वर्ण और दासी वर्ण। इन दोनों वर्णों में शारीरिक और सांस्कृतिक -, दोनों प्रकार के भेद थे। आर्यों ने अनार्यों के लिए शारीरिक अन्तर को व्यक्त करने के लिए निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त किए हैं कृष्णत्वक -, कृष्णगर्भ, अनास। इन विशेषणों से स्पष्ट होता है कि अनार्य काले रंग के थे। उनके बालकों का रंग भी काला था और उनकी नाक चपटी थी।

आर्य तथा अनार्यों के बीच के सांस्कृतिक अन्तर को प्रकट करने वाले निम्नलिखि शब्द ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। मृध्रवाच, अकर्मन, अयज्वन, अब्राह्मन, अव्रत, अन्यव्रत देवपीयु और शिष्वदेव। अतः यह स्पष्ट हैं कि अनार्यो की भाषा आर्यों की भाषा से भिन्न थी इसीलिए वे अनार्यों को अस्पष्ट भाषी कहकर पुकारते हैं। अनार्य वैदिक कर्मकाण्ड तथा आचार। वे आर्यदेवों की र के विचार में सविश्वा- अनुसार ऋग्वैदिक समाज को जनजातीय समाज कहने की उपेक्षा वंश परम्परा पर आधारित समाज कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। उनके अनुसार वंश परम्परा पर आश्रित समाज ने ही वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया। इन वर्णों का मूल व्यवसाय और स्थान विशेष पर आधारित था।

रामशरण शर्मा के अनुसार ऋग्वैदिक समाज में बन्धुत्व और मुखिया के पद का एक खास महत्व था और ये दोनों ही जनजातीय समाज की विशेषताएं हैं अतः इस समाज का जनजातीय कहना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता हैं।

लगभग 600 ई0पू0 से 300 ई0पू0—

कात्यायन ने श्रौत सूत्र में लिखा हैं कि वैश्य और राजन्य भी दीक्षित होने पर ब्राह्मण शब्द से सम्बोध्य हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हैं कि 'वर्ग' गुण और कर्म पर आधारित था, जन्म पर नहीं।आपस्तम्ब ने बताया कि जिसके पिता और माता का उपनयन संस्कार नहीं हुए हो उसके दो पूर्वज ब्राह्मण कहलाते हैं और उनके साथ, विवाह और भोजनादि नहीं करना चाहिए।

आपस्तम्ब के अनुसार हीन वर्णा के व्यक्ति भी अपने धर्म का पालन अच्छी तरह करने पर उतरोतर जन्मों से उच्चतर वर्णों में जन्म लेते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के द्वारा नीचे के व्यक्तियों को अपने वर्ण के कर्तव्य पालन करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। दूसरी ओर आपस्तम्ब ने बताया कि राजा को उन सब व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए जो अपने वर्ण के धर्म का पालन न करें। इस प्रकार अपने कर्तव्य की पूर्ति के द्वारा ही व्यक्ति अपनी उन्नति करता हैं और समाज का कार्य भी सुचारू रूप से चलाता हैं। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के बालकों के उपनयन संस्कार के लिए अलगअलग तुओंहे - और अवस्थाओं का निर्धारण किया गया हैं जैसे कि ब्राह्मणों के लिए बसन्त ऋतु और आठ वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म ऋतु और ग्यारह वर्ष तथा वैश्य के लिए शरद् ऋतु और बारह वर्ष निर्धारित किए गए हैं। इसका तात्पर्य यह हैं कि इस काल में जन्म के आधार पर बालकों के वर्ण मान लिए जाते थे। इस काल में ब्राह्मणों और शूद्रों के भेद पर क्रमश: अधिक जोर दिया गया। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार शूद्र प्रथम तीन वर्णों के निर्देशन में भोजन तैयार कर सकते हैं। दूसरे चरण में ब्राह्मण को शूद्रों का भोजन छोड़कर अन्य तीन वर्णों का भोजन करने की अनुमति प्रदान की गई हैं, लेकिन गौतम धर्मसूत्र में बताया गया है कि जीवन निर्वाह के साधन अगर उपलब्ध न हों तो ब्राह्मण शूद्र का भोजन कर सकता हैं। तीसरे चरण में आपस्तम्ब का विचार है कि यदि शूद्र भोजन करते समय ब्राह्मण को स्पर्श कर ले तो ब्राह्मण को भोजन करना छोड़ देना चाहिए।

इस काल से पहले भी ब्राह्मणों का शूद्रों के साथ विवाह करना हेय दृष्टि से देखा जाता था। गौतम कहते हैं कि मृत ब्राह्मण की सम्पि में से शूद्र पत्नी के द्वारा उत्पन्न पुत्र को वृति-मात्र का हक हैं। दूसरे प्रसंग में उनका विचार हैं कि जिस ब्राह्मण की पत्नी केवल एक ही शूद्र हो तो द्विजों को उसका भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हैं कि इस काल में ब्राह्मण शूद्र स्त्रियों से विवाह कर लिया करते थे।'दीर्घनिकाय' के 'अंबट्ठ सुत्त' में लिखा हैं कि अंबट्ठ ब्राह्मण ने यह दावा किया है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्राह्मण के सेवक हैं। इस आधार पर ही बुद्ध ने यह दावा किया है कि क्षत्रिय उच्चतर हैं और ब्राह्मण उनसे निम्न। 'आश्वलायनसुत्त' में यह बताया गया है कि उच्चता का आधार धर्म ग्रन्थों का ज्ञान हैं न कि जन्म। 'वासेट्ठ सुत्त' के अनुसार विभिन्न वर्णों में कोई भेद नहीं है, केवल चांडाल के भोजन का उच्छिष्ट खाना महापाप हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हैं कि शुरू में वर्णों का आधार व्यक्ति की निजी विशेषताएं थी जिनमें जन्म का कोई महत्व न था, लेकिन धीरे-धीरे जन्म वर्णों का आधार बन गया और वर्ण 'जाति' में बदलने लगेछठी शताब्दी ई0पूर0 से पहले के भारतीय समाज में अधिकतर जनजातीय विशेषताएं पाई जाती थीं। लेकिन इसके बाद जब जनों के नाम पर जनपद स्थापित होने लगे तब जातियों का महत्व बढ़ गया। जब क्षत्रिय लोहे के शस्त्रों का प्रयोग करने लगे तो उनकी शक्ति में वृद्धि हुई और वे वैश्य किसानों से जो लोहे के औजारों का उपयोग करके पहले से अधिक अन्न का उत्पादन करने में लगे थे, अब

अधिक कर वसूल करने लगे। इस प्रकार नई कृषि के कारण क्षत्रिय और वैश्य व्यापारी दोनों धनी बन गए। वैश्य अधिकतर किसान थे। धनी किसानों ने बौद्ध धर्म के प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया। वैश्य व्यापारियों ने भी इस कार्य को बहुत आगे बढ़ाया।

वैश्य और शूद्र वर्ण के व्यक्ति इससे पहले भी पूर्णतया संगठित नहीं थे। उनमें व्यवसायों के आधार पर अनेक वर्ग थे। इन्हीं व्यवसायिक वर्गों के आधार पर वैश्यों और शूद्रों में लुहार, कुम्हार, कैवर्त, गणक,ग्वाले, बढ़ई, धीवर, नापित, धोबी, जुलाहे, कलवार आदि अनेक जातियां बन गई।

300 ई0पू0 से 300 ई0 तक—

रामशरण शर्मा के अनुसार महाभारत में स्पष्टतः समाज के दो स्तर दिखलाई देते हैं। पहला स्तर वह हैं जो जनजातीय था और दूसरा स्तर वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज का हैं। उनके अनुसार दूसरे स्तर के समाज का विवेचन विशेष रूप से शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व से प्राप्त होता हैं। इस प्रकार के समाज में पशुपालक, कृषक और व्यापार वैश्य ही राजा को कर देते थे। इसमें ब्राह्मण अपनी आजीविका के लिए वैश्यों के उत्पादन पर ही निर्भर रहते थे। वर्णव्यवस्था के आधार पर आधारित समाज में जनजातीय समाज की कुछ परम्पराएं चलती रही। जब युधिष्ठर ने राजसूय यज्ञ किया तब उन्होंने अपनी पूरी सम्पति प्रजा के उपभोग करने के लिए बाँट दी जो कि एक प्रकार की जनजातीय प्रथा थी। महाभारत में स्पष्ट लिखा हैं कि ब्रह्मा ने प्रारम्भ में केवल ब्राह्मणों की रचना की थी। परन्तु अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य विभिन्न भागों में बंट गये हैं। एक दूसरे प्रसंग में उसी ग्रन्थ में लिखा गया हैं कि न तो जन्म, न संस्कार, न विद्वता, न सन्तान किसी व्यक्ति को द्विजाति की श्रेष्ठता दिला सकते हैं बल्कि किसी व्यक्ति को उसके कर्म ही द्विजाति की श्रेष्ठता दिला सकते हैं। एक शूद्र भी अच्छे कर्म के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो सकता हैं। इसी प्रकार की विचारधारा 'भगवतगीता' में मिलती हैं। गीता के एक श्लोक में कृष्ण ने स्वयं कहा हैं कि मैंने गुर्ण और कर्म के आधार पर इन चारों वर्णों की सृष्टि की हैं। गीता में ही श्लोक में बताया गया हैं - चातुर्वण्यंमयासृष्टं--- गुणकर्म विभागश:4/13) कि स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों की रचना की गई हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता हैं कि गीता की रचना के समय तक वर्ण का आधार गुण और कर्म था, जाति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। महाभारत में ही अन्य प्रसंग में जाति के सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता हैं। भीष्म ने बताया कि यज्ञ के लिए प्रजापति ने चार वर्णों की सृष्टि की हैं, उनके अलग-अलग कर्तव्य भी निष्चित किए गए हैं। लेकिन सभी वर्णों को अपने वर्ण की या अपने से एक वर्ण नीचे की स्त्री से विवाह करने की अनुमति भी दी गई थी। उनकी सन्तान का वर्ण उनके पिता का वर्ण होता था। महाभारत में स्पष्ट बताया गया हैं कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होता है चाहे उसकी माता ब्राह्मणी हो या क्षत्रिया। किन्तु यदि माता का वर्ण पिता के वर्ण से अधिक नीचा हो तो सन्तान का वर्ण माता का वर्ण हो जाता था।

उपरोक्त चारों वर्णों से भिन्न वर्णो की उत्पति भीष्म ने प्रतिलोम विवाहों के द्वारा बतलाई हैं जिसमें पुरुष का वर्ण स्त्री के वर्ण से नीचा होता था। भीष्म के अनुसार इन्हीं के द्वारा अन्य वर्णों की सृष्टि हुई। इन अन्य वर्णों को भीष्म ने निन्दनीय बताया हैं। इस प्रकार इस काल में वर्ण जाति में परिवर्तित होने लगा था। वर्ण का आधार केवल व्यक्ति के विशेष गुण और कर्म ही नहीं रहे। उसका किस वर्ण के परिवार में जन्म हुआ हैं, समाज में मातृदोष के कारण इन्हें दोषी कहा जाता था। इस प्रकार इस काल में वर्ण जाति में परिवर्तित होने लगा था। वर्ण के आधार केवल व्यक्ति के विशेष गुण और कर्म ही नहीं रहे। उसका किस वर्ण के परिवार में जन्म हुआ है, समाज में उसकी स्थिति निर्धारण का एक महत्वपूर्ण कारण माना गया।

महाभारत में लिखा हैं कि क्रोध न करना, सत्य बोलना, न्यायप्रियता, क्षमा अपनी विवाहित पत्नी से सन्तान की उत्पति, सदाचार, झगड़ों से बचना, सरलता और सेवकों का पालन-पोषण ये नौ चारों कर्तव्य ह वेदों को पढ़ाना ब्राह्मणों का प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों और व्यापार करना वैश्यों के प्रमुख कर्तव्य बताए गए हैं। आपत्ति के समय ब्राह्मणों को क्षत्रियों को वैश्यों के व्यवसाय करने की अनुमति प्रदान की गई थी। भीष्म के अनुसार देश और काल के अनुसार धर्म अधर्म हो सकता है और अधर्म धर्म हो सकता हैं। देश और काल का इतना महत्व हैं परन्तु मनु ने स्पष्ट लिखा हैं कि किसी भी वर्ण के व्यक्ति को आजीविका कमाने के लिए अपने वर्ण से उच्च वर्ण के पेशे को नहीं अपनाना चाहिए। मनु ने आपति की स्थिति में दस ऐसे व्यवसाय बतलाए हैं जिनको चारों वर्णों के व्यक्ति कर सकते हैं। ये दस व्यवसाय इस प्रकार हैं- अध्ययन , शिल्पकार्य, मजदूरी, सेवा, पशुपालन, व्यापार, कृषि, सन्तोष, भिक्षा और ब्याज लेना। महाभारत में ऐसे अनेकों उदाहरण दिए हैं जिनके द्वारा यह स्पष्ट होता हैं कि अच्छे कर्म करने से निम्न वर्ण के व्यक्ति का भी अगले जन्म में उच्च वर्ण में जन्म होता हैं। इस प्रकार हर एक व्यक्ति से यह आशा की जाती थी कि वह अपने वर्ण के उपयुक्त जो भी कर्म हों उन्हीं को यथाशक्ति सुचारू रूप से सम्पादित करें, इसी में उनका कल्याण हैं। जो व्यक्ति अपने वर्ण के अनुरूप कर्म नहीं करता वह अगले जन्म में उस वर्ण से नीचे वर्ण में जन्म लेता हैं। महाभारत के शान्तिपर्व से यह स्पष्ट हैं कि वैदिक साहित्य में वर्णित चारों वर्णों के अतिरिक्त इस समय समाज में अनेक ऐसी अन्य जातियां मौजूद थीं। महाभारत में भी सभी जातियों की उत्पति अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के द्वारा बताई गई हैं। जातियों की उत्पति का यह सिद्धांत उन लेखकों की कल्पना की सूझ थी जिन्होंनें महाभारत में शान्तिपर्व में इन प्रकरणों को जोड़ा था। मनुस्मृति और महाभारत के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर वी0एस0 सुक्थंकर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ये प्रकरण महाभारत में मनुवंश के उन्हीं विद्वानों ने दिये थे जिन्होंनें मनुस्मृति की रचना की थी।

गीता में गुणों में सत्व, रजस् और तमस् की गणना की गई हैं। जिस व्यक्ति में सत्व गुण की प्रधानता पायी जाती है वह शान्ति का जीवन व्यतीत करता हैं। जिसमें रजोगुण प्रधान होता है वह लालची प्रवृति का होता है और बहुत इच्छाएं करता है। जिसमें तमोगुण प्रधान होता है वह आलसी और लापरवाह प्रकृति का होता है। इनमें से कुछ गुण पैतृक होते हैं जबकि कुछ गुण प्रत्येक व्यक्ति को वातावरण से मिलते हैं। इन गुणों के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव बनता हैं। उसके स्वभाव के अनुरूप ही उसके कर्म निश्चित होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके गुणों के आधार पर ही निश्चित किए गए थे। ब्राह्मण में सत्व गुण की प्रधानता पायी जाती हैं अतः उससे आशा की जाती हैं कि वह शान्ति, संयम, तप, पवित्रता, स्पष्टवादिता, ज्ञान और आस्तिकता का जीवन व्यतीत करें, क्षत्रिय में रजोगुण की प्रधानता देखने को मिलती हैं, अतः उससे वीरता, साहस, सावधानी, उदारता और निर्बलों को शरण देने की आशा की जाती हैं। वैश्य के कर्म भी उसकी मनोवृति को ध्यान में रखकर कृषि और व्यापार आदि निर्धारित कर दिए गए हैं। शूद्र की मनोवृति के अनुसार उसका प्रमुख कर्तव्य तीनों वर्णों की सेवा करना निश्चित किया गया।

रामायण में भी हमें वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज का प्रमाण मिलता हैं जिसमें मुख्य रूप से वैश्य ही उत्पादन कार्य में संलग्न थे और वे ही राज्य को कर प्रदान करते थे। लेकिन रामायण में भी कुछ प्रथाएं जनजातीय समाज की मिलती हैं जैसे कि अश्वमेध यज्ञ में राजा के द्वारा सबको उपहार देना। रामायण में आश्रमों का भी उल्लेख होता हैं जो वनों में रहने वाली जनजातियों में ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित जीवन मूल्यों की शिक्षा के प्रसार केन्द्र थे। इस प्रकार रामशरण शर्मा के अनुसार महाभारत और रामायण दोनों में वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज और उससे पहले के जनजातीय समाज के वर्णन मिलते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हैं कि इस काल में वर्ण का आधार व्यक्ति के गुण और उसके कर्म के द्वारा निर्धारित होते थे, जाति का विशेष महत्व न था। सभी व्यक्तियों की अभिरूचि, बौद्धिक स्तर, सहज प्रतिभा और क्षमता एक जैसी नहीं हो सकती। इन भिन्नताओं के कारण समाज में वर्गों का बनना एक स्वाभाविक प्रक्रिया हैं। पारिवारिक व्यवसाय से भी हम इस प्रवृति को प्रोत्सहन मिलता हैं। प्रायः सभी प्राचीन समाज में इस प्रकार का वर्गीकरण पाया जाता हैं। व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति के लिए वर्ण व्यवस्था पर स्थापित होना आवश्यक था। राजाओं से उम्मीद की जाती थी कि जो व्यक्ति अपने वर्ण के अनुसार कर्तव्यों की उपेक्षा करें वे उन्हें उचित दण्ड दें।

मेगस्थनीज ने भारत में सात जातियों की चर्चा की जो इस प्रकार हैं- (1) दार्शनिक (2) किसान, (3) गोपालक, (4) शिल्पी, (5) सैनिक, (6) ओवरसियर और (7) बाउंसलर। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता हैं कि इस अवधि में कुछ व्यक्ति जाति के सिद्धान्त को अधिक महत्व प्रदान करने लगे थे। कौटिल्य ने ब्राह्मण पिता और क्षत्रिया माता का पुत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय पिता और वैश्य माता के पुत्र को क्षत्रिय कहा हैं। लेकिन वैश्य पिता और शूद्र माता के पुत्र को शूद्र का हैं। उसने रथकार को वैश्य कहा हैं और उनका अपनी जाति के सदस्यों में विवाह करने की अनुमति दी हैं। उसका भी यही मत था जो व्यक्ति अपने वर्ण के अनुरूप कार्य न करें उन्हें राजा के द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए।

वशिष्ठ के कथन से भी उपरोक्त स्थिति की पुष्टि होती हैं। उन्होंने बताया हैं कि कुछ आचार्यों का यह मत हैं कि द्विज पुरुष बिना वैदिक मन्त्रों का पाठ किए शूद्र स्त्री के साथ विवाह कर सकता है लेकिन द्विजों को ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से कुल का नाश होता हैं और उस व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता हैं कि इस काल में जन्म के आधार पर वैवाहिक सम्बन्धों पर कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए थे और समाज में अधिकतर व्यक्तियों द्वारा अपना पैतृक व्यवसाय ही होता था।सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि के सम्बन्ध में उनकी माता गौतम-बलश्री ने नासिक अभिलेख में लिखा हैं कि उसने वर्णसंकर को बन्द कर दिया था। इससे यही निष्कर्ष प्राप्त होता हैं किपहली शती ईसवी तक देश में वर्ण जाति में परिवर्तित हो चुके थे। यह निश्चित हैं कि व्यवसायों के आधार पर सातवाहन राज्य की जनता चार भागों में बँटी थी, लेकिन समाज का यह विभाजन जाति पर आधारित नहीं था। पहले वर्ग के अन्तर्गत उच्च राजकीय अधिकारी जैसे कि महाभोज, महारठी, महासेनापति आदि आते थे तो वहीं दूसरे वर्ग में अमात्य, महामात्य, भण्डागारिक, व्यापारी, सेठ आदि सम्मिलित थे। तीसरा वर्ग वैद्यों, लेखकों, सुनारों, इत्र बेचने वालों और किसानों आदि का था। चौथे वर्ग में माली, बढ़ई, धीवर आदि सम्मिलित थे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उक्त अभिलेखों में 'वर्ण' शब्द 'जाति' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया हैं।

300 ई0 से 700 ई0—

गुप्तकाल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। उन्होंने पूरे भारतीय समाज को चार वर्गों में बांटने का प्रयत्न किया। याज्ञवल्क्य ने वर्णों को जातियों में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया हैं। उसके अनुसार निर्दोष विवाह के लिए माता-पिता का एक ही जाति का होना है बताया कआवश्य तिअति।कस्मृतिकारों ने वर्णों को जातियों में परिवर्तित करने का प्रयास किया। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि वेदों में केवल चार वर्णों ही का उल्लेख मिलता हैं और उस समाज में अनेक जातियां थी। यदि वे अनेक जातियों के अस्तित्व को स्वीकार करते तो वेदों को अपौरुषेय कैसे मानते। इसलिए उन्होंने वर्ण तो चार ही माने लेकिन अन्य जातियों की उत्पति इन्हीं चार वर्णों के अन्तरवर्णीय विवाहों के आधार पर बतलायी हैं। इस प्रकार उन्होंनें वर्णों का निर्धारण जन्म के आधार पर किया और इस प्रकार जाति और वर्ग में कोई अन्तर नहीं रह गया। स्मृतिकारों का दूसरा प्रमुख प्रयोजन व्यावसायिक वर्गों को अपने

वर्ग में समाहित रखना था। इसकी पुष्टि में हमें अर्थशास्त्र से होती हैं जिसका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। स्मृतिकारों का तीसरा प्रयोजन था- विदेषियों और जनजातियों को भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बनाया जाना। इसशयउद्देष्य की पूर्ति के लिए धर्मषास्त्रकारों ने वर्णों को जातियों का रूप दे दिया।वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में भिन्न-भिन्न जातियों को अलग-अलग दिषाओं में मकान बनाने की व्यवस्था क इस काल में साधारणतया व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करते थे लेकिन ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनसे यह स्पष्ट हैं कि कुछ व्यक्तियों ने अभिरुचि और गुणों को प्रमुख मानकर अपनी जाति के लिए निर्धारित कार्य नहीं किया। विदेशी जातियों को गुप्तकाल से पूर्व ही क्षत्रिय वर्ण में स्थान दे दिया गया। इसका तात्पर्य यह हैं कि इस काल में भी गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की परम्परा विद्यमान थी। इक्ष्वाकु राजा ब्राह्मण थे। उन्होंने शकों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किए क्योंकि वे भी शासक थे।उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती हैं कि ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण साधारण जनता वर्ण सिद्धान्त की अपेक्षा जाति सिद्धान्त को अधिक महत्वपूर्ण मानने लगी थी। लेकिन इतना होने पर भी वैवाहिक सम्बन्धों और खान-पान के नियमों में अभी किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं आई जितनी कि परवर्ती काल में दृष्टिगोचर हुई।जाति प्रथा का प्रभाव व्यवसाय के चुनाव में इतना हानिकारक सिद्ध न हुआ। हम ऊपर कह चुके हैं इस काल में अनेक शासक क्षत्रितेतर अर्थात् ब्राह्मण और वैश्या जाति के थे। शक जो कि विदेशी शासक थे। अभिलेखों से ज्ञात होता हैं कि अनेक ब्राह्मण व्यापारी, वास्तुकार और राजकीय कर्मचारी थे।

गुप्तोतर काल से लेकर कुमारिल भट्ट तक के काल की वर्ण व्यवस्था—

जाति और वर्ण की बाद में विस्तृत आलोना की गई। उसके अनुसार यदि वर्ण का आधार कर्म हो तो जब कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करें तो वह ब्राह्मण हो जाएगा और जब बुरा कार्य करे तो शूद्र हो जाएगा। इस प्रकार किसी व्यक्ति की कोई निश्चित जाति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार जाति और और वर्ण दोनों के सिद्धान्तों का प्रभाव भारतीय समाज पर दिखता है। प्रारम्भ में वर्ण गुण और कर्म पर आधारित था, लेकिन बाद में भारतीय समाज व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के कारण कुमारिल के समय तक वर्ण जाति का पर्यायवाची शब्द बन कर रह गया था।

700 ई0 लगभग 'वर्ण' जाति का पर्यायवाची शब्द बन गया था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से खत्म हो गई। ब्राह्मणों ने वर्ण को जाति का पर्यायवाची शब्द मानकर जन्म के आधार पर वर्ण मानने की शुरूआत कर दी। उन्होंने मुसलमानों के आक्रमणों के बाद रक्त शुद्धि पर बहुत अधिक बल दिया और वैवाहिक सम्बन्धों खान-पान और व्यवसाय के चुनाव सम्बन्धी नियमों को अत्यन्त जटिल बना दिया। लेकिन समाज ने गुण और कर्म पर आधारित वर्ण सिद्धान्त का पूर्ण त्याग नहीं किया।

हरिश्चनन्द्र प्रतिहार जन्म के आधार पर ब्राह्मण था, लेकिन शासक होने के कारण उसका कर्म क्षत्रियों जैसा था। उसने एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया। राजषेखर ब्राह्मण जाति से था, जबकि इसकी पत्नी अवंतिसुन्दरी चाहमान राजकुमारी थी किन्तु उसी के समान विदुषी थी इसलिए उसने उससे विवाह किया। इन दोनों वैवाहिक सम्बन्धों में स्पष्ट रूप से गुण और कर्म को निरर्थक तत्व माना गया है। इस काल में ब्राह्मणों की वेदाध्ययन और यज्ञ कराने में अभिरुचि समाप्त होने लगी थी और कुछ को शस्त्र चलाना रुचिकर प्रतीत हुआ इसलिए वे योद्धा बन गए। कुछ को कृषि कार्य या व्यापार करना अच्छा लगता था, अतः उन्होंने वैश्यावृति अपना ली। कुछ उच्च पदों पर नियुक्त हुए क्योंकि उनमें इन पदों पर कार्य करने के लिए अभीष्ट गुण और योग्यता मौजूद थी। जातीय संस्कृति -इसका तात्पर्य यह हैं कि कुछ ब्राह्मणों में भी जाति के अनुरूप कार्य करने का सिद्धान्त पूर्णतया सफल नहीं हुआ। गुण और कर्म पर

आधारित वर्ण का सिद्धान्त अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। इस काल में जिन व्यक्तियों ने व्यापार किया उन सभी की गणना वैश्यों में की जाने लगी। राजस्थान में अग्रवाल, माहेश्वरी, जायसवाल, खण्डेलवाल और ओसवाल सभी अपनी उत्पति क्षत्रियों से मानते है। इन पर जैन सम्प्रदाय की शिक्षाओं का कुछ इस प्रकार प्रभाव पड़ा कि उन्होंने क्षात्र धर्म छोड़कर वैश्यारवृति अपन ली। उन्होंने माँस भोजन छोड़ दिया और शाकाहारी हो गए और उनकी गणना वैश्यों में होने पर भी इस काल में वर्ण सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा।

शूद्रों का अपना कोई संगठन नहीं था। उनमें अधिकतर पैतृक व्यवसाय करते ही थे। अतः उनके वर्गीकरण में वर्ण सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा। शिल्पियों और द्विजों की संस्कृति से हीन सांस्कृतिक स्तर वाले सभी व्यक्तियों को जिनकी पहले अपनी श्रेणियां थी, शूद्र कहा गया। उनकी आर्थिक स्थिति इस काल में पहले की अपेक्षा और भी खराब हो गई थी इसलिए उन्हें उच्च पदों पर भी नियुक्त नहीं किया गया और समाज में उनकी प्रतिष्ठा घट गयी।

इस काल में वर्ण का निर्धारण किसी व्यक्ति के नैतिक और बौद्धिक स्तर के आधार पर नहीं होता था। स्मृतियों में भी वर्णों के कर्तव्यों पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया जिससे समाज की यथेष्ठ उन्नति हो सके। जन्म के आधार पर किसी व्यक्ति के अधिकारों या विशेषाधिकारों का कोई महत्व नहीं था। वर्ण व्यवस्था में आनुवांशिकता और जन्म को अधिक महत्व प्रदान नहीं किया जाता हैं। इसका परिणाम यह होता हैं कि व्यक्ति विशेष अपने विशेषाधिकारों को प्राप्त करने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रहता है और अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए प्रयत्न करता हैं। जाति शब्द का प्रयोग सबसे पहले निरूक्ति से प्राप्त होता है। स्मृतियों में बहुधा वर्ण और जाति अपने मौलिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं किए गए हैं। एक शब्द को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त कर दिया गया हैं। मनु ने एक प्रसंग में वर्ण को संकर जातियों के अर्थ में बताया है। इसके विपरीत मनु ने अनेक प्रसंगों में 'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के अर्थ में किया हैं। याज्ञवल्क्य ने एक प्रसंग में 'वर्ण' और 'जाति' दोनों शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया हैं। याज्ञवल्क्य ने भी एक दूसरे प्रसंग में 'जाति' शब्द का प्रयोग वर्ण के अर्थ में किया है। कालान्तर में वर्ण और जाति का भेद प्रायः खत्म हो गया। वर्ण की संकल्पना में निम्नलिखित विशेषताएं मानी जाने लगी। जो इस प्रकार है-

(1) जन्म पर आधारित समाज में व्यक्ति की स्थिति।

(2) सामाजिक वर्गों का निश्चित अनुक्रम।

(3) सजातीय विवाह और धार्मिक कृत्यों की पवित्रता के नियम।

समाज में किसी सामाजिक वर्ग की प्रस्थिति के दो पक्ष मौजूद हैं। धार्मिक कृत्यों के आधार पर और आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के आधार पर। धर्मशास्त्रों में अधिकतर पहले पक्ष का विवेचन पाया जाता हैं। सभी स्मृतिकारों ने इस बात पर बल दिया हैं कि राजा को सब व्यक्तियों को उनके वर्ण के लिए उपरोक्त कर्तव्यों को करने के लिए बाध्य करना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा नहीं करे उसे दण्डित करना चाहिए। वर्णसंकर को रोकना भी सजा का प्रमुख कर्तव्य लिखा हैं। वैदिक काल में ही व्यक्तियों में अपने को श्रेष्ट समझने की भावनाओं का उदय हो गया था। इन्हीं दो भावनाओं ने कालान्तर में अनेक जातियों और उपजातियों के विकास को प्रोत्साहित किया। भौगोलिक कारणों से भी अनेक उपजातियाँ बनीं। सामाजिक कार्यों को सम्पादित करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण, योग्यता और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती हैं और समाज में व्यक्तियों में भी भिन्न-भिन्न योग्यताएं पाई जाती हैं। इसलिए समाज का यह कर्तव्य हो जाता हैं कि वह ऐसी व्यवस्था करें कि प्रत्येयक व्यक्ति को उसके गुणों और योग्यता के आधार पर कार्य करने का अवसर मिले। प्राचीन भारतीय संस्कृति में समाज में प्रतिष्ठा का मापदण्ड कभी भी किसी व्यक्ति की धन-सम्पति से नहीं लगाया जाता हैं। उच्चतम वर्ण के व्यक्तियों से यह आशा की

जाती थी कि वे सांसारिक सुखों को त्यागकर जंगलों या गांवों और नगरों से दूर सादा जीवन व्यतीत करें। जहाँ सांसारिक आवश्यकताएं बहुत सीमित थी । वर्गीकरण का मुख्य आधार विश्वा में सभी जगह मनोभावों का समान रहना बताया गया हैं। प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार अपना कर्तव्य पूरा करें जिसके द्वारा समाज की सर्वांगीण उन्नति हो सके । एक वर्ण को दूसरे वर्ण से उच्च समझने की भावना उनमे न थी । उदाहरण के रूप में ब्राह्मण का अंग प्रमुख कर्तव्य समाज की बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृति को आगे सभी दोषों से मुक्त रखना तथा बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृति को आने वाली पीढ़ियों को सौंपना था । इसी आधार पर ब्राह्मण को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे जैसे कि समाज में उनकी ऊँची प्रतिष्ठा तथा राजा तक आसानी से पहुंच । उससे स्वार्थ त्याग और समाज सेवा की भावना की उम्मीद सबसे अधिक की जाती थी । इसी प्रकार वर्णों के कर्तव्य थे और उन कर्तव्यों के आधार पर ही उसके अनुरूप उन्हे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त था । वर्ण व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को वे कर्तव्य सौपने थे जो उसके गुणों के अनुरूप थे । उनमें पूर्ण सफलता प्राप्त करके वह अपनी उन्नति तो करता ही साथ ही साथ समाज का भी अधिक-से-अधिक कल्याण करता था ।

वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण को धन इकट्ठा करने की अनुमति न थी । क्षत्रिय भी उतने धन का संचय कर सकता था जितना देश और समाज की रक्षा के लिए आवश्यक था । वैश्य को धन-संचय का अधिकार था, किन्तु केवल अपने लिए नहीं बल्कि समाज की और समाज की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए । वह उस धन का उपयोग इस तरह करता था जिससे उसके राज्य के गांव, नगर या जनता को लाभ प्राप्त हो । वर्ण व्यवस्था में एक वर्ण को दूसरे से श्रेष्ठ समझने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यह कहा गया हैं कि जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है । उसकी प्रतिष्ठा इस पर निर्भर करती हैं कि वह किस सीमा तक समाज की उन्नति में अपना योगदान देता हैं । कुछ देशों में समाज में प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिष्ठा का आधार उसकी धन-सम्पति और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली शक्ति या अधिकार थे । भारत में सम्पति को किसी व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा से अलग रखने का प्रयत्न किया गया ।

जाति व्यवस्था का सबसे बड़ा अवगुण यह हैं कि इसमें जन्म के सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता हैं । वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य उसकी सहज मनोवृति और उसके गुणों के आधार पर निश्चित होते थे । इसलिए वर्तमान काल में भी वर्ण व्यवस्था का आधार किसी व्यक्ति का कार्य या उसकी कार्यक्षमता होनी चाहिए न कि उसका जन्म । हर एक व्यक्ति को समाज में अपनी सहज मनोवृति और योग्यता के अनुसार अपना कार्य चुनने की आजादी होनी चाहिए । किसी भी वर्ण के विशेषाधिकार नहीं होने चाहिए क्योंकि प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति समाज में अपनी मनोवृति और योग्यता के अनुसार समाज की उन्नति में योगदान देता हैं । वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्तिगत गुणों या मनोवृति के अनुसार समाज के कार्यों का योग्य व्यक्तियों में विभाजन होना चाहिए, चाहे कोई कार्य बौद्धिक हो या शारीरिक श्रम का, प्रत्येक कार्य को बराबर सम्मान दिया जाना चाहिए ।

5.5 श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार वर्ण व्यवस्था

भगवान् बताते हैं कि हमारे यहाँ जो चार वर्णों की व्यवस्था समाज में मानी गयी हैं, वह व्यवस्था भी प्रकृति के तीन गुणों सत्व, रज और तम के कारण ही मानी गयी हैं । चारों वर्णों यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का निर्धारण होना भी प्रकृति के (त्रय) गुणों के आधार पर ही माना गया हैं । भगवान् के अनुसार चारों वर्णों के मनुष्यों को अपने-अपने वर्ण के अनुसार जो भी कर्म मिले हैं, उन्हें उन कर्मों को बिना आसक्ति, बिना किसी कामना से और बिना किसी फल की इच्छा के अनुरूप व ईश्वर का कर्म मानकर ईश्वर के लिए करते रहना चाहिए । ऐसा करना उनकी पूजा-अर्चना जैसा ही हैं, जिसे वे विराट्

(बड़े) भगवान के लिए ही करते हैं। भगवान कहते हैं कि यदि क्षत्रिय वर्ण के आदमी को शत्रु से लड़ते हुए हत्या की बुराई भी अपने कर्म में दिखलाई पड़े तब भी अपने स्वधर्म के अनुसार स्वकर्म को अपनाना चाहिए औा फलाकांक्षा के बिना अपने कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए। क्योंकि स्वभाव से प्राप्त अपना कर्म यदि दोष(बुराई) वाला भी हैं तो भी वह दूसरों के धर्म को अपनाने से अच्छा ही हैं। अपना नियत कर्म करने वाले को कभी पाप नहीं लगता हैं क्योंकि सभी कामों में कोई न कोई बुराई (कम या अधिक) वैसे ही होती हैं, जैसे आग के साथ धुआं होता है।

भगवान कहते हैं कि समाज सभी प्रकार के लोगों से निर्मित है। इसलिए सभी लोगों के कल्याण (भलाई) के लिए अर्थात् समाज का काम चलाने के लिए विद्वान और ज्ञानवान के अतिरिक्त सभी तलवार चलाने वाले क्षत्रिय भी चाहिए। बर्तन बनाने वाले कारीगर के साथ लोहार तथा बढ़ई भी चाहिए। बर्तन बनाने वाले कुम्हार और कपड़ा बनाने वाले जुलाहे भी चाहिए। यहां तक कि मछुहारे, बहेलिये भी चाहिए। समाज का काम चलाने के लिए उपर्युक्त सभी चाहिए। हाँ, शर्त केवल एक ही हैं कि ये सभी अपना काम स्वार्थ की बुद्धि से न करके अहंकार छोड़कर समाज की भलाई के लिए अर्थात् विश्व की भलाई के लिए करें। संक्षेप में भगवान् ने बताया कि चाहे कोई भी वजह हो, जब एक बार कोई भी काम हमने अपना काम मान लिया तो फिर चाहे उसमें कोई भी कठिनाई क्यों न आये और चाहे वह किसी भी कारण से नापसन्द हो जाये, तब भी अन्य किसी बात की परवाह किये बिना उस काम को अवश्य ही करते रहना चाहिए, क्योंकि कोई भी काम अच्छा या बुरा नही होता हैं और न ही किसी काम को करने से कोई आदमी छोटा या बड़ा होता हैं। काम के बारे में उनका यह कहना हैं कि आदमी अपना वह काम किस भावना से और किस बुद्धि से करता हैं। जिसका मन शान्त हैं, जिसने सबको अपने-जैसा मान लिया है, जिसने सब प्राणियों में रहने वाले उस परमात्मा को जान लिया हैं, फिर वह मनुष्य चाहे जिस देश का हो, जिस जाति का हो, जिस वर्ण का हो कोई भी काम करता हो, गोरा हो या काला हो, किसी भी प्रकार से पूजा-पाठ करने वाला हो, हिन्दू हो, बौद्ध हो, जैन हो, मुसलमान हो, सिक्ख हो या दूसरे किसी भी धर्म का हो अर्थात् उसकी व्यक्तिगत या देहगत पहचान कुछ भी हो, अपने
कर्म को करते रहने वाला वह मनुष्य अन्त में मोक्ष को ही प्राप्त करता है।

5.6 आश्रम व्यवस्था

आश्रम शब्द श्रम से बना हैं, जिसका अर्थ हैं मेहनत करना। आश्रम का अर्थ हैं श्रम करते-करते ठहरने का स्थान। इस प्रकार कहा जा सकता हैं कि आश्रमों का अर्थ वे स्थान जहाँ जीवन-यात्रा करते हुए मनुष्य कुछ समय के लिए ठहरता हैं। प्रत्येक आश्रम जीवन में एक व्यवस्था हैं जिसमें कुछ काल तक प्रशिक्षण प्राप्त करके प्रत्येक व्यक्ति आगामी व्यवस्था के लिए अपने को तैयार करता हैं। इस व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य आध्यात्मिक विकास करके प्रत्येक को मोक्ष कराना था। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति चारों आश्रमों में संयत और अनुशासनात्मक जीवन व्यतीत करता था। जिस व्यक्ति के सामने जीवन का लक्ष्य नष्ट न हो वह संयत जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। समस्त मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की तैयारी था। इस प्रकार इन चारों आश्रमों में शेष तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम चौथे पुरुषार्थ मोक्ष के साधन मात्र थे।

छांदोग्यउपनिषद में केवल तीन आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ का उल्लेख मिलता है किन्तु बाद के उपनिषदों में चारों आश्रमों का वर्णन मिलता हैं। इसका यह अर्थ हैं कि प्रारम्भ में सन्यास को आश्रम नहीं माना जाता था। श्वेताताश्वर उपनिषद् के अनुसार सन्यासी सब आश्रमों से अलग हैं। सन्यासी सभी बन्धनों से मुक्त हैं, इसी कारण उसे किसी आश्रम में रखना आवश्यक नहीं समझा जाता था। धर्मसूत्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को क्रम से इन चारों आश्रमों के नियमों का पालन करना चाहिए। कई

सूत्रकारों की यह भी धारणा थी जिस व्यक्ति ने पहले तीन आश्रमों के नियमों का विधिपूर्वक पालन नहीं किया हैं वह मोक्ष के लिए प्रयत्न करने का भी अधिकारी नहीं माना जा सकता।

कौटिल्य का मत है कि अहिंसा, सत्य, पवित्रता, ईर्ष्या न करना, दूसरे के अच्छे गुणों की प्रशंसा, दया और सहिष्णुता ऐसे गुण हैं जिनका सभी आश्रमों में अनुसरण करना चाहिए। राजा को उन सभी को दण्ड देना चाहिए जो अपने आश्रमों में कर्तव्यों का पालन न करते हों क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था न रहने से समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी और संसार नष्ट हो जाएगा और यदि सभी व्यक्ति इन नियमों का पालन करेंगे तो समाज की उन्नति होगीं।

5.6.1 ब्रह्मचर्य आश्रम

धार्मिक विद्यार्थी के अर्थ में ब्रह्मचारी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में मिलता हैं। गायत्री मन्त्र से स्पष्ट हैं कि ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी के दो प्रमुख उद्देश्यों यथा बुद्धि का विकास और चरित्र के निर्माण का स्थान दिया गया था। इस आश्रम में बालक अपनी इच्छा और मनोभावों पर नियंत्रण करके अतीत के साहित्य को पढ़कर बड़ों का आदर करता तथा सादा जीवन व्यतीत करके उच्च विचारों को अपनाता था।

संस्कारों की विवेचना में यह उल्लिखित हैं कि उपनयन संस्कार से पूर्व जीवन अनुशासनहीन एवं अनियमित तथा निरुद्देश्य होता हैं। यह संसार मानव को नियमित जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करता हैं। सभी मानव जन्मत: शूद्र उत्पन्न होते हैं। इस संस्कार से उसका दूसरा जन्म होता हैं। भारतीय ऋषियों का विश्वास था कि मनुष्य तीन ऋण लेकर पैदा हुआ है- ऋषियों के प्रति, परमात्मा के प्रति और पूर्वजों के प्रति। वेदाध्ययन द्वारा ही वह ऋषियों का ऋण चुकता कर सकता था। इस प्रकार वेदाध्ययन एक कर्तव्य था, इसके द्वारा मानव सामाजिक धरोहर को निरन्तर गतिशील बनाए रखता था ताकि यह ऋषियों द्वारा प्रदत्त साहित्य से आगे जाने वाली संततियों के जीवन में उत्साह भर सके और उनका उचित मार्गदर्शन कर सके।

ध्यातव्य हैं कि उपनयन संस्कार के बाद बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था जिसका (उपनयन संस्कार) सबसे प्राचीन उल्लेख अथर्ववेद में मिलता हैं। शतपथ ब्राह्मण में उपनयन संस्कार की उन सभी विशेषताओं का उल्लेख हैं जो गृहसूत्रों में दी गई हैं। वे चार विशेषताएँ इस प्रकार हैं।- (1) विद्यार्थी की प्रार्थना पर गुरु उसको अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करता था। (2) आचार्य उस बालक को कुछ देवताओं के संरक्षण में देता था। (3) गुरु विद्यार्थी को वे व्रत और कर्तव्य बतलाता था जो गुरु के परिवार में रहते हुए उसे करने पड़ते थे यथा अग्नि में समिधाएँ लगाना, आचमन करना, और भिक्षा मांग कर लाना। (4) आचार्य बालक को उसकी वेशभूषा बतलाता था यथा मृगचर्म, मेखला, दण्ड आदि। गृहसूत्रों में दैनिक जीवन में उपयोगी कुछ अन्य शिक्षाएँ भी मिलती हैं यथा ब्रह्मचारी को वर्षा में बाहर नहीं निकलना चाहिए। जल में मूत्र नहीं करना चाहिए। गृहसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण बालक का आठ वर्ष की, क्षत्रिय का ग्यारह वर्ष की और वैश्य का बारह वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार होना चाहिए। इस संस्कार से पूर्व बालक को गायत्री मन्त्र पढ़ाया जाता था। एक ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत, मेखला और दण्ड धारण करना पड़ता था। जब आचार्य को यह विश्वास हो जाता था कि बालक वास्तव में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेगा तब वह उसे अपना शिष्य बना लेता था। ध्यातव्य हैं कि उपनयन संस्कार को बालक का दूसरा जन्म समझा जाता था। इसलिए उसे 'द्विज' कहा जाता था। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य यह था कि बालक जिस आश्रम में प्रविष्ट हो रहा है उसके उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझ सके। इस संस्कार के बाद गुरु बालक को शरीर स्वच्छ रखने और सदाचार का जीवन बिताने के विषय में उपदेश देता था। उसे एक निर्धारित पोशाक पहननी पड़ती थी। उसकी दिनचर्या पूर्व निर्धारित होती थी।

उसे गुरु के आश्रम में रहना पड़ता था तथा उसे आश्रम के सभी कार्यों में गुरु की सहायता करनी पड़ती थी। इस समय आचार्य को बालक का आध्यात्मिक पिता समझा जाता था। आचार्य का कर्तव्य था कि वह ब्रह्मचारी को सत्य का ठीक वह रूप बतलाए जैसा कि वह स्वयं समझता था। आचार्य शिष्य को अज्ञान के अन्धकार से ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाता था **असतो मा सदगमय तमसोमाज्योतिर्गमय** आचार्य ब्रह्मचारी से अपने पुत्र की भांति प्रेम करता था और बड़े ध्यान से आत्म-विद्या और धर्मशास्त्र पढ़ाता था। शिष्य भी संयम से खाता था, कम कपड़े पहनता था और गुरु से पहले उठता और बाद में सोता था। गौतम के अनुसार एक ब्रह्मचार को अपने जिह्वा, बाहुओं, और पेट पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए और अनुशासन में रहना चाहिए। ब्रह्मचार्य आश्रम में विद्यार्थी बौद्धिक विकास के साथ-साथ अपना नैतिक विकास भी करना चाहिए। उसे देवताओं और अतिथियों के प्रति भी अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए। इस काल में विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था, इसके बिना बौद्धिक और नैतिक उन्नति असम्भव थी। इस समय ब्रह्मचारी के तीन प्रमुख कर्तव्य थे यथा वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय, आचार्य, आचार्य की सेवा और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन। इस आश्रम में मन, वचन, कर्म से सत्य और धर्म का पालन आचार्य, माता-पिता और अतिथियों की सेवा, ईश्वंर के प्रति विश्वास और उदारता आदि के गुणों के विकास पर बहुत बल दिया जाता था।

शिक्षा की समाप्ति पर आचार्य शिष्य को उपदेश देता था कि **सत्यं वद धर्मं चर** अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। अपनी कुशलता का ध्यान रखो। ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो। देवताओं और पूर्वजों के प्रति कर्त्तव्य की उपेक्षा मत करो। अपने माता-पिता, आचार्य और अतिथि को देवता के तुल्य समझो। मेरे अच्छे कर्म हैं उन्हीं का अनुसरण करना, दूसरे कर्मों का नहीं। उपरोक्त उक्तियों से स्पष्ट हैं कि वैदिक काल में ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जिससे वह विद्योपार्जन में सफल होकर भावी गृहस्थ जीवन भी इस प्रकार व्यतीत करे कि वह समाज का उपयोगी सदस्य बनकर समाज की उन्नति में सहायक हो सके।

मनु ने भी ब्रह्मचारियों की पोशाक, भिक्षा मांगकर लाने के कर्त्तव्य, उसे गुरु को देने के पश्चात् शेष भोजन में से स्वयं कम भोजन करने आदि का वर्णन किया हैं। उनके अनुसार पोशाक में ब्राह्मण के लिए सन का वस्त्र, क्षत्रिय के लिए रेशम का और वैश्य के लिए ऊन का वस्त्र पहनने की अनुमति दी गई हैं। इससे स्पष्ट होता हैं कि जितना ही उच्च वर्ण का बालक होता था उतना ही मोटा या खुदरा कपड़ा उसे पहनना पड़ता था। विद्यार्थी यज्ञोपवीत और डंडा धारण करता था। ब्रह्मचारी न तो अपने शरीर पर किसी प्रकार के तेल की मालिश आदि करता, न आँखों में सुरमा लगाता था, न इत्र, न छतरी और न जूता धारण करता और न संगीत, वाद्य, नृत्य, जुआ और गपशप में भाग लेता। इस समय यह आवश्यकता से अधिक स्त्रियों से बात नहीं करता था और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता था। उसे सत्यभाषी, नम्र और संयमी होना पड़ता और काम, क्रोध व लोभ से मुक्त रहना पड़ता था। वह किसी प्रकार कि प्रति हिंसा का व्यवहार नहीं करता था।मनु के अनुसार एक ब्रह्मचारी को सूर्योदय से पूर्व उठना चाहिए। वह किसी दिन वह सूर्योदय के बाद ही उठे तो उसे उपवास रखना चाहिए और गायत्री मंत्र का जप करना चाहिए। इस समय वह दोनों समय संध्या करता और शरीर की शुद्धि के लिए स्नानादि करने के नियमों का सहीपूर्वक पालन करता। एक ब्रह्मचारी बड़ी सावधानी से आचार्य के प्रवचन सुनता, कम भोजन करता, सादी पोशाक पहनता, गुरु से पहले उठता और बाद में सोता था। वह कभी भी गुरु की निन्दा नहीं सुनता था। उपरोक्त उक्तियों से स्पष्ट हैं कि ब्रह्मचारी आचार्य का बहुत आदर करता था। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा हैं कि ब्रह्मचारी को स्वाध्याय करने के लिए आचार्य की सेवा करनी चाहिए। सदा सावधानी से उसके कथन को सुनना चाहिए और मन, वचन और शरीर से गुरु के हित एवं उन्नति का प्रयत्न करना चाहिए। केवल

शिक्षा समाप्त होने के बाद एक ब्रह्मचारी अपनी सामर्थ्यानुसार गुरु-दक्षिणा देता था । विद्या-प्राप्ति के इच्छुक ब्रह्मचारी निश्चय ही पूर्ण अनुशासन में रहते थे। समाज के किसी भी वर्ग का चाहे अमीर वर्ण का हो या निर्धन वर्ण का प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त था। इस समय प्रत्येक द्विज का यह पवित्र कर्तव्य था कि वह वेदों का अध्ययन करे और शरीर से गुरु के हित एवं उन्नति का प्रयत्न करे । विद्यार्थी भौतिक सुखों का कम से कम उपयोग करता था और सादा जीवन व्यतीत करता था क्योंकि जीवन की यह पद्धति ही यौवनावस्था के प्रबल वेग को रोकती थी। मनु के अनुसार जिस विद्यार्थी ने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है यदि वह केवल गायत्री मन्त्र जानता हैं तो वह उस ब्रह्मचारी से अच्छा हैं जो चारों वेदों को जानने वाला हैं किन्तु जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। उसी ने लिखा हैं कि बिना चरित्र निर्माण के ज्ञान की प्राप्ति व्यर्थ हैं और चरित्र निर्माण के लिए इन्द्रियों को वश में करना अनिवार्य हैं। जिस विद्यार्थी के मन और वाणी पवित्र हैं और सदा सुरक्षित रहते हैं वही वेदाध्ययन का पूर्ण लाभ उठा सकता हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम में चारों पुरुषार्थों में धर्म का सबसे अधिक महत्त्व समझा जाता था । एक ब्रह्मचारी धर्म के द्वारा काम और अर्थ पर नियन्त्रण रखता था। उसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि वह ऐसी शिक्षा प्राप्त करे कि भावी जीवन में वह अपने धर्म का पालन कर सके जिससे कि गृहस्थाश्रम में वह देवताओं, ऋषियों, और पूर्वजों के ऋणों से उऋण हो जाये और अतिथियों की सेवा शुश्रूषा करके अन्य मानव के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर सके। इस प्रकार ब्रह्मचारी इस आश्रम में शिक्षा प्राप्त करके और निर्दिष्ट नैतिक नियमों का पालन करके ही धर्म का पालन करता था। इस प्रशिक्षण के द्वारा ब्रह्मचारी के जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का भी महत्त्व स्पष्ट झलकता हैं।

5.6.2 गृहस्थ आश्रम

विद्या समाप्ति के बाद एक ब्रह्मचारी अपने घर लौटता था जिसे समावर्तन कहा जाता था। इसके बाद वह ब्रह्मचर्य के व्रतों से मुक्त होने के लिए स्नान करता था तब इस स्थिति में उसे स्नातक कहते थे। एक स्नातक जब अपने बालकों, मित्रों व पड़ोसियों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करता था। इस प्रकार वह एक योग्य नागरिक बना जाता था । गृहस्थ के दैनिक कर्त्तव्यों में पंच महायज्ञों यथा देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ की विशेष महत्ता थी। इन यज्ञों के द्वारा वह एक गृहस्थ के रूप में अपने परिवार और समाज के प्रति सभी कर्तव्यों का निर्वहन करता था जो इसके निजी कल्याण का कारक था। ऋग्वेद में एक गृहस्थ हेतु गृहपति शब्द का प्रयोग किया गया है । इस समय एक गृहस्थ के तीन प्रमुख कर्तव्य थे यथा यज्ञ, अध्ययन व दान । इस प्रकार यज्ञ करके देवताओं का अध्ययन (वैदिक ग्रन्थें का) करके ऋषियों का तथा सन्तान पैदा करके वह अपना ऋण चुकता करता था। कौटिल्य का मत है कि राजा का उन सभी को दण्डित करना चाहिए जो परिवार के कर्त्तव्यो को पूरा न कर सकें। उन्होंने यह भी कहा कि एक राजा को उन सन्यासियों को गांवों में प्रवेश नहीं देना चाहिए जो उन्हें ऐसा बनने के लिए प्रेरित करते हैं। बौधायन धर्मसूत्र में गृहस्थों को दो प्रकारों में बांटा गया है यथा शालीन व यायावर। इनमें शालीन का अपना घर व संतति होती थी जबकि यायावर सम्पत्ति अर्जित करने के अभिलाषी थे । महाभारत में यह उक्ति स्पष्ट रूप से कही गई हैं कि गृहस्थ जीवन से ही मानव अपने जीवन का लक्ष्य पूरा कर सकता हैं। महाभारत के रचनाकार द्वैपायन व्यास का कहना हैं कि एक गृहस्थ के रूप में पूर्ण जीवन व्यतीत कर तथा इस आश्रम के कर्तव्यों को पूरा करके प्रशिक्षण प्राप्त करना शास्त्रसम्मत श्रेष्ठ धर्म माना जाता हैं। इसी आश्रम में एक मानव तीनों पुरुषार्थों यथा धर्म, अर्थ व काम का पालन कर मोक्ष की तरफ आगे बढ़ सकता हैं। इस प्रकार मानव जीवन के व्यक्तिगत व सामाजिक सभी उत्तरदायित्वों की पूर्ति इसी आश्रम में रहकर कर सकता हैं।

मनुस्मृति में यह कहा गया हैं कि जिस प्रकार वायु के सहारे मानव जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ पर निर्भर हैं क्योंकि शेष तीनों आश्रमवासियों का पोषण अन्न व ज्ञान के द्वारा एक गृहस्थ के द्वारा ही हो पाता हैं। यही कारण हैं कि उत्तरदायित्वों की पूर्ति इसी आश्रम में रहकर कर सकता हैं।

5.6.3 वानप्रस्थ आश्रम

ताण्ड्य महाब्राह्मण में सर्वप्रथम इस आश्रम का उल्लेख मिलता हैं। जब मनुष्य के सिर के बाल सफेद हो जाते थे व शरीर पर झुर्रियां पड़ जाती थीं तब वह इस आश्रम में प्रवेश करता था। इसका अभिप्राय यह हैं कि वह इस अवस्था तक यह भली-भाँति समझ जाता था कि इन्द्रियों के सुख स्थायी नहीं हैं, इसलिए वह जीवन के प्रमुख लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु वन जाने का निश्चय करता था। इस आश्रम में मनुष्य अपने परिवार, घर व गांव को त्याग कर वन में जाकर रहता था। इस समय उसका प्रमुख उद्देश्य इन्द्रियों को अपने वश में करना था। वह किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करता था। वह ब्रह्मजीवन व्यतीत करता था, वर्षाऋतु में एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाता था, केवल भिक्षा हेतु गांव की यात्रा करता था तथा एक गांव में एक रात से अधिक नहीं रहता था। शरीर पर केवल कौपीन धारण करता था, पौधे से फल-फूल नहीं तोड़ा करता था तथा भोजन हेतु बीजों को नष्ट नहीं करता थ। वह अपने भोजन हेतु गृहस्थों पर आश्रित रहता था। इस आश्रम में वह कन्दमूल खाकर अपना जीवन बिताता था। वह कम से कम वस्त्रों का उपयोग करता था तथा जमीन पर शयन करता था। वह तपस्या करके अपने शरीर के प्रति उदासीनता जागृत करता था। इस प्रकार संयम का जीवन आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक था। आत्म-नियंत्रण के साथ-साथ वह दूसरे व्यक्तियों के साथ आत्मीयता का त्याग नहीं करता था। समस्त प्राणियों के प्रति वह दया-भाव रखता था। इसी क्रम में कण्व ऋषि ने शकुन्तला का लालन-पालन किया तथा वाल्मीकि ने सीता का भरण-पोषण तथा लव-कुश का भरण-पोषण किया। वे दोनों उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि वानप्रस्थी अपने परिवार, ग्राम या नगर की सदस्यता से मुक्त होकर भी समाज के प्रति अपने कर्तव्यों से मुक्त नहीं हो पाता था। उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति में ही नहीं मानी जाती थी। इसके लिए उसे समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को भी पूरा करना पड़ता था। जीवन की सादगी, वन की शान्ति और स्वतन्त्रता उसे अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए उचित वातावरण का निर्माण करती थी।

बौधायन धर्मसूत्र में वानप्रस्थ के दो प्रकार बतलाए गए हैं- 'पंचमानक' जो स्वयं भोजन पकाकर खाते थे और अपचमानक जो अपना भोजन नहीं पकाते थे। दूसरा वर्ग केवल शाक और फल खाकर उदर पूर्ति करता जबकि माँस और मिठाई से परहेज करता था। बहुत भूखा होने पर भी खेतों में होने वाले अन्न और फल-फूल नहीं खाता था। वह मृगचर्म या वृक्षों की छाल का सदैव कपड़ों के रूप में प्रयोग करता था। वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता और वृक्ष के नीचे ही निवास करता था। इस आश्रम में भी वह उन पाँच महायज्ञों को करता जो वह गृहस्थाश्रम में करता था। वह अतिथियों को भी उसी भिक्षा में से भोजन कराता था जो वह अपने लिए लाता था। वह अपना अधिकतर समय वेदों, उपनिषदों का स्वाध्याय करने और तप करने में लगाता था जिससे कि उसका शरीर पवित्र हो जाये तथा वह आध्यात्मिक उन्नति कर सके। इस आश्रम में रहकर वह सभी प्राणियों के साथ दया का व्यवहार करता था। मनु के मतानुसार यदि किसी व्यक्ति की वानप्रस्थ आश्रम के कर्त्तव्यों का पालन करते हुए मृत्यु हो जाए तो वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता हैं।

पैरवानस धर्मसूत्र (तीसरी सदी ई.) में वानप्रस्थों के दो भेद बतलाए गए हैं- सपत्नीक और अपत्नीक। इसका अर्थ हैं क इस आश्रम में कुछ व्यक्ति पत्नी सहित भी रहते थे किन्तु वे सांसारिक

बन्धनों से मुक्त रहने के लिए गांव या नगर छोड़कर वन में रहते थे और किसी अनावश्यक वस्तु का संग्रह नहीं करते थे। वे समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए इस आश्रम में भी दैनिक पंचमहायज्ञ करते थे । परन्तु उनका अधिकतर समय स्वाध्याय और मनन में व्यतीत होता था जिससे कि उन्हें आध्यात्मिक शान्ति मिल सके। परन्तु वे समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करते थे और अपने मनन के आधार पर जनता को उपदेश देकर उनको सन्मार्ग बतलाते थे। इस प्रकार इस आश्रम में मनुष्य विशेषतया धर्म और मोक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करता था। उसके लिए अर्थ और काम का आश्रम में काई महत्त्व नहीं था।

5.6.4 सन्यास आश्रम

ऐतरेय ब्राह्मण में आश्रमों का वर्णन मिलता हैं किन्तु इस आश्रम का उसमें स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं। उपनिषद् काल में परिव्राजक या सन्यासी विद्यमान थे । ऐसा प्रतीत होता हैं कि पाणिनि (लगभग 500ई0पू0) के समय से पूर्व ही चार आश्रमों की व्यवस्था पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी।

वानप्रस्थ आश्रम के बाद मनुष्य इस आश्रम में प्रवेश करता था अर्थात् वह इसमें सांसारिक जीवन का पूर्णरूप से त्याग करता था। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकारके अनुसार मनुष्य गृहस्थाश्रम में सीधा बिना वानप्रस्थ आश्रम में रहे भी संन्यासी हो सकता था। संन्यासी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता था। वह किसी पर आश्रित भी नहीं रहता था। उसे दिन में एक बार भिक्षा माँगने का अधिकार था। वह जीवन और मृत्यु से उदासीन रहता था। वह कठोर वचन धैर्यपूर्वक सुनता तथा मोह और घृणा का पूर्णरूपेण त्याग कर देता था। प्रत्येक वस्तु से छुटकारा, उद्देश्य की दृढ़ता, ब्रह्म में आत्मा और उसका चिन्तन करके, वह मुक्ति के परम सुख की कामना करता था। वह (संन्यासी) केवल अपना ही कल्याण नहीं चाहता अपितु वह अपने जीवन के उदाहरण से, और अपनी शिक्षाओं द्वारा समाज की अच्छी वृत्तियों को प्रोत्साहित करता था। जिन व्यक्तियों के पास वह भिक्षार्थ जाता था अपने व्यवहार और शिक्षाओं से वह उनके जीवन को प्रभावित करता था। वह अपनी मानवता से उन सभी व्यक्तियों का मार्गदर्शन करता था जो उसके पास इच्छा से जाते थे। यह वह श्रेष्ठ पुरुष था जिसके समक्ष व्यक्ति स्वतः ही झुक जाता था। सत्य, असत्य, सुख, दुःख इस संसार और परलोक की परवाह न करके वह केवल आत्मा की खोज में लग जाता था। हिन्दुओं का यह दृढ़ विश्वास था कि इस प्रकार उस व्यक्ति के सभी पाप धुल जाते हैं तथा वह जीवन के विविध लक्ष्यों को प्राप्त कर लेता हैं। पांडुरंग वामन काणे ने वानप्रस्थ और सन्यास में प्रमुख रूप से तीन भेद बतलाए हैं-

1.वानप्रस्थी सपत्नीक भी हो सकता था किन्तु सन्यासी सपत्नीक नहीं हो सकता था।

2. वानप्रस्थी यज्ञ की अग्नि रखते थे और यज्ञ करते थे किन्तु संन्यासी अग्नि का त्याग कर देते थे।

3.वानप्रस्थी तपस्वी का जीवन व्यतीत करते थे तथा आहार आदि का क्लेश सहन करते थे किन्तु सन्यासी भूख व प्यास की परवाह न करके केवल परम तत्त्व का चिंतन करने में अपना समय बिताता था। इस आश्रम में संन्यासी केवल मोक्ष की प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करता हैं। इस आश्रम में धर्म और मोक्ष का समन्वय हो जाता हैं। कौटिल्य के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को सभी आश्रमों में सबके साथ अहिंसा का व्यवहार करना चाहिए और सत्य, पवित्रता आदि गुणों का आचरण करना चाहिए तथा ईर्ष्या और निर्दयता से सदैव बचना चाहिए। धैर्य से काम करना चाहिए और दूसरे के अच्छे गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए।

अभ्यास प्रश्न -

1. चीन का वर्ग कितने और कौन-कौन-से थे ?

2 ईरान के वर्णो के नाम बताईए।

3. यूरोप का वर्ण विभाजन बताईए।
4. ऋग्वेद कालीन समाज में मुख्य वर्गो का नाम बताइये।
5. वर्ण का शाब्दिक अर्थ क्या हैं ?
6. क्षत्रिय का क्या कर्तव्य होता हैं ?
7. वैश्य के लिए शास्त्र में कौन-से कार्य निर्धारित हैं ?
8. शूद्र का कार्य क्या हैं ?

5.7 सारांश

आवश्यकता ही आविष्कार की जननी हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि विराटपुरुष के इच्छारूप आवश्यकता से वर्णो की उत्पति हुई तथा वर्णोत्पति उपरांत उन्हीं वर्णों को सुपरिचालित करने हेतु पथप्रदर्शक रूप आश्रम व्यवस्था का आविष्कार करना पड़ा। इसी क्रम में भारतीयों के सामाजिक संघटन के आधार स्तंभ के रूप में दो सुदृढ़ स्तम्भों की सृष्टि की गई जो कि आश्रम तथा वर्ण व्यवस्था के नाम से विदित हैं। वर्णव्यवस्था का मुख्य उद्देश्य हर एक प्राणी की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति से है जबके वर्णव्यवस्था का उद्देश्य प्रत्येक प्राणी को समाज के लिए उपयोगी बनाना था। ये दोनों व्यवस्थाएँ भारतीय दर्शन पर आधारित थीं। आस्तिक हिन्दु और की धारणा हैं कि सृष्टि के आरम्भ में एक ईश्व र था जिससे सभी जीवों की उत्पत्ति हुई। प्राणी यदि ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करे तो वह ईश्वर के निकट पहुँच सकता हैं। वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा के वशीभूत व्यक्ति प्राणियों के प्रति उचित कर्तव्यों का निर्वहन करता है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था के द्वारा अपने सभी कर्तव्यों की पूर्ति करके मनुष्य अमरत्व या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जीवन के इस लक्ष्य की पूर्ति उन चारों पुरुषार्थों में होती है जो मानव समाज में रहकर ही किये जा सकते हैं। इस प्रकार चारों पुरुषार्थों को हम आश्रम का मनोवैज्ञानिक और नैतिक आधार मान सकते हैं। प्रत्येक भारतीय पहले अपने और ततपश्चात् विश्व की आत्मा के सम्बन्धों के बारे में निश्चय करता हैं। उसके ये सम्बन्ध गांव या देश तक ही सीमित नहीं रहते अपितु चर ओर अचर सृष्टि तक को अपने क्षेत्र में सम्मिलित कर लेने का उपक्रम करते हैं। प्रत्येक मानव के लिए उसका आत्मसंयम ही पाठशाला हैं। इस पाठशाला में अध्ययन के चार स्तर हैं जो आश्रम कहलाते हैं। ये चार आश्रम मनुष्य के उन कर्त्तव्यों की पूर्ति पर आधारित हैं जो अपने जीवन के लक्ष्य की ओर ले जाने में सहायक हो सकते हैं। ये कर्त्तव्य ही उसका धर्म हैं। कर्म करके मानव अपने धर्म का पालन कर सकता है। अतः इन चारों आश्रमों के धर्म के कर्त्तव्य हैं जो प्रत्येक मानव को आश्रम विशेष में करने चाहिए।

5.8 शब्दाशवली

शाब्द अर्थ

5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- चीन में चार वर्ग माने जाते थे, 1. शिक्षित वर्ग 2. किसान वर्ग 3. शिल्पी वर्ग 4. व्यापारी वर्ग
2- अथर्व, रथेष्ठ, वस्त्रोफसुयन्त, हुईति।
3- नोविल, क्लर्जी, फ्री फार्मर, सर्फ।
4- आर्य वर्ग, दास वर्ग।
5- वर्ण शब्द से रंग, चरित्र, स्वभाव और गुण लिया जाता हैं।
6- मनुष्य मात्र की रक्षा करना ही क्षत्रिय का कर्तव्य हैं।

7- वैश्य के लिए शास्त्र में मनुष्यों को भरण-पोषण (भोजन) का दायित्व निर्धारित हैं।

8:- ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यो तीनों वर्गों का सेवा करना ही शूद्र का कार्य हैं।

5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.भारतीय संस्कृति, लोकमणि दाहाल,चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन,वाराणसी

2. ऐतरेय ब्राह्मण, चौखम्भा वाराणसी

3.शतपथ ब्राह्मण, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

4.मनुस्मृति, महर्षि मनु,चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

5. हिन्दू धर्मकोश ,चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

6.महाभारत, व्यासजी, चौखम्भा पब्लिकेशंस वाराणसी

5.11 उपयोगी पुस्तकें

1.भगवत गीता, व्यासजी, गीता प्रेस गोरखपुर

2.भारतस्य सांस्कृतिक निधि, श्रीरामजी उपाध्याय, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

3.ताण्ड्य ब्राह्मण, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

4.भारतीय इतिहास, कालूराम शर्मा, जयपुर

5.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. 600 ईसा पूर्व से 300 ईसा पूर्व तक का वर्ण व्यवस्था का वर्णन कीजिए ?

2. गुप्तोतरकाल की वर्ण व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

3. ब्रह्मचार्य आश्रम का वर्णन कीजिए।

4. गृहस्थाश्रम व वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन कीजिए।